ज्ञानपीठ लोकोदय ग्रन्थमाला, हिन्दी ग्रन्थाङ्क—४

पाश्चात्य तर्कशास्त्र

[पहिला भाग]

निगमन (Deductive) विधि

लेखक
भिक्षु जगदीश काश्यप, एम० ए०
पालि-अध्यापक
हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी

भारतीय ज्ञानपीठ
काशी

ग्रन्थमाला सम्पादक और नियामक
श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, एम० ए०

प्रथम सस्करण
एक हजार

श्रावण, वीर निर्वाण
सम्वत् २४७३
अगस्त १९४७

मूल्य
चार रुपए आठ आने

प्रकाशक
श्री अयोध्याप्रसाद गोयलीय
मन्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ
दुर्गाकुण्ड रोड, बनारस

मुद्रक
जे० के० शर्मा
इलाहाबाद लॉ जर्नल प्रेस
इलाहाबाद

अपने गुरुवर

डा० भीखन लाल आत्रेय

अध्यक्ष, दर्शन विभाग,

हिन्दू-विश्वविद्यालय,

काशी

को सप्रेम समर्पित

प्रकाशकीय

जैन, बौद्ध, वैदिक—भारतीय सस्कृतिकी इन प्रमुख धाराओका अवगाहन किये बिना अपनी आर्यपरम्पराका ऐतिहासिक विकास-क्रम हम जान ही नही सकते। सभ्यताकी इन्ही तीन सरिताओकी त्रिवेणीका सङ्गम हमारा वास्तविक तीर्थराज होगा। और, ज्ञानपीठके साधकोका अनवरत यही प्रयत्न रहेगा कि हमारी मुक्तिका महा मन्दिर त्रिवेणीके उसी सङ्गम पर बने; उसी सङ्गम पर महा मानवकी प्राण प्रतिष्ठा हो।

लुप्त ग्रन्थोका उद्धार; अलभ्य और आवश्यक ग्रन्थोका सुलभीकरण; प्राकृत अपभ्रश, सस्कृत, कन्नड और तामिलके जैन वाङ्मयका मूल और यथा सम्भव अनुवाद रूपमे प्रकाशन; त्रिपिटक (पाली)की पुस्तकोंका नागरी लिपिमे प्रकाशन, ऐसे कार्योंमे ज्ञानपीठ लगा हुआ ही है, और आगे भी लगा रहेगा ही। इन कार्योंके अतिरिक्त सर्वसाधारणके लाभके लिए ज्ञानपीठने 'लोकोदय ग्रन्थमाला'का आरम्भ किया है। इस ग्रन्थमालाके अन्तर्गत हिन्दीमे सरल सुलभ सुरुचिपूर्ण पुस्तके प्रकाशित की जायेगी। जीवनके स्तरको ऊँचाई पर ले जाने वाली कृतिके किसी भी रचयिताको ज्ञानपीठ प्रोत्साहित करेगा, वह केवल नामगत प्रसिद्धिके पीछे नही पड़ेगा। कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, इतिहास—पुस्तक चाहे किसी भी परिधिकी हो परन्तु हो लोकोदयकारिणी।

प्रस्तुत पुस्तक 'पाश्चात्य तर्कशास्त्र' का प्रकाशन करके ज्ञानपीठ दर्शन, मनोविज्ञान आदि गम्भीर विषयोकी पाठ्य पुस्तकोकी कमीकी पूर्ति-का प्रयत्न कर रहा है। हमे पूरी आशा है कि अपने विषयमे राष्ट्रभाषाको शिक्षाका माध्यम स्थापित करनेमे यह पुस्तक पूर्णत सफल होगी।

इसके लेखक भिक्षु काश्यप जी अपने विषयके प्रगाढ पण्डित और सफल अध्यापक है। पाश्चात्य तर्कशास्त्रके गम्भीर विषयोको इतनी सरलतासे हिन्दीमे लिखकर इन्होने एक नया मार्ग प्रदर्शित किया है। ज्ञानपीठ भिक्षुजीकी इस सेवाका आभार मानता है।

डालमिया नगर
१३-७-४७

लक्ष्मीचन्द्र जैन
ग्रन्थमाला सम्पादक

दो शब्द

यह पुस्तक हमने इस विचार से लिखने का प्रयत्न किया है कि आई० ए० क्लासों मे लॉजिक पढाने के लिए यह हिन्दी का माध्यम स्थापित कर सके। आई० ए० परीक्षा के लिए लॉजिक का प्राय: जो पाठ्यक्रम निश्चित किया जाता है उसके अनुकूल ही यह हो, इसका सदा ध्यान रक्खा है। कुछ आवश्यक विषयो पर अतिरिक्त विचार करने के हेतु उनके परिशिष्ट अन्त मे दे दिए हैं। पारिभाषिक शब्दों के अगरेजी रूप उन्ही पृष्टो पर नीचे दे दिए है, जिससे विद्यार्थियो को हिन्दी के साथ साथ अगरेजी का भी अभ्यास होता जाय। विषय, क्रम, उदाहरण, उपमा, शैली आदि सभी प्रकार से यह पुस्तक अपने अगग्रेजी सस्करणो का प्रतिरूप है। पुस्तक के अन्त मे एक परिशिष्ट 'प्रश्नावली' का दे दिया है जिस मे परीक्षोपयोगी प्रश्नो का सकलन—हिन्दी और अगरेजी दोनो मे—कर दिया है, जिससे अगरेजी के प्रश्नपत्र को विद्यार्थी झट समझ ले और हिन्दी मे उत्तर लिख सके।

मुझे विश्वास है कि यदि अधिकारी वर्गो की स्वीकृति हुई, और अध्यापक वर्गो का सहयोग हुआ, तो यह पुस्तक इस विषय के शिक्षण मे हिन्दी का माध्यम स्थापित करने मे सफल हो सकेगी। हिन्दी के पारिभाषिक शब्द कदाचित् प्रारम्भ मे वैसे न जचे जैसे अगरेजी के, किन्तु एक बार व्यवहार मे आने के बाद वे ही अधिक सरल, सुबोध और स्वाभाविक प्रतीत होने लगेगे।

× × ×

मेरे विद्वान मित्र प्रोफेसर प० दलसुख भाई मालवणिया ने पुस्तक लिखने मे बड़ी सहायता दी है। विश्वविद्यालय के दर्शनाध्यापक सुहृद्वर

मूर्ति जी भी समय समय पर बहुमूल्य सम्मति देते रहे। उनके प्रति मैं अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रगट करता हूँ।

मेरे शिष्य उपासक अवध किशोर नारायण ने पुस्तक के सारे चित्र तैयार किए हैं। श्री मार्कण्डेय शुक्ल ने अनुक्रमणी बनाई है। इसके लिए उन्हें अनेक धन्यवाद।

बुद्धकुटी,
हिन्दू विश्व विद्यालय,
बनारस
८ ५ ४७

भिक्षु जगदीश काश्यप
पालि अध्यापक

पाश्चात्य तर्कशास्त्र

पहिला अध्याय

परिचय-प्रकरण

दूसरा अध्याय

पद-प्रकरण

तीसरा अध्याय

लक्षण प्रकरण

चौथा अध्याय

विभाग-प्रकरण

पाँचवाँ अध्याय

वाक्य-प्रकरण

पहला भाग

(वाक्य का रूप)

छठा अध्याय

वाक्य प्रकरण

दूसरा भाग

(वाक्य के प्रकार)

सातवाँ अध्याय

वाक्य-प्रकरण

तीसरा भाग

(वाक्य मे पदों के विस्तार)

आठवाँ अध्याय

अनुमान प्रकरण

निगमन-विधि

पहला भाग

अनन्तरानुमान

नवाँ अध्याय

अनुमान प्रकरण

निगमन-विधि

दूसरा भाग

परंपरानुमान

न्याय वाक्य

(क शुद्ध)

निगमन-विधि

दूसरा भाग

(परंपरानुमान)

न्यायवाक्य

(ख. मिश्र)

पृ०

निगमन-विधि

दूसरा भाग

(परपरानुमान)

न्यायवाक्य

(ग सक्षिप्त)

न्यायवाक्य

(घ युक्ति माला)

न्यायवाक्य

(ङ. संक्षिप्त युक्तिमाला)

१. परिशिष्ट

विचार की मर्यादा

२. परिशिष्ट

३. परिशिष्ट

४. परिशिष्ट

अनन्तरानुमान

५. परिशिष्ट

६. परिशिष्ट

७. परिशिष्ट

पाश्चात्य तर्कशास्त्र

पहिला अध्याय

परिचय-प्रकरण

§ १—विषय-प्रवेश

पाश्चात्य तर्कशास्त्र का आदि प्रणेता प्रसिद्ध ग्रीक दार्शनिक अरस्तू (Aristotle) माना जाता है, जिसका काल चौथी शताब्दी ईसा पूर्व है। ग्रीक भाषा मे तर्कशास्त्र को 'लॉजिक' (Logic) कहते है। इसकी व्युत्पत्ति 'लोगस' शब्द से है, जिसका अर्थ है 'वाणी' और 'विचार'। 'लॉजिक' शब्द का इस तरह द्व्यर्थक होना बडा सार्थक है, क्योकि इस शास्त्र का मुख्य उद्देश्य न्यायसगत 'वाणी' और 'विचार' का अध्ययन करना है, जिससे हम असत्य से बच कर सत्य का लाभ कर सके।

शास्त्र का क्षेत्र

वनस्पतिशास्त्र, रसायनशास्त्र, वैद्यकशास्त्र आदि जितने शास्त्र है सभी के क्षेत्र अपने अपने भिन्न है। वनस्पतिशास्त्र वनस्पतिजगत का अध्ययन करके यह समझने की कोशिश करता है कि उसकी व्यवस्था मे कौन-कौन से सिद्धान्त काम कर रहे है। इसी तरह, दूसरे शास्त्र भी अपने अपने क्षेत्र की व्यवस्था को अधिक से अधिक जानना चाहते है।

बहुत निरीक्षण और परीक्षा करने के वाद हम एक सिद्धान्त बनाते है कि इस क्षेत्र मे ऐसी-ऐसी अवस्थाओ मे ऐसे परिणाम होते है। अमुक

रासायनिक द्रव्यो के अमुक अनुपात मे सम्मिश्रण होने से अमुक गैस पैदा होते है, अमुक अमुक कुपथ्य होने से अमुक रोग होते है, इत्यादि। किंतु वहुधा ऐसा भी होता है कि एक सिद्धान्त स्थापित हो चुकने के वाद आगे चल कर ऐसे उदाहरण उपस्थित होते है जो उस सिद्धान्त के विरुद्ध ठहरते है, और वह सिद्धान्त दूपित ठहरता है। तव, इन नये उदाहरणो की दृष्टि से उस सिद्धान्त में फिर सशोधन करना होता है। वहुत दिनो तक ज्योतिष-शास्त्र यह सिद्धान्त मानता रहा कि सौर्यमण्डल का केन्द्र पृथ्वी है, और सूर्य पृथ्वी के चारो ओर घूमता है। फिर, वाद मे यह सिद्ध हुआ कि सौर्य-मण्डल का केन्द्र पृथ्वी नही किंतु सूर्य है। इसी भाति प्रत्येक शास्त्र मे अनेक उदाहरण मिलेगे कि सिद्धान्त स्थापित हो जाने के वाद भी आगे चल कर वे खण्डित हो जाते है। ज्ञान-विज्ञान के विकास का यही मार्ग है।

यदि इसे देख कर कोई यह कहे कि 'इन शास्त्रो का क्या विश्वास जो कभी कुछ कहते है और फिर वदल कर कभी कुछ' तो यह पण्डिताई की वात नही होगी। मनुष्य अत्यन्त अल्प प्राणी है। प्रकृति की गहन जटिल समस्याओ को समझने में यदि उसे वार वार गिरना पडे तो इसमें क्या आश्चर्य है! इतना तो अवश्य है कि प्रत्येक वार गिर कर वह कुछ न कुछ सीखता ही है, और सत्य से निकटतर से निकटतम होता है। इसी प्रेरणा से अग्रसर होते ससार के जितने शास्त्र है इस विकास को प्राप्त हुए है।

हा, तो प्रस्तुत प्रश्न यह कि 'तर्कशास्त्र' का अपना विपय क्या है? ससार के किस क्षेत्र की व्यवस्था को 'तर्कशास्त्र' अध्ययन करता है?

तर्कशास्त्र "शास्त्रो का शास्त्र"[1] कहा गया है। इसका अर्थ यह नहीं कि तर्कशास्त्र जितने भी शास्त्र है सभी के विपयो को एक साथ अध्ययन करना चाहता है। शायद यह सम्भव भी नही है। इसको

---

[1] The Science of Sciences.

'शास्त्रो का शास्त्र' इसलिये कहा है कि यह उन सामान्य सिद्धान्तों का अध्ययन करता है जिनसे सभी शास्त्रों की विचार-पद्धति व्यवस्थित है। शास्त्रो के विषय अलग अलग होने पर भी उनके विचार करने की पद्धति समान सिद्धान्तो पर ही आश्रित है, जो विचार-व्यवस्था की मर्यादा का अतिक्रमण नही कर सकती। हमे किसी विशेष शास्त्र का ज्ञान भले ही कुछ न हो, किंतु जिन तर्कों से वह एक बात का प्रतिपादन करता है वह न्यायसंगत है या नही इसकी हम अवश्य परीक्षा कर सकते है। विषय भिन्न भिन्न होने पर भी हमारे विचार की साधारण सरणी भिन्न नही होती। उसी साधारण सरणी के स्वरूप और मर्यादा का अध्ययन करना तर्कशास्त्र का अपना विषय है। जब कभी मनुष्य उन मर्यादाओ का, जान या अनजान, उल्लघन कर देता है तो उसके निष्कर्ष झूठे उतरते है। मानव-इतिहास के प्रत्येक क्षेत्र से ऐसे उदाहरणों का संग्रह कर सकते है जो यह दिखाते है कि किस प्रकार विचार-संकलन के अयुक्त होने के कारण अनर्थ परिणाम हुए है। वैद्य के विचार मे भूल हो जाने से रोगी का प्राणान्त हो जाता है; कप्तान के विचार मे भूल होने से सारा जहाज संकटापन्न हो जाता है, इत्यादि। तर्कशास्त्र इन उदाहरणो का अध्ययन करता है और समझना चाहता है कि समजस व्यवस्थित विचार के नियम क्या है, जिनका पालन करना सत्य-समाधान के लिये आवश्यक है, और जिनका उल्लघन होने से कुपरिणाम होते है। ऐसे उदाहरण वनस्पतिशास्त्र, रसायनशास्त्र, भूगर्भशास्त्र, प्राणी-शास्त्र, अथवा किसी भी शास्त्र के विचारको के विचार से लिये जा सकते है। इसी कारण 'तर्कशास्त्र' को 'शास्त्रो का शास्त्र' कहते है।

रूपविषयक शास्त्र

तब, कह सकते है कि तर्कशास्त्र के अपने अध्ययन का विषय 'विचार' है। 'विचार' का विषय क्या है इससे तर्कशास्त्र का सीधा सम्बन्ध नही।

इस अर्थ में तर्कशास्त्र अंकगणित के प्रकार का है। अंकों का हिसाब लगा देना भर गणित का काम है। उसे इसकी परवाह नहीं कि दो और दो मिल कर जो चार हुए वे बैल थे, या लड़के, या मिट्टी की गोलियां। चाहे विषय कुछ भी क्यों न हो, गणित का यह रूप कि '२+२=४' सभी जगह समान रूप से सत्य है। उसी तरह, तर्कशास्त्र 'विचार' के उन रूपों का पता लगाता है जो, जिनके विषय चाहे कुछ भी क्यों न हों, सर्वथा सत्य न्यायसंगत निष्कर्ष दें। इसी कारण 'तर्कशास्त्र' बहुधा 'रूप-विषयक' (Formal) शास्त्र कहा जाता है।

किंतु 'विचार' के 'रूप' को उसके 'विषय' से सर्वथा पृथक् कर अध्ययन करना कहां तक संभव है यह एक परीक्षणीय बात है। इसकी परीक्षा हम आगे चल कर करेंगे कि तर्कशास्त्र कहां तक 'रूप-विषयक' है और कहां तक 'विषय-विषयक'।[1]

§ २—विचार[2]

तर्कशास्त्र के अध्ययन का विषय है 'विचार'। तो जानना चाहिये कि 'विचार' क्या है।

सामने से हो कर एक चौपाया जानवर गुजरता है। उसे देख कर अंग-प्रत्यंगों सहित उसे हम स्पष्ट जान लेते हैं, और बाहर उसकी वास्तविक स्थिति का अनुभव करते हैं। उसके चले जाने पर मन में उसका एक प्रतिबिम्ब सा रह जाता है, जो कालान्तर में धुंधला हो जाता है। फिर भी, उसी तरह का एक दूसरा जानवर आता है, जो बहुत बातों में पहले से भिन्न होने पर भी वैसा ही है। इसके भी चले जाने पर इसका भी प्रतिबिम्ब मन में पहले प्रतिबिम्ब के साथ मिल जाता है। ऐसे पुनरावर्तन का फल यह होता है कि उन जानवरों में कुछ साधारण गुणों को ले कर

[1] देखो पृ० ८, १७-१८.

[2] Thought.

हम एक 'सकेत' बना लेते है कि ऐसे जानवरो को इन सकेतो से पहचानेगे, और दूसरे जानवरो को इनसे अलग करेगे। इसी प्रकार ससार की सभी चीजो का 'सकेत' हम मन मे बनाते रहते है। और, उनके लिये पृथक् पृथक् नाम दे देते है। अभ्यास के कारण 'सकेतो' का स्मरण होते उनके नामो का, और उन नामो का स्मरण होते उन 'सकेतो' का उद्बोध हो जाता है। वे दूध-पानी की तरह इतना मिल जाते है कि एक को दूसरे के बिना ग्रहण करना असम्भव हो जाता है।

इन सकेतो का, अथवा नामो का, सब से बडा उपयोग यह है कि इनके सहारे (१) अवस्थाये बदल जाने पर भी हम किसी वस्तु को वही है करके पहचान लेते है, और (२) भिन्न व्यक्तियो को देख कर उनके एक जाति का होना जान लेते है।

एक बच्चा युवा होने पर बिलकुल बदल जाता है, और वृद्ध होने पर और भी बदल जाता है। किंतु उसका जो 'सकेत' पकड़ लिया है, और उसे यज्ञदत्त या ब्रह्मदत्त जो नाम दे दिया है वह हमे उसे सभी अवस्थाओं मे 'वही' करके पहचानने मे सहायक होता है। उसी तरह, एक कुत्ता के दूसरे कुत्ते से रूप-रग-आकार आदि अनेक प्रकार से अत्यन्त भिन्न होने पर भी, पूर्व मे ग्रहण कर लिये 'सकेत' के आधार पर, उसे एक ही जाति का होना समझ लेते है।

इन्ही 'नाम-सपृक्त सकेतो' से हमारे विचारो का निर्माण होता है। इन सकेतो को 'कल्पना'[1] कहते है। ससार मे जितनी चीजे है, उनमे परस्पर जो सम्बन्ध है, अथवा प्रकृति के भिन्न-भिन्न क्षेत्रो मे जो व्यवस्था चल रही है, सभी का प्रतिरूप हम अपने विचार मे 'कल्पना' की भाषा मे उतार लेने का प्रयत्न करते है। सूर्य क्या है, ग्रह क्या है, उपग्रह क्या है, एक दूसरे पर क्या प्रभाव डालता है, इत्यादि सारे सौरमण्डल की व्यवस्था

---

[1] कल्पना=प्रत्यय

को ज्योतिषशास्त्र विचार मे तद्रूप 'कल्पनाओ' की व्यवस्था कर लेता है। दूसरे सभी शास्त्र अपने अपने क्षेत्र मे यही बात करते है। 'कल्पनाओ का निर्मित यह विचार' कोई स्थायी चीज नही है, किंतु नये नये अनुभवो के साथ इसमे विकास होता रहता है। वस्तुस्थिति के अनुकूल रखने के लिये हम अपनी कल्पना मे तथा विचार-व्यवस्था में निरन्तर सशोधन करने को तैयार रहते है, जिसमे ही उसकी सार्थकता है। वस्तुस्थिति मे असम्बद्ध स्वच्छन्द विचार को 'निराधार कल्पना की उडान' कहते है। तर्कशास्त्र मे ऐसे विचार का कोई स्थान नही है। 'कल्पनाये' जितनी अधिक साधार होगी विचार उतना ही अधिक प्रामाणिक होगा। तर्कशास्त्र ऐसे ही विचार का अध्ययन करता है।

§ ३—तीन वाद

ऊपर देख चुके है कि वस्तुओ को पहचानने के लिये, तथा उन्हे दूसरो से अलग करने के लिये, उनके सामान्य-साधारण गुणो को ले कर हम मन मे उनके 'सकेत' बना लेते है, और उन 'सकेतो' के अपने अपने नाम दे कर उन्हे स्थिर कर लेते है। फिर उस वस्तु की उपस्थिति या अनुपस्थिति मे उन्हे उन्ही नामो से याद करते है।

कुछ दार्शनिको ने यहा प्रश्न उठाया है कि, तर्कशास्त्र का सीधा सम्बन्ध किस से है ? तर्कशास्त्र क्या वस्तुओ के स्वरूप तथा उनके परस्पर सम्बन्धो का अध्ययन करता है, अथवा विचारो के स्वरूप तथा उनके परस्पर सम्बन्धो का, अथवा उन्हे व्यक्त करने वाले नामो के स्वरूप तथा उनके परस्पर सम्बन्धो का ?

(१) वस्तुवाद[1]

कुछ दार्शनिक पहली अवस्था का प्रतिपादन करते है। इनका कहना

---

[1] Realism.

है कि तर्कशास्त्र का सीधा सम्बन्ध वस्तुस्थिति से है। अवास्तविक विचारों तथा शाब्दिक नामों से क्या !! तर्कशास्त्र के नियम वास्तविक प्रकृति के नियम पर ही आश्रित होने चाहिये। तर्क करके हम जिस निष्कर्ष पर पहुँचते है वह यदि वास्तविक सत्य से भिन्न हुआ तो उसकी प्रामाणिकता कहा रही ! इस वाद का पोषक दार्शनिक स्पेन्सर तर्कशास्त्र की परिभाषा करते हुए कहता है—"यह वह शास्त्र है जो सच्ची वस्तुओं के परस्पर सम्वन्ध के परम सामान्य सिद्धान्तो का प्रतिपादन करता है।"[१] इस वाद को **वस्तुवाद,**[२] या **यथार्थवाद,**[३] या **विषयवाद**[४] कहते है, क्योंकि इसके अनुसार तर्कशास्त्र का सीधा सम्बन्ध विचार के विषय यथार्थ वस्तु से ही है।

(२) कल्पनावाद[५]

हैमिल्टन, मैन्सल प्रभृति दूसरे दार्शनिको का उक्त वाद के विरुद्ध कहना है कि यदि तर्कशास्त्र का सीधा सम्बन्ध वस्तु-विषय के साथ हो तो तर्कशास्त्र मे वनस्पतिशास्त्र, रसायनशास्त्र आदि सभी शास्त्रो का समावेश हो जायगा। यह तो किसी प्रकार सम्भव नहीं है। अत. तर्कशास्त्र का सीधा सम्बन्ध 'विचार' के अन्त-सामजस्य से ही हो सकता है। 'विचार' का विषय क्या है यह तर्कशास्त्र के लिये गौण बात है। तर्कशास्त्र तो यही अध्ययन करेगा कि किन दोषो के कारण एक विचार के भीतर असगति उत्पन्न हो जाती है, तथा उसका किस प्रकार निवारण

---

[१] "Logic is the science which formulates the most general laws of correlation among existences considered as objective."

[२] Objective view. [३] Realistic view.

[४] Material view. [५] Conceptualism.

करके संगत और समंजस विचार प्राप्त किया जाय। उदाहरणार्थ—यदि हम इस युक्ति का प्रयोग करें कि—

सभी मनुष्य अमर हैं,
मैं मनुष्य हूँ,
∴ मैं अमर हूँ—

तो तर्कशास्त्र को कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये। यथार्थ में सभी मनुष्य अमर हैं या नहीं इसकी परीक्षा करना तर्कशास्त्र का काम नहीं है। तर्कशास्त्र को तो केवल इसकी परीक्षा करनी है कि इतनी बात से कि "सभी मनुष्य अमर हैं, और मैं मनुष्य हूँ" यह निष्कर्ष निकालना कि "मैं अमर हूँ" न्यायसंगत है या नहीं। इस विचार के भीतर कोई असंगति है या नहीं? यदि नहीं तो यह 'युक्ति-प्रयोग' बिल्कुल ठीक है, भले ही वस्तुस्थिति इसके विरुद्ध हो। अर्थात्, इस वाद के अनुसार तर्कशास्त्र 'विचार' के केवल 'रूप' की सचाई देखता है, उसके 'विषय' की नहीं। इसी बात को साधारणतः इस तरह व्यक्त करते हैं कि तर्कशास्त्र 'रूपविषयक' शास्त्र है, 'विषय-विषयक' नहीं।

अतः हैमिल्टन तर्कशास्त्र की परिभाषा यों करते हैं—"तर्कशास्त्र विचारों के अपने नियमों का शास्त्र है, अथवा विचार के रूप-विषयक नियमों का शास्त्र है।"[1] इस वाद को विचार-वाद, कल्पनावाद या रूपविषयकवाद कहते हैं।

(३) नामवाद[2]

मद्सले प्रभृति कुछ दूसरे दार्शनिकों का कहना है कि तर्कशास्त्र का सीधा सम्बन्ध उचित और सम्बद्ध शब्द तथा भाषा के प्रयोग से है,

---

[1] "The science of the laws of thought as thought, or the science of the formal laws of thought."

[2] Nominalism.

क्योकि जो वस्तु या विचार भाषा मे व्यक्त नही किये गये है उनसे तर्कशास्त्र का कोई प्रयोजन नही। तर्क-शास्त्र को वस्तु या विचार का परिचय भी न मिले यदि उन्हे व्यक्त करने वाली भापा का उपयोग न किया गया हो। अतः, इस वाद के अनुसार तर्कशास्त्र 'पद', 'वाक्य' तथा युक्तियो के उचित प्रयोग का शास्त्र है।

इस वाद को **भाषावाद या नामवाद** कहते है।

* * * *

ये तीनो वाद अशत. सत्य है। पूर्ण सत्य तो तीनो के समन्वय से ही प्राप्त होगा। **तर्कशास्त्र का सम्बन्ध 'भाषा' के उचित प्रयोग से अवश्य है, किंतु उतनी ही दूर तक जितनी दूर वह उस 'विचार' का व्यञ्जक है जिसका 'वस्तु' के साथ संवाद है।** विचारशून्य भाषा से कोई प्रयोजन नही। और वह विचार भी निरर्थक है जिसका वस्तु के साथ सवाद नही। तर्कशास्त्र का तो आदर्श वास्तविक सचाई से पूर्ण विचार को उचित भाषा मे व्यक्त करला है। हां, आगे चल कर हम देखेगे कि 'निगमन विधि'[१] मे विचार के 'रूप'[२] की प्रधानता है, और 'व्याप्ति विधि'[३] में विचार के 'विषय'[४] की। किंतु पूरा अनुमान दोनो विधियो के मिलने से ही होता है, अत. यथार्थ 'सत्य' तो वही है जो 'रूप' और 'विषय' दोनो तरह से सच्चा है।

§ ४—विचार और भाषा

सभी प्राणियो मे राग-द्वेष, प्रेम, क्रोध आदि भाव उत्पन्न होते है, और वे उन भावो को प्रगट करने के लिये मुह से कुछ ध्वनि निकालते है, अथवा हाथ-पैर से कुछ सकेत करते है। मनुष्य जाति भी जब विकास

---

[१] Deduction. [२] Form. [३] Induction.
[४] Matter.

की प्रारम्भिक अवस्था मे थी तब ऐसे ही कुछ ध्वनियो और सकेतो से एक दूसरे पर अपना विचार प्रगट करती थी। कालान्तर मे उस जाति के विकास के साथ साथ उसकी वृद्धि और भाषा का विकास हुआ। देश, अवस्थाये, वश आदि मे भिन्नता होने के कारण अनेकानेक भाषाओ की उत्पत्ति हुई। भाषाओ की शब्दावली तथा रचनाशैली मे बराबर विकास होता गया। जैसे नये नये ज्ञान-विज्ञानो का आविष्कार हुआ, भाषा मे उनको व्यक्त करने के लिये नये नये शब्द गढे गये। [1]शब्द मे स्वय ऐसी कोई शक्ति नही है कि वह किसी विशेष अर्थ का ही बोधक हो। अमुक शब्द में अमुक अर्थ का आना तो मनुष्यो के अपने व्यवहार की रूढि है। एक ही शब्द भिन्न भिन्न भाषाओ में भिन्न भिन्न अर्थों में भी रूढ हो जाता है। "उदाहरण के लिए सीधा-सीधा 'पास' शब्द लीजिए। हम हिन्दी वाले इसका अर्थ 'निकट', 'समीप' या 'नजदीक' समझते है। पुरानी हिन्दी मे इसका अर्थ 'ओर' या 'तरफ' होता था। अब वह 'अधिकार या कब्जे मे' के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। परन्तु भारत के समीपवर्ती फारस देश की फारसी भाषा मे इसी शब्द का अर्थ होता है—(क) लिहाज या खयाल, (ख) तरफदारी या पक्षपात और (ग) पहरा-चौकी आदि। अँगरेजी मे इसके अर्थ होते है—(क) उत्तीर्ण, (ख) दर्रा या खाडी और (ग) गुजरना या बीतना आदि। ससार की अन्यान्य भाषाओ मे इसके न जाने और क्या-क्या अर्थ होते होगे। इससे यह सिद्ध होता है कि स्वय 'पास' शब्द मे कोई ऐसी विशेषता नही है, जिससे उसका कोई अर्थ सूचित हो। अलग-अलग देशो के निवासियो ने उसके अलग-अलग अर्थ मान रखे है।"

एक ही 'विचार' भिन्न-भिन्न भाषाओ मे भिन्न-भिन्न शब्दावलियो में भिन्न-भिन्न रचना-शैली मे प्रकट किया जा सकता है। अत 'विचार'

---

[1]रामचन्द्र वर्मा—अच्छी हिन्दी, पृ० ३.

का किसी खास भाषा से अविनाभाव का सम्बन्ध नही है। किंतु हां, यह एक विचारणीय प्रश्न है कि क्या 'विचार' बिना किसी भाषा के रह सकता है। हम लोग जब कुछ विचार करते है तब यथार्थ में अपने मन ही मन बात करते अपने को पाते है। साधारणत. बच्चे, और कभी-कभी बडे भी, एकान्त मे बोल-बोल कर विचार किया करते है। बिना मन मे शब्द लाए हम कोई विचार कर सकते है इसकी कल्पना करना भी कठिन प्रतीत होता है—चाहे वह शब्द हिन्दी का हो, या अंगरेजी का, या सस्कृत का या किसी भी भाषा का।

इसके विरुद्ध, कुछ का कहना है कि 'विचार' के लिये भाषा अनिवार्य नहीं है। पशु, छोटे बच्चे, या गूगे विचार तो अवश्य करते है, किंतु उन्हें कोई भाषा नही है। कभी-कभी हमी लोगो के मन मे ऐसा विचार उठता है जिसके लिए शब्द नही मिलते। खोज करने के बाद उसके व्यञ्जक शब्द मिलते है।

'विचार' भाषा के बिना रह सकता है या नही यह विवाद तर्कशास्त्र का विषय नही ह। हा, तर्कशास्त्र उन्ही विचारों का अध्ययन करता है जो भाषा मे व्यक्त किये जाते है—पशु-पक्षियो की ची-ची मे-मे की भाषा मे नही, बच्चे या गूगे को अस्पष्ट ध्वनियो की भाषा मे नही, किंतु मनुष्य की गढी-गढाई गठित भाषा में। तर्कशास्त्र के लिए भाषा का जो महत्व है वह भापा की दृष्टि से नही, किंतु यथार्थ 'विचार' के व्यञ्जक होने की दृष्टि से। यही तर्कशास्त्र और व्याकरण की दिशाये अलग हो जाती है। भाषा की बाह्य रचना व्याकरण का विषय है, और भाषा का आभ्यन्तरिक विचार तर्कशास्त्र का। भाषा और विचार मे अत्यन्त घनिष्ट सम्बन्ध होने के कारण व्याकरण विचार की तथा तर्कशास्त्र भाषा-रचना की एकदम उपेक्षा नही कर सकता। किंतु व्याकरण की अशुद्धि से तर्कशास्त्र को, और तर्क-शास्त्र की अशुद्धि से व्याकरण को कोई विशेष खतरा नही है। हा, तर्कशास्त्र

व्याकरण की उन अशुद्धियों से अवश्य बचेगा जिनसे अर्थ पर आघात आता हो।

भाषा के प्रयोग कभी-कभी अत्यन्त भ्रामक होते हैं। यह जानते हुए भी कि सूर्य अपने स्थान पर ही रहता है और यह कि पृथ्वी उसकी प्रदक्षिणा कर रही है, हम कहा करते हैं कि सूर्य निकला, सूर्य ऊपर उठा, सूर्य डूब गया। हम ही नहीं, ज्योतिषशास्त्र भी इसी भाषा में बात करता है। इससे किसी अनभिज्ञ पुरुष को भ्रम हो सकता है कि यथार्थ में सूर्य उठता और डूबता है, और वह इसकी पुष्टि के लिए ज्योतिषशास्त्र की किताब दिखा सकता है। ऐसे स्थलों पर तर्कशास्त्री को सावधान रहना होगा, और दिखा देना होगा कि भाषा के प्रयोग मात्र से वस्तु को वैसा समझना नहीं होगा।

कहने के लिए तो हम कहते हैं कि 'घड़े में गोलाई है, ललाई है, लम्बाई है, मोटाई है, भारीपन है, कड़ापन है इत्यादि', तो क्या इससे यह समझना होगा कि घड़े में इतनी चीजें भरी पड़ी हैं और उसमें पानी रखने की जगह नहीं है!।

भाषा और भी बहुत तरह से भ्रामक हो सकती है। तर्कशास्त्र को 'भाषा की बहक' से बचना होगा, और यथार्थ ग्रहण करने का प्रयत्न करना होगा।

§ ५—विचार के रूप और विषय[1]

विचार तो अमूर्त पदार्थ है, उसका कोई 'रूप' नहीं हो सकता। तो भी जिस प्रकार उपाधि-भेद से अमूर्त आकाश के घटाकाश, मठाकाश आदि अनेक रूप हो जाते हैं, उसी तरह जिन पद, वाक्य तथा युक्ति-प्रयोगों में विचार उपस्थित होते हैं उनके विचार से 'विचार के रूप' होने की बात

[1] Form and Matter of Thought.

समझ मे आ सकती है। उदाहरणार्थ, "सभी मनुष्य मरण-धर्मा है", और "कोई मनुष्य अमर नही है" इन दो वाक्यो के रूप भिन्न होने पर भी विषय मे भेद नही है। फिर, "सभी मनुष्य मरण-धर्मा है", और "सभी देव अमर है" इन दो वाक्यो के 'रूप' समान होने पर भी दोनो के विषय दो है। इससे सिद्ध हुआ कि 'विचार' का एक ही 'विषय' भिन्न 'रूपो' मे उपस्थित हो सकता है, और 'विचार' के एक ही 'रूप' मे भिन्न 'विषय' उपस्थित हो सकते है।

रूप और विषय का यही सम्बन्ध स्थूल जगत मे भी लागू होता है। एक ही विषय अनेक रूप ग्रहण कर सकता है, और एक ही रूप अनेक विषयों मे व्यक्त हो सकता है। यथा, एक ही विषय-सुवर्ण के कुण्डल, कङ्कण, केयूर आदि अनेक रूप हो सकते है; और, सुवर्ण, रजत, पीतल आदि अनेक विषय कुण्डल का एक ही रूप ग्रहण कर सकते है। रूप विषय के बिना, और विषय रूप के बिना नही रह सकता है। तो भी, दोनो दो चीजे है, और हम उनकी परीक्षा पृथक् पृथक् कर सकते है। जब हमे कुण्डल के सोने का खरापन आँकना है तो उसकी काट-छाँट पर ध्यान नही देते, और जब उसकी काट-छाँट की बारीकी की परख करनी है तो इसका ख्याल नही करते कि उसका सोना कैसा है।

कुछ तर्कशास्त्रियो ने रूप और विषय का यह सम्बन्ध 'विचार' के क्षेत्र मे भी हू-बहू सच्चा होना स्वीकार किया है। उनके मत से तर्कशास्त्र शुद्ध 'रूप-विषयक'[1] शास्त्र है। किन 'रूपो' मे ढले हुए विचार सत्य-साधक होते है, और किन 'रूपो' मे ढले हुए विचार भ्रामक तथा असगत होते है—यही अध्ययन करना तर्कशास्त्र का कर्तव्य है। कुण्डल की काट-छाँट की बारीकी की परख करने वाला जैसे इसकी परवाह नहीं करता कि उसका सोना सच्चा है या नही, उसी तरह तर्कशास्त्र 'रूप-

---

[1] Formal.

विपयक' होने के कारण इसकी परवाह नही करता कि 'विचार का विषय' ग्राम है या इमली।

वीजगणित भी इसी तरह सामान्य-सिद्ध ऐसे 'रूपो' का पता लगाता है जो, जिनके ग्रक जो भी हो, सर्वथा ठीक परिणाम देते है। यथा, इस प्रकार का एक रूप है—$क^2 - ख^2 = (क + ख)\ (क - ख)$। ग्रव, 'क' ग्रौर 'ख', एक या लाख, जो भी ग्रक हो समीकरण सर्वथा सत्य होगा। वाजार के वनिये भी हिसाव लगाने के लिये सामान्य सिद्ध 'रूपो' का प्रयोग करते है। यथा, 'रुपये के जितने सेर, ग्राने के उतने ही छटाँक' यह एक रूप है, जिसके उपयोग से चाहे चावल का क्रय-विक्रय कर ले, चाहे गेहू का, चाहे घास का, चाहे मिट्टी का।

इसी तरह तर्कशास्त्र 'विचार' के उन सामान्य सिद्ध 'रूपो'[1] का पता लगाता है जो सगत तथा समजस विचार के प्रतीक है। 'विपयो' के सत्यासत्य से इन रूपो की सगति तथा सामजस्य मे कोई ग्रापत्ति नही ग्राती। यथा, 'युक्ति-प्रयोग' के सामान्य सिद्ध 'रूप' का एक प्रसिद्ध उदाहरण है—

सभी 'क' 'ख' है,
सभी 'ग' 'क' है,
सभी 'ग' 'ख' है।

ग्रव, 'क', 'ख' ग्रौर 'ग' चाहे जो कुछ भी हो, 'युक्ति-प्रयोग' सर्वथा न्याय-सगत होगा। मान लिया कि 'क'=पशु, 'ख'=चतुष्पद ग्रौर 'ग'= घोडा है। तो 'युक्ति-प्रयोग' का यह रूप ऐसा होगा—

सभी 'पशु' चतुष्पद' है,
सभी 'घोडे' 'पशु' है,
. सभी 'घोडे' 'चतुष्पद' है।

---

[1] Forms.

इस 'युक्ति' का 'रूप' भी सामान्य सिद्ध है, और साथ ही साथ 'विषय' की वास्तविकता भी है। किंतु, इसी 'रूप' का दूसरा उदाहरण ले—

सभी 'मनुष्य' 'अमर' है,
सभी 'बनिये' 'मनुष्य' है,
∴ सभी 'बनिये' 'अमर' है।

इस 'युक्ति-प्रयोग' का 'रूप' तो सामान्य-सिद्ध है, किंतु इस 'विषय' की सचाई नही है। भला मनुष्य अमर कहा है !

तर्कशास्त्र के लिये दोनो उदाहरण मान्य है। 'विचार' के क्षेत्र मे ऐसे कितने सामान्य-सिद्ध 'रूप' स्थापित किये जा सकते है इसकी खोज तर्कशास्त्र करता है। इसी लिए तर्कशास्त्र को 'रूप-विषयक' शास्त्र कहा गया है। विचार के सगत तथा समंजस 'रूपो' को खोज निकालने मे ही तर्कशास्त्र का महत्त्व है। प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक हिगेल् कहता है, "यदि यह जानकारी कि सुग्गे साठ से भी अधिक प्रकार के होते है एक महत्वपूर्ण खोज समझी जाती हो, तो 'यक्ति-प्रयोग' के सामान्य-सिद्ध प्रकारो की खोज और भी अधिक महत्व की समझी जानी चाहिए। क्या सुग्गे के प्रकार से लाखो गुना अधिक महत्व 'युक्ति-प्रयोग' के प्रकार मे नही है ?"[१]

---

[१] "If it is held a valuable achievement to have discovered sixty and odd species of parrot....it should surely be held a far more valuable achievement to discover the forms of reason; is not a figure of the syllogism something infinitely higher than a species of parrot?"

—*Wissenschaft der Logik*, p. 139

§ ६—'रूपविषयक' कहाँ तक ?

तर्कशास्त्र 'रूप-विषयक'[1] अवश्य है, किंतु इसके इस पहलू पर आवश्यकता से अधिक जोर दे कर कुछ लोगो ने वडा अनुचित किया है। 'रूप' का अर्थ क्या है ? भिन्नताओ से पूर्ण व्यक्तियो मे जो सामान्य एकता है वही न ? रग, आकार आदि मे अनेक भिन्नताओ से पूर्ण सभी घोड़ो मे अग-सस्थान की जो सामान्य एकता है वही न घोडे का 'रूप' है ? इस तरह तो सभी शास्त्र 'रूप विषयक' है, क्यो कि सभी शास्त्र अपने-अपने विषय मे भिन्नताओ के बीच सामान्यता का अन्वेषण करते है। शास्त्र अनेकानेक उदाहरणो की परीक्षा तभी तक करता है जव तक उसे उनका सामान्य स्वरूप मालूम नही हो जाता। सामान्य स्वरूप मालूम हो जाने के बाद उसके विशेष उदाहरणो से शास्त्र को कोई दिलचस्पी नही रहती। किसी भी शास्त्र को अध्ययन करने के लिए नये-नये प्रकार के उदाहरण चाहिए। एक ही प्रकार के अनेक उदाहरणो से उसे कोई लाभ नही होता।

उसी तरह, तर्कशास्त्र 'धर्म' और 'धर्मी' के सम्वन्ध वताने वाले 'विचार के' रूपो और 'प्रकारो' का अध्ययन करता है। एक वार एक प्रकार' को समझ लेने के वाद उसे उसके हजारो उदाहरण लेने की आवश्यकता नही रहती। उन अनेक उदाहरणो मे भिन्नता केवल 'विषय' की रहती है कि किस 'धर्म' का सम्वन्ध किस 'धर्मी' के साथ स्थापित किया गया है। किंतु 'धर्म' और 'धर्मी' के सम्वन्ध के जो 'प्रकार' है वह सभी मे वही है।

रूपविषयकता पर अनुचित जोर

जिन लोगो ने इस वात पर जोर दिया है कि तर्कशास्त्र 'रूप-विषयक ही शास्त्र है' उनका अभिप्राय यह नही है कि इस वात मे

---

[1] Formal.

तर्कशास्त्र दूसरे शास्त्रो के समान ही है जो अपने-अपने विषय के 'रूप' या 'सामान्य' की खोज करते है; किंतु उनका अभिप्राय यह है कि तर्क-शास्त्र विचार के उन रूपो का अध्ययन नही करेगा जो समस्त विषयों के 'विचार' में लागू न हो सके।

यह तो वैसा ही हुआ कि कोई वनस्पतिशास्त्री कहे कि वह उन सिद्धान्तो का अध्ययन नही करेगा जो ससार के समस्त पेड़-पौधो मे लागू न हो सकें। अथवा, कोई ज्यामितिशास्त्री कहे कि वह उन सिद्धान्तो का अध्ययन नही करेगा जो संसार के समस्त क्षेत्रो के साथ लागू न हो सके। सारे पेड़-पौधे एक ही प्रकार के नही है। उनकी भिन्न-भिन्न जातिया है; उनकी व्यवस्थाये भी भिन्न-भिन्न है। वनस्पति-शास्त्र उनका अलग-अलग अध्ययन करता है। उन जातियो के भीतर भी जितनी उपजातिया निकाल सके उतनी ही उसकी सफलता है।

उनकी गलती

उन तर्कशास्त्रियो ने यही गलती की है कि 'विषयो' की भिन्नता होने से 'विचार' के 'रूपो' मे जो प्रकार-भिन्नता हो जाती है इसका ख्याल नही किया। उन्होने यह समझा कि विचार के 'विषय' की बिल्कुल उपेक्षा करके ऐसे 'समान्य रूप' स्थापित किए जा सकते है जो समस्त 'विषयो' पर लागू हो सकें। किंतु, सच्ची बात तो यह है कि भिन्न-भिन्न प्रकार के विषयो पर हम भिन्न-भिन्न प्रकार से विचार करते है। अतः यदि अपने 'विचार' की व्यवस्था के सिद्धान्तो को जानना है तो 'विषय' की भिन्नता के कारण जो 'विचार' मे भिन्नता हो जाती है उसकी भी कुछ परीक्षा करनी ही होगी। तभी हम ठीक-ठीक समझ सकेंगे कि तर्कशास्त्र कहा तक 'रूप-विषयक' है और कहां तक 'विषय-विषयक'।

'सामान्य-विधि' वाक्य[1] का 'रूप' है—"सभी 'क' 'ख' है।" इसके तीन उदाहरण लें—

(१) सभी 'घोडे' 'पशु' है
(२) सभी 'फूल' 'सुन्दर' है
(३) सभी 'भारतीय' 'हिन्दुस्तानी' है

इन वाक्यो के 'रूप' समान होने पर भी, क्या उनके माने एक ही प्रकार के है? 'सभी भारतीय हिन्दुस्तानी है' का माने हुआ कि भारतीय और हिन्दुस्तानी मे कोई भेद नही है। किंतु, पहले वाक्य का यह माने नही है कि 'घोडे' और 'पशु' एक ही है। 'पशु' 'घोडे' का विशेषण कहा जा सकता है, किंतु क्या 'पशु' 'घोडे' का विशेषण उसी प्रकार है जिस प्रकार दूसरे वाक्य मे 'सुन्दर' 'फूल' का है? विना 'सुन्दर' हुए भी फूल फूल ही रहेगा, किंतु विना 'पशु' हुए 'घोडा' घोडा नही रह सकता।

अत इस सामान्य-सिद्ध 'रूप'—सभी 'क' 'ख' है—का मतलब जानने के लिए पहले हमे जानना होगा कि 'क' क्या चीज है और 'ख' क्या चीज। विचार के 'रूपो' को समझने के लिए उसके 'विषयो' की भी परीक्षा करनी ही होगी।

तर्कशास्त्र के 'रूपविषयक' ही होने पर जोर देने वाले दार्शनिको का यह प्रयास कि 'विचार' के 'विषयो' की सर्वथा उपेक्षा कर उनके सामान्य-सिद्ध 'रूपो' की स्थापना कर लेगे, मिथ्या है। इस से यह नही समझ लेना चाहिए कि तर्कशास्त्र के अध्ययन के विषय वे वस्तु भी होने चाहिए जिन पर विचार किया गया है। तर्कशास्त्र उन वस्तुओ को इसी लिए जानना चाहता है कि उनके सामान्य-सिद्ध 'रूप' कितने प्रकार से समझे जा सकते है। एक बार उन 'प्रकारो' का निश्चय कर लेने के बाद वस्तुओं से उसे सीधा सम्बन्ध नही रहता।

---

[1] Universal affirmative proposition.

अत', यह कहा जा सकता है कि तर्कशास्त्र 'रूप-विषयक' शास्त्र है, किंतु यह नही कि वह सर्वथा 'विषय-विषयक' नही है।

§ ७—ज्ञान[1]

'ज्ञान' वह व्यवस्थित विचार है जिसका संवाद यथार्थ वस्तु-व्यवस्था से हो, और जिस संवाद में पूरा भरोसा हो। सूर्य-मण्डल का ज्ञान तभी होगा जब आकाश मे सूर्य-ग्रह-उपग्रह की जैसी व्यवस्था है ठीक उसी का प्रतिरूप व्यवस्थित विचार हो और साथ-साथ उस विचार और वस्तु-स्थिति के सवाद मे पूरी आस्था हो। अधेरे मे रस्सी को देख कर साप समझ लेना 'ज्ञान' नहीं हो सकता, क्योकि यहा विचार और वस्तुस्थिति मे सवाद नही है। और, साप को देख कर यह साप है ऐसा समझ लेने पर भी यदि मन मे कुछ खटका बना रहे कि शायद रस्सी तो नही है, तो उसे 'ज्ञान' नही कहेगे।

वस्तु-व्यवस्था के अनुकूल विचार जितना अधिक व्यवस्थित होगा उतना ही वह 'ज्ञान' गम्भीर होगा, और जितना अधिक वह विचार शिथिल होगा उतना ही अधिक वह 'ज्ञान' छिछला होगा। उदाहरण के लिए एक 'फूल के पौधे' का ज्ञान तीन भिन्न-भिन्न व्यक्तियो का ले। एक बच्चा भी फूल के पौधे को देख कर उसका ज्ञान कर लेता है, उसी पौधे का ज्ञान बगीचे के चतुर माली को भी है, और उसी पौधे का ज्ञान वनस्पति शास्त्र में विख्यात एक प्रोफेसर को भी है। तीनो के ज्ञान ज्ञान ही है, क्योकि पौधे के विषय मे सभी के विचार का सवाद वस्तुस्थिति से है, और उन्हे उस सवाद मे कोई खटका भी नही। किंतु, पौधे के विषय मे तीनो के विचार समान रूप से व्यवस्थित नही है। बच्चा केवल यही जानता है कि पौधे की टहनिया, उसके पत्ते और फूल किस तरह

---

[1] Knowledge.

आपस में सम्बद्ध है। बगीचे का माली इतना जान कर यह भी जानता है कि वह पौधा कैसे लगाया जाता है, उसके लिए कैसी खाद चाहिए, भिन्न-भिन्न ऋतुओ का प्रभाव उस पर कैसा पडता है इत्यादि-इत्यादि। और, वनस्पतिशास्त्र का प्रोफेसर इन सभी बातो को जान कर वनस्पति-जगत मे उस पौवे के विषय मे जितनी भी बाते हैं सभी जानता है। एक ही 'ज्ञान' के ये तीन उदाहरण इस बात को स्पष्ट करते है कि 'ज्ञान' के लिए वस्तु-स्थिति से सवाद होना आवश्यक होते हुए भी उसकी पूर्णता और प्रामाणिकता विचार के अधिकाधिक व्यवस्थित होने मे ही है।

§ ८—ज्ञान के मार्ग[1]

'ज्ञान' के मार्ग तीन है—(क) प्रत्यक्ष[2] (ख) अनुमान[3] और (ग) आप्तवचन[4]।

(क) प्रत्यक्ष—स्थूल ससार में ज्ञान के विषय पाच है—रूप, शब्द, गन्ध, रस और स्पर्श। रूप को आख से देख कर, शब्द को कान से सुन कर, गन्ध को नाक से सूघ कर, रस को जीभ से चख कर, और स्पर्श को शरीर से छू कर जान लेते हैं। आनन्द, शोक, सतोष, असतोष, क्रोध, प्रेम आदि जो अपने मन की अवस्थाये है उन्हे हम साक्षात् अपने मन से ही जान लेते है। इन छ इन्द्रियो से जो विषय का साक्षात् ज्ञान होता है उसे प्रत्यक्ष ज्ञान कहते है। प्रत्यक्ष ज्ञान ठीक होने के लिए आवश्यक है कि (१) इन्द्रिया निर्दोष हो, (२) विषय सामने उपस्थित हो, (३) विषय के रूप को विकृत या अवरुद्ध कर देने वाला बीच में कोई व्यवधान न हो, और (४) प्रमाता का ध्यान दूसरी ओर लगा न हो।

प्रत्यक्ष ज्ञान ही ज्ञान के दूसरे मार्गों का आधार है। 'अनुमान' या

---

[1] Sources of knowledge

[2] Perception. [3] Inference. [4] Authority.

'आप्तवचन' से प्राप्त ज्ञान मे यदि कोई शका उपस्थित हो तो उसका निराकरण विषय का प्रत्यक्ष कर के ही होता है। प्रत्यक्ष ज्ञान ही की प्रामाणिकता सब से ऊंची है। प्रत्यक्ष ज्ञान का महत्त्व इसमे है कि इसी ज्ञान मे 'विषय' की विशेषतायें स्पष्ट रूप से उपस्थित होती है। अनुमान या आप्तवचन से प्राप्त ज्ञान मे 'विषय' के केवल सामान्य धर्मो का बोध होता है विशेष धर्मोका नही।

(ख) **अनुमान**—किसी चीज के ज्ञान हो जाने पर उसके आधार पर दूसरी परोक्ष चीज का जो ज्ञान कर लेना है उसे 'अनुमान' कहते है। 'अनुमान' करने से जो ज्ञान प्राप्त होता है उसे 'अनुमिति' कहते है।

रात के सन्नाटे मे दूर से 'राम नाम सत्य है' की आवाज आती है। उससे हम अनुमान कर लेते है कि कोई मुर्दा जा रहा होगा। यहां आवाज़ का ज्ञान प्रत्यक्ष हुआ, और उस आवाज से सम्बन्धित जो मुर्दे का जाना है सो मेरे परोक्ष रहने पर भी उसका ज्ञान हो गया।

अनुमिति ज्ञान मे 'विषय' की अपनी असाधारण विशेषताओ का, प्रत्यक्ष ज्ञान की तरह, स्पष्ट बोध नही होता। किंतु इसमे 'विषय' के केवल साधारण सामान्य धर्मो का बोध होता है। ऊपर के उदाहरण मे 'कोई मुर्दा जा रहा है' ऐसा जो अनुमिति ज्ञान हुआ उसमे यह मालूम नही हुआ कि मुर्दा कैसे कपडे से ढका है, उसके साथ कितने आदमी जा रहे है, मुर्दा लड़के का है या बड़े का, इत्यादि।

(ग) **आप्त-वचन**—विश्वसनीय व्यक्ति की बात सुन या पढ कर ही जो 'विषय' का ज्ञान होता है उसे 'आप्त-वचन' या 'शब्द' कहते है। नित्य-प्रति अखबार पढ कर हम जो ससार की घटनाओ का ज्ञान करते हैं वह इसी प्रकार का ज्ञान है। नौकर बाहर से आ कर खबर देता है कि अमुक सज्जन मिलने के लिए बाहर बैठे है। यह सुनते ही हम उनसे मिलने बाहर चले आते है। यहां, नौकर के कहने पर जो उन सज्जन के आने का ज्ञान हुआ वह भी इसी प्रकार का ज्ञान है। अखबार, नौकर,

मित्र, गुरु या कोई भी जो विश्वसनीय व्यक्ति है ऐसा ज्ञान करा सकता है।

आप्तवचन-जन्य ज्ञान मे भी 'विषय' के साधारण सामान्य धर्मों का ही बोध होता है, उसके स्वलक्षण विशेष धर्मो का नही। 'शब्द' केवल 'कल्पना' के ही व्यञ्जक है, और 'कल्पना' सामान्य का बोध कराती है, विशेष का नही। इस प्रकार, आप्तवचन-जन्य-ज्ञान अनुमिति-ज्ञान के समान ही हुआ।

तर्कशास्त्र का सम्बन्ध किस से ?

इन तीन प्रकार के ज्ञानो मे तर्कशास्त्र का सीधा सम्बन्ध किस से है ? प्रत्यक्ष-ज्ञान की प्रामाणिकता इस बात पर निर्भर करती है कि हमारी इन्द्रिय निर्दोष हो और बाहर कोई ऐसी बात उपस्थित न हो जिससे ज्ञान विकृत होने का डर हो। आख खराब होने से भी हम ठीक-ठीक नही देख सकने, और बाहर अंधेरा होने से भी कुछ को कुछ समझ लेने का डर रहता है। कान मे कोई रोग हो तब भी अपने मित्र की बात ठीक-ठीक नहीं सुनते, और सडक पर कोई बाजा बज रहा हो तब भी, इत्यादि। यदि इन्द्रिय निर्दोष हो, और बाहर किसी प्रकार का व्यवधान न हो तो ठीक प्रत्यक्ष-ज्ञान आप हो जाता है। केवल उस ओर ध्यान देने की जरूरत है, किसी बुद्धिमानी की नहीं। कोई आदमी आ कर सामने खडा होता है, और हम उधर ताकते ही उसे जान लेते है, हमे कोई प्रयास नही करना पडता। बल्कि, शायद सामने खडे मनष्य को न जानने का प्रयास भी करे तो ऐसा नहीं कर सकते।

यही बात 'वचन-जन्य-ज्ञान' मे भी है। नौकर की बात सुनते हम झट जान लेते है कि अमुक सज्जन बाहर बैठे है। बात सुन कर यह जानने के लिए हमे कोई प्रयास नहीं करना पडता। बल्कि, बात सुन कर शायद उसे न जानने का प्रयास करे भी तो ऐसा नहीं कर सकते।

अनुमिति-ज्ञान की उत्पत्ति में वह बात नहीं है। यह 'ज्ञान' तो हम

अपनी वुद्धि दौड़ा कर प्राप्त करते है। जानी चीज़ या चीज़ो के आधार पर उछल कर अनजानी चीज़ तक पहुचते है। तर्कशास्त्र इसी उछलने की विद्या को सिखाता है। इसमे जो निपुण नही है वे भयंकर भूल मे पड सकते है।

भारतवर्ष की स्थितियो से अनभिज्ञ कोई विदेशी हिन्दू-मुसलमान के भेद को न समझ कर कह सकता है—सभी 'हिन्दू' 'हिन्दुस्तानी' है, और सभी 'मुसलमान' भी 'हिन्दुस्तानी' है, तब सभी 'मुसलमान' 'हिन्दू' हुए। साधारण मनुष्य को ऐसी भ्रामक युक्तियो मे क्या दोप है जल्दी पता नही चलता। 'युक्ति' दोषपूर्ण है यह स्पष्ट कर लेने पर भी दोप के निश्चित स्थल का पता नही लगा सकते। ऐसे दोपो को साफ साफ जान उनसे वच कर सत्य निष्कर्ष तक कैसे पहुच सकते है इसकी परीक्षा तर्कशास्त्र करता है। अत. तर्कशास्त्र का सीधा सम्वन्ध 'अनुमान' से है। 'अनुमान' की परीक्षा के लिए जितनी दूर तक उसका 'प्रत्यक्ष' या 'आप्तवचन' से सम्बन्ध है उतनी दूर तक वह उन पर भी विचार कर लेगा।

§ ९—अनुमान की दो विधियाँ

'अनुमान' की दो विधियां है—(क) निगमन-विधि[१] और (ख) व्याप्ति-विधि[२]।

(क) निगमन-विधि—"जो वात जिस तरह किसी सारी 'जाति' के साथ लागू हो वही वात उसी तरह उन सभी के साथ लागू होगी जो उस 'जाति' मे अन्तर्गत है।" यह एक ऐसा सिद्धान्त है जिसमे किसी को आपत्ति नही हो सकती। 'अनुमान' की 'निगमन-विधि' इसी सिद्धान्त पर आश्रित है।

---

[१] Deduction. [२] Induction.

यदि सभी मनुष्य मरण-धर्मा हैं, और सभी राजा मनुष्य ही हैं, तो निश्चित रूप से अनुमान कर सकते हैं कि सभी राजा भी मरण-धर्मा हैं। अथवा, यदि कोई मनुष्य पूर्ण नहीं है, और सभी राजा मनुष्य ही है, तो निश्चित रूप से अनुमान कर सकते है कि कोई राजा भी पूर्ण नहीं है। राजा मनुष्य-जाति के अन्तर्गत ही हैं, अत यदि 'मरण-धर्मत्व' सारी मनुष्य-जाति के साथ 'विधि-रूप' से लागू है, और 'पूर्णत्व' 'निषेध-रूप' से, तो वे सभी राजा के साथ भी उसी रूप से लागू होंगे।

'सामान्य' के ज्ञान के आधार पर अल्प सामान्य या विशेष के विषय में अनुमान करने की इस पद्धति को 'निगमन-विधि' कहते है। इस 'विधि' के 'युक्तिप्रयोग' का एक रूप निम्न प्रकार है—

सभी 'मनुष्य' 'मरण-धर्मा' है,
सभी 'राजा' 'मनुष्य' है,
∴ सभी 'राजा' 'मरण-धर्मा' है।

पहले दो वाक्यो को 'आधार-वाक्य'[1], और निष्कर्ष को 'निगमन-वाक्य'[2] कहते है। इस विधि मे 'आधार-वाक्यो' के आधार पर ही 'निगमन-वाक्य' की निष्पत्ति होती है, इसी से इसे 'निगमन-विधि' कहते हैं।

'निगमन-वाक्य' की व्यापकता 'आधार-वाक्यो' से कभी अधिक नहीं हो सकती। 'आधार-वाक्यो' का जो विस्तार है उससे अधिक के विषय मे कोई निष्कर्ष कैसे निकाला जा सकता है!

यही नहीं, 'निगमन-वाक्य' का कोई 'पद' भी वह 'आधार-वाक्य' में जितना व्यापक है उससे अधिक व्यापक नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ, 'सभी घोडे पशु है' इस आधार-वाक्य से यह निष्कर्ष नहीं निकाल सकते कि 'सभी पशु घोडे है'। आधार-वाक्य मे 'पशु' पद पूरी व्यापकता में ग्रहण नहीं किया गया है। 'सभी घोडे पशु हैं' इसका अर्थ यह

---

[1] Premise [2] Conclusion=निष्कर्ष

नही है कि सभी घोडे सभी पशु है, किंतु इसका अर्थ है कि सभी घोड़े कुछ पशु हैं। तब, यह निष्कर्ष नही निकाला जा सकता कि 'सभी पशु घोडे है'।

सक्षेप मे, 'निगमन-विधि' अनुमान की यही पहचान है कि इसका 'आधार' अपने 'निष्कर्ष' से व्यापकता मे कभी कम नही हो सकता।

(ख) व्याप्ति-विधि[1]—कुछ विशेष उदाहरणो की परीक्षा करके, उनके आधार पर किसी सामान्य सिद्धान्त के अनुमान करने की पद्धति को 'व्याप्ति-विधि' कहते है।

रसोई घर मे, लोहार की भट्ठी मे, कारखाने मे, हुक्के की चिलम पर, और भी अनेक जगह धूआ आग से निकलता देख कर एक का दूसरे से अविनाभाव सम्बन्ध स्थापित कर लेते है, और ऐसा सामान्य सिद्धान्त बना लेते है कि—जहां-जहा धूआ है वहां-वहां आग है। इस सामान्य सिद्धान्त को 'व्याप्ति'[2] कहते है; जो सभी जगह समान रूप से सत्य ठहरता है।

ऐसे तो अपने दैनिक व्यवहार के जीवन मे जहां कही हम कुछ समान घटनाये देखते है कोई न कोई व्याप्ति बना लिया करते है। किसी विदेश के पांच-दस आदमियो मे कोई समानता देख कर समझ लेते है कि वहां के सभी आदमी ऐसे ही है। किसी पेड़ के एक दो आम मीठे निकले तो समझ लेते है कि उस पेड के सभी आम मीठे होते है। इस तरह अनायास बना ली गई व्याप्तिया बहुधा झूठी ठहरती है। तर्कशास्त्र के लिए इनका कोई महत्त्व नही।

तर्कशास्त्र तो वैसी व्याप्तिया बनाना चाहता है जो कार्य-कारण सम्बन्ध पर आश्रित हो। जिनका कभी व्यभिचार न हो। न्यूटन ने पेड़ से फल गिरते देख कर पृथ्वी की आकर्षण शक्ति का पता लगा लिया, और सिद्ध किया कि सभी चीज पृथ्वी के केन्द्र की ओर आकृष्ट

---

[1] Induction. [2] Universal Real Proposition.

होती है। मलेरिया रोग के कुछ उदाहरणो की परीक्षा कर डाक्टरो ने पता लगा लिया कि इस रोग की उत्पत्ति अमुक प्रकार के मच्छरो के काटने से होती है। इस तरह, भिन्न २ शास्त्र जिस प्रक्रिया से कुछ को देख कर सब के विषय मे जान लेते है वही सच्ची शास्त्रीय 'व्याप्ति-विधि' है।

§ १८—अनुमान[1] के पहले

ऊपर देख चुके कि 'आधार-' वाक्य या वाक्यो से न्यायसगत निष्कर्ष निकालना ही 'अनुमान' है। अनुमान की निगमन-विधि[2] मे आधार-वाक्य जितना व्यापक होता है निष्कर्ष उतनी ही या उससे कम व्यापकता का निकाला जाता है, उससे अधिक का नही। और, व्याप्ति-विधि[3] मे आधार-वाक्य विशेष उदाहरण होते है, और निष्कर्ष होता है सामान्य-सिद्ध व्याप्ति।

आधार-वाक्य और निष्कर्ष-वाक्य (निगमन-विधि में 'निगमन-वाक्य', और व्याप्तिविधि मे 'व्याप्ति-वाक्य') साथ मिला कर जो युक्ति का प्रयोग किया जाता है वही 'अनुमान' की सर्वाङ्गीन अभिव्यक्ति है। तर्कशास्त्र के अध्येय विषय का यही केन्द्र है।

अनुमान की अभिव्यक्ति वाक्यो[4] मे होती है,। और, वाक्य उद्देश-पदका[5] विधेय पद[6] के साथ सम्बन्ध का सूचक होता है। अत तर्कशास्त्र मे 'अनुमान-प्रकरण' के पूर्व 'पद-प्रकरण' और 'वाक्य-प्रकरण' का रहना आवश्यक है। 'पद' के स्वरूप, प्रकार, अर्थभेद, परस्पर सम्बन्ध आदि विचारणीय विषयो की चर्चा 'पद-प्रकरण' मे कर ली जायगी। और, वाक्य के स्वरूप, प्रकार, आदि विषयो पर विचार 'वाक्य-प्रकरण' मे होगा। 'पद' और 'वाक्य' के यथार्थ ज्ञान पर ही 'अनुमान' का ज्ञान होगा।

---

[1] Inference. [2] Deduction. [3] Induction.
[4] Proposition. [5] Subject-Term. [6] Predicate Term.

§ ११—कुछ दूसरे आवश्यक प्रकरण

जब हम कोई 'युक्ति-प्रयोग' दूसरे के सामने उपस्थित करते है तब यह आवश्यक है कि वाक्य के 'पदो' को जिन अर्थो मे हम कह रहे है ठीक-ठीक उन्ही अर्थो मे उन्हे वह भी समझे; नही तो परस्पर कोई समझौता हो ही नही सकता। भाषा मे एक ही शब्द के कभी-कभी कई अर्थ होते है, और कभी-कभी तो परस्पर अत्यन्त भिन्न भी। कभी-कभी एक ही 'पद' को हम स्वयं ही भिन्न-भिन्न स्थलो मे भिन्न-भिन्न व्यापकता मे प्रयोग करते है।

उदाहरण के लिए, 'हिन्दू' पद ही ले। 'हिन्दू' कौन है इसे भिन्न-भिन्न लोग भिन्न-भिन्न समय पर भिन्न-भिन्न अर्थो मे समझते देखे जाते है। कितने लोग कहते है कि वे सभी 'हिन्दू' है जिनकी मातृभूमि हिन्दुस्तान है। दूसरे लोग मुसलमान और ईसाई को 'हिन्दू' मानने को तैयार नही है, वे कहते है कि 'हिन्दू' वे है जो किसी भी भारतीय धर्म को मानते है। फिर, दूसरे लोग बौद्धो और जैनो को 'हिन्दू' मानने को तैयार नही है, वे कहते है कि वे 'हिन्दू' है जो वेद को प्रमाण मानते है। अब, यदि वक्ता अपनी युक्ति के प्रयोग मे 'हिन्दू' पद को एक अर्थ मे समझे, और श्रोता दूसरे अर्थ मे तो कैसे काम चलेगा!!

इस कठिनाई से बचने के लिए तर्कशास्त्र ऐसे स्थलो मे 'लक्षण'[1] का प्रयोग करता है। 'लक्षण' करने मे 'पद' के उन धर्मो का निर्देश कर देते है जिससे वह ठीक-ठीक पकड़ा जा सके कि उससे किसका बोध होता है। अत., शास्त्रीय लक्षण की भी विवेचना तर्कशास्त्र के एक स्वतत्र प्रकरण मे होनी चाहिए।

'लक्षण' उस निश्चित सकेत को बता देता है जिसके सहारे यह जाना

---

[1] Definition.

जा सके कि उस पद से ठीक-ठीक कौन वस्तु समझे जायेंगे। यथा, त्रिभुज का लक्षण किया कि—त्रिभुज वह क्षेत्र है जो तीन भुजाओं से घिरा हो। अथवा, पक्षी का लक्षण किया कि—पक्षी वह प्राणी है जो अपने पख के सहारे हवा मे उड सके। किंतु, यह तो त्रिभुज या पक्षी का सामान्य ज्ञान भर हुआ। उनके विशेष ज्ञान के लिए जानना होगा कि त्रिभुज या पक्षी कितने प्रकार के होते हैं; और जाति-उपजाति-सजाति[1] के विचार से उनके 'विभाग'[2] तथा 'वर्ग'[3] किस तरह निर्धारित करेंगे। अत तर्कशास्त्र में उन पर शास्त्रीय विचार करने के लिए स्वतत्र 'विभाग-प्रकरण' और 'वर्ग-प्रकरण' भी होंगे।

§ १२—तर्कशास्त्र या तर्कविद्या ?

कुछ लोगों का कहना है कि युद्ध-विद्या की तरह तर्क-विद्या भी कला है। लाठी-तलवार चलाने की कला से शत्रु को परास्त करना युद्धविद्या बताती है। और, दलीलों के प्रयोग की कला से प्रतिवादी को हरा देना तर्क-विद्या बताती है। अत, 'तर्कशास्त्र' न कह कर 'तर्कविद्या' कहना अधिक अच्छा होता।

इस पर विचार करने के लिए स्मरण रखना होगा कि 'कला' शब्द दो अर्थों मे प्रयुक्त होता है। 'वह मनुष्य सगीत-कला का विशेषज्ञ है'— इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि वह खूब अच्छी तरह गा-बजा सकता है, भले ही उसे इस विद्या के साहित्य का कोई अध्ययन न हो, और इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि इस विद्या के साहित्य का ही उसे गम्भीर अध्ययन है, भले ही वह 'सा-रे-ग-म-' का एक गत भी न गा न बजा सके।

---

[1] Genus—Species—Coordinate Species.
[2] Division. [3] Classification
[4] Is Logic a Science or an Art?

अतः कला शब्द का अर्थ व्यवहार-नैपुण्य भी हो सकता है, और सैद्धान्तिक-ज्ञान भी। सैद्धान्तिक-ज्ञान शास्त्र का अनुगामी होता है। इस अर्थ मे तर्क-विद्या को अलवत्ता 'कला' कह सकते है। यह सूचित करता है कि वे सैद्धान्तिक-ज्ञान उस तर्कशास्त्र पर आश्रित हैं जो न्यायसगत 'विचार' की शैली का निर्णायक हैं। तब, इतनी मर्यादा के साथ यह कह सकते है कि 'तर्कविद्या' नाम की एक कला है जो तर्क-शास्त्र पर आश्रित है।

'कला' व्यावहारिक निपुणता का द्योतक है, और 'शास्त्र' व्यवस्थित सैद्धान्तिक-ज्ञान का। तब कह सकते है कि तर्कशास्त्र न्यायसंगत तर्क की **व्यावहारिक निपुणता का व्यवस्थित सैद्धान्तिक-ज्ञान है।**

तर्कशास्त्र पर आक्षेप

तर्कशास्त्र के विरुद्ध कोई ऐसी आपत्ति कर सकता है कि जब तर्क-शास्त्र बिना पढे लोग अच्छा से अच्छा तर्क कर लेते है तब इसकी क्या आवश्यकता ? यह आपत्ति ठीक वैसी ही होगी कि यदि कोई कहे कि गाव के नीम-हकीम भी जब अपनी जड़ी-बूटी से मार्के की चिकित्सा कर लिया करते है तब वैद्यक शास्त्र के पीछे पड़ने की क्या आवश्यकता ? या, कोई कहे कि जव अपढ मिस्त्री भी वड़े-वड़े कारखाने की मशीनो को वैठा और चला लेता है तव इन्जीनियरिङ्ग शास्त्र पढने से क्या लाभ ?

हो सकता है कि नीम-हकीम या अपढ मिस्त्री वैद्य या इन्जीनियर से भी वढ कर चिकित्सा कर ले या मशीन वैठा ले, किंतु उनके ज्ञान मे वडा अन्तर होता है। वैद्य को अमुक रोग और उसकी चिकित्सा के सच्चे सिद्धान्तो का व्यवस्थित ज्ञान है, वह जानता है कि अमुक रोग किस कारण से होता है और अमुक चिकित्सा किस कारण से उसका निवारक है। नीम-हकीम को यह ज्ञान नही है। उसी तरह, इन्जीनियर को मशीन

चलाने वाली विजली की शक्ति किन सिद्धान्तो पर आश्रित है उसका, तथा और भी सभी अन्य सिद्धान्तो का, व्यवस्थित ज्ञान है। मिस्त्री को यह ज्ञान नहीं है।

तर्कशास्त्र के महत्त्व मे भी वही वात है। तर्कशास्त्री को इस वात का व्यवस्थित ज्ञान प्राप्त है कि उसके अच्छे तर्क की अच्छाई किस वात में है, और वुरे तर्क की वुराई किस वात मे। तर्कशास्त्र के अध्ययन के विना यह ज्ञान नहीं हो सकता; यदि हो भी तो इतना पूर्ण व्यवस्थित नही।

§ १३—दार्शनिक लॉक की आपत्ति

प्रसिद्ध दार्शनिक लॉक तर्कशास्त्र की सार्थकता पर आपत्ति करते हुए कहता है—"यह हो नहीं सकता कि ईश्वर ने मनुष्य को द्विपद प्राणी वना कर छोड दिया, और इसका जिम्मा (तर्कशास्त्र के प्रणेता) अरस्तू को सौंप दिया कि वह उसे 'विवेक' दे दे।"

यदि तर्कशास्त्र इसका दावा करता कि विना तर्कशास्त्र पढे मनुष्य विवेक-पूर्ण विचार नही कर सकता तो अलवत्ता लॉक की यह आपत्ति ठीक होती। किंतु तर्कशास्त्र कभी भी ऐसा दावा नही करता। तर्कशास्त्र का यह काम नहीं है कि मनुष्य मे विवेकशीलता प्रदान करे; उसका तो काम इतना भर है कि मनुष्य को समझा दे कि उसकी विवेक-शीलता किस वात मे है। और, यह सम्भव नही होता यदि मनुष्य पहले से ही विवेकशील न होता। यदि ईश्वर मनुष्य को केवल द्विपद प्राणी वना कर छोड देता तो अरस्तू उसे विवेकशील होना नही वता सकता, क्योकि वताने से भी वह नहीं समझता।

उन सिद्धान्तो को विना जाने जिनकी स्थापना आये दिन तर्कशास्त्र ने की है मनुष्य पहले ही से उनके अनुसार विचार करते आ रहे हैं। तर्कशास्त्र की शास्त्रीयता इसी मे है कि उसने उन्हें उन सिद्धान्तो से परिचित कर दिया।

§ १४—विज्ञान-शास्त्र[1] और विधान-शास्त्र[2]

यह बात ठीक है कि सभी शास्त्रो का काम नये-नये सिद्धान्तो का आविष्कार करना है। किंतु इसका अर्थ यह नही कि वे सिद्धान्त पहले विद्यमान ही न थे। पृथ्वी मे आकर्षण शक्ति तब से विद्यमान है जब से पृथ्वी है। पहले लोग उसे उस व्यवस्थित रूप से नहीं जानते थे जैसा आगे चल कर न्यूटन ने बताया। वैसे ही, पदार्थ-शास्त्र ने जब यह बताया कि शून्य डिग्री तापमान मे पानी जम जाता है तो यह कोई नई बात न थी जो पहले न होती थी। आदि काल से पानी जमा करता था।

पदार्थ-शास्त्र, वनस्पति शास्त्र, आदि शास्त्रो का काम यही है कि प्रकृति की सभी बाते खोज-खोज कर बता दे, उनका वर्णन भर कर दे। बात जैसी है उसे वैसी जान लेना और बता देना—बस, ये शास्त्र इतना ही करते है। इसी से इन्हे 'विज्ञान-शास्त्र' कहते है—अथवा, वे शास्त्र जिनका काम केवल विशेष रूप से ज्ञान कर लेना भर है।

'विज्ञान-शास्त्र' के समकक्ष कुछ दूसरे शास्त्र है जो 'विधान-शास्त्र' कहे जा सकते है। क्या है, यह बताना 'विज्ञान-शास्त्र' का काम है। और, क्या होना चाहिए, यह बताना 'विधान-शास्त्र' का काम है। पदार्थ-शास्त्र विज्ञान-शास्त्र है, क्योकि वह बता भर देता है कि शून्य डिग्री के तापमान मे पानी जम जाता है · वह यह विचार नही करता कि किस डिग्री के तापमान मे पानी को जमना चाहिए। प्रकृति के नियम तो ध्रुव है, उनके विषय मे ऐसा होना चाहिए ऐसा नही की बात उठाने का कोई अर्थ नही। यदि कोई उठावे तो वह मनोरञ्जन मात्र होगा।

ऐसा होना चाहिए और ऐसा नही—यह बात मनुष्य के अपने व्यक्तित्व को छोड़ और कही बाह्य जगत मे सम्भव नही है। 'हमे इस तरह विचार

---

[1] Positive Science. [2] Regulative Science.

करना चाहिए, इस तरह नही, इस तरह अनुभव करना चाहिए, इस तरह नही, इस तरह कर्म करना चाहिए, इस तरह नही'—इन्ही तीन प्रश्नो को ले कर तीन 'विधान-शास्त्रो' का निर्माण हुआ है। इन तीन 'विधान-शास्त्रों' के क्रमश नाम है—तर्कशास्त्र[1], सौन्दर्यशास्त्र[2], और कर्तव्य-शास्त्र[3]। तर्कशास्त्र का लक्ष्य सत्य-प्राप्ति, सौन्दर्यशास्त्र का लक्ष्य सौन्दर्य-प्राप्ति, और कर्तव्यशास्त्र का लक्ष्य औचित्य(=शिव)-प्राप्ति है। ये तीनो शास्त्र अपनी-अपनी दिशा का निर्देश करते है जिससे उनके आदर्श सिद्ध हो सकें। इसी से इन्हे 'सादर्श शास्त्र'[4] या 'व्यावहारिक शास्त्र'[5] भी कहते हैं।

§ १५—मानसशास्त्र और तर्कशास्त्र[6]

मानसशास्त्र और तर्कशास्त्र में अन्योन्याश्रय का सम्बन्ध है। मानसशास्त्र, किसी भी दूसरे शास्त्र की तरह, अपनी शास्त्रीय विवेचना मे तर्कशास्त्र के सिद्धान्तो का पालन करता है। किंतु, दूसरी ओर, तर्क-शास्त्र को न्यायसगत 'विचार' के सिद्धान्तो की स्थापना करने मे मानस-शास्त्र से सहायता लेनी पडती है। मन की वास्तविक प्रवृत्तियो को समझ कर ही 'सत्य' के साधक सिद्धान्तो का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। इन दो शास्त्रो में, इतना परस्पर सम्बन्ध होने पर भी, काफी भेद है। भेद की निम्न बाते मुख्य है—

(१) मानसशास्त्र का क्षेत्र तर्कशास्त्र के क्षेत्र की अपेक्षा अधिक विस्तृत है। मानसशास्त्र मन की सभी प्रवृत्तियो की परीक्षा करता है, जो मूलत. तीन है—सज्ञा[7], वेदना[8] और चेतना[9]। मन की जो

---

[1] Logic [2] Aesthetics [3] Ethics. [4] Normative Science [5] Practical Science. [6] Psychology and Logic. [7] Thinking. [8] Feeling. [9] Willing.

जानने की प्रवृत्ति है वह 'सज्ञा' है, सुख-दुखादि अनुभव करने की जो प्रवृत्ति है वह 'वेदना' है, और कर्म करने की जो प्रवृति है वह 'चेतना' है। इनमे, 'वेदना' और 'चेतना' से तर्कशास्त्र का कोई सम्बन्ध नही, उनसे तो सम्बन्ध क्रमश. सौन्दर्यशास्त्र और कर्तव्यशास्त्र को है।

'सज्ञा' के क्षेत्र मे भी, मानसशास्त्र का क्षेत्र तर्कशास्त्र के क्षेत्र की अपेक्षा अधिक विस्तृत है। हम ऊपर देख चुके है कि तर्कशास्त्र का विषय प्रत्यक्ष-ज्ञान नहीं है। 'स्मृति' और 'भावना' मानसशास्त्र के मुख्य अध्येय विषय है, किंतु तर्कशास्त्र को उनके अध्ययन से मतलब नही।

(२) मानसशास्त्र मानसिक प्रवृत्ति की प्रक्रिया का अध्ययन करता है—यह कि विचार कैसे करते है। उस प्रक्रिया से प्राप्त जो फल है उनका अध्ययन करता है तर्कशास्त्र। तर्कशास्त्र इसकी परीक्षा नही करता कि 'प्रत्यय'[1], 'अध्यवसाय'[2] या 'ऊहा'[3], किस प्रक्रिया से होते है; यह मानसशास्त्र करता है। किंतु जब 'प्रत्यय', 'अध्यवसाय' या 'ऊहा' बन कर तैयार हुए तो वे तुरत तर्कशास्त्र के अध्येय विषय बन जाते है। तर्कशास्त्र इसकी परीक्षा करता है कि ये प्रामाणिक हैं या नही।

(३) मानसशास्त्र 'विज्ञान-शास्त्र' है, किंतु तर्कशास्त्र 'विधान-शास्त्र' या 'सादर्श-शास्त्र' है। विज्ञान-शास्त्र का अभिप्राय केवल ज्ञान प्राप्त कर लेना भर है; कैसे कुछ करना चाहिए इस पर वह विचार नहीं करता। विज्ञान-शास्त्र, बिना किसी लक्ष्य या आदर्श का नेतृत्व स्वीकार किए, घटनायें जिस रूप मे उपस्थित होती है उसी रूप मे उनकी परीक्षा करता है। किन्तु, विधान-शास्त्र किसी आदर्श की सिद्धि की दृष्टि से एक मार्ग की दिशा बताता है।

---

[1] Concept.

[2] Judgment.

[3] Reasoning.

मानस-शास्त्र, विना किसी लक्ष्य या आदर्श के नेतृत्व के 'विचार' जिन रूपो में उपस्थित होते हैं उन्ही रूपो मे उनकी परीक्षा करता है। किंतु, तर्कशास्त्र 'सत्य' की प्राप्ति की दृष्टि से न्यायसगत विचार की दिशा वताता है।

(४) मानसशास्त्र यह सिद्ध करता है कि मन की यह तीन प्रवृत्तिया —सज्ञा, वेदना, चेतना—सदा परस्पर सश्लिष्ट रहती है। एक का दूसरे के विना अध्ययन नही किया जा सकता। किंतु, यह होने पर भी, तर्कशास्त्र 'प्रत्यय', 'अध्यवसाय' और 'ऊहा' को उनके अपने शुद्ध रूपो मे अध्ययन करता है। उनसे सश्लिष्ट जो भी वेदना या चेतना हो उस पर विचार नही करता। अत, यह कह सकते हैं कि मानसशास्त्र के विपय की अपेक्षा तर्कशास्त्र का विपय अधिक सूक्ष्म और गहन है।

§ १६—तर्कशास्त्र और तत्त्वशास्त्र[१]

दृश्यजगत की आधारभूत पारमार्थिक सत्ता क्या है इसका अध्ययन तत्त्वशास्त्र करता है। तर्कशास्त्र का आधारभूत पारमार्थिक सत्ता के तत्त्वनिरूपण से सम्बन्ध नही है। जिस अर्थ में 'पद'[२] उद्देश[३] और विधेय[४] के रूप ग्रहण करता है, तथा जिस अर्थ मे वाक्य[५] उनके वीच सम्बन्ध स्थापित करता है उन्ही अर्थो मे तर्कशास्त्र वाह्य पदार्थो को ग्रहण करता है, उससे अधिक नही। तत्त्वशास्त्र का 'विचार' के 'रूपो' से कोई सम्बन्ध नही, किंतु तर्कशास्त्र के लिए उनका वडा अर्थ है। यह भेद होने पर भी इन दो शास्त्रों में परस्पर वडा सम्बन्ध है।

तत्त्वशास्त्र, शास्त्र होने के नाते, तर्कशास्त्र के सिद्धान्तो के विरुद्ध

---

[१] Logic and Metaphysics. [२] Term.
[३] Subject. [४] Predicate.
[५] Proposition.

नही जा सकता। तत्त्वशास्त्र का तर्कशास्त्र के नियमो से सयत होना आवश्यक है।

फिर, तर्कशास्त्र की भित्ति तत्त्वशास्त्र पर बनती है। तर्कशास्त्र का लक्ष्य है सत्य-प्राप्ति। तब, उस 'सत्य' का स्वरूप है क्या जिसकी प्राप्ति करनी है? यह प्रश्न तर्कशास्त्र को बलात् तत्त्वशास्त्र के पास ले आता है। विशेष क्या है, सामान्य क्या है, कारण क्या है आदि आदि तत्त्वशास्त्र की बातो पर तर्कशास्त्र विचार करने को बाध्य होता है।

आगे चल कर हम देखेगे कि तर्कशास्त्र की आधारशिला है 'विचार की मर्यादा के नियम',[१] जो यथार्थ मे पदार्थ की मर्यादा के नियम है; क्योकि वे बिना वैसा हुए विचार की मर्यादा की रक्षा किस तरह कर सकते! और, पदार्थ की मर्यादा का निरूपण करना 'तत्त्वशास्त्र' का विषय है।

§ १७—तर्कशास्त्र के कुछ लक्षण

इतना परिचय प्राप्त करने के बाद 'तर्कशास्त्र' के कुछ लक्षण जो भिन्न भिन्न दार्शनिको ने किए है उन पर विचार कर लेना अच्छा होगा। कुछ के लक्षणो मे 'अतिव्याप्ति'[२] दोष आता है, और कुछ के लक्षणो में 'अव्याप्ति' दोष[३]।

(क) अतिव्याप्त लक्षण

(१) दार्शनिक युबर्वेग ने तर्कशास्त्र का लक्षण किया है—तर्कशास्त्र मानवीय ज्ञान के विधायक नियमों का शास्त्र है।[४]

---

[१] Laws of thought. विशेष देखिए, परिशिष्ट.......

[२] Too wide.   [३] Too narrow.

[४] "Logic is the science of the regulative laws of human knowledge."

—*System of Logic, translated by Lindsay*, p. 1.

समीक्षा—हम ऊपर देख चुके है कि 'ज्ञान' शब्द का अर्थ अधिक व्यापक है। प्रत्यक्ष, अनुमिति और आप्तवचन, सभी ज्ञान ही है। इनमे, तर्कशास्त्र को प्रत्यक्ष-ज्ञान का अध्ययन करना नही है, क्योकि जो वस्तु प्रत्यक्ष हो ही गया उसके विषय मे तर्क की क्या आवश्यकता ? उसे तो हम विना विवाद किए वैसा जान लेते है।

रस्सी मे साप का, सूर्य की प्रखर किरणो मे पानी का, ठूँठ मे मनुष्य का आदि जो प्रत्यक्ष-ज्ञान मे भ्रान्ति होती है उसके कारण इन्द्रिय-दोप, दूरी, या किसी प्रकार का व्यवधान हो सकता है। एक प्रकार के अक्षि-रोग से पीडित मनुष्य को सभी चीजे पीली ही पीली दीखती है। किसी किसी को दूर ही की चीज साफ दीखती है, पास की चीज धुँधली। इन कारणो का अध्ययन वैद्यकशास्त्र करेगा। ज्ञानोत्पत्ति की प्रक्रिया का जहा तक सम्वन्ध है वहा तक उसका अध्ययन मानसशास्त्र भी करेगा। किंतु, तर्कशास्त्र का इससे सीधा सम्वन्ध नही है। तर्कशास्त्र का तो ज्ञान मे सीधा सम्वन्ध तभी होता है जव वह 'विचार' का रूप ले लेता है।

आप्तवचन-जन्य ज्ञान भी तर्कशास्त्र का विपय नही हो सकता। विश्वसनीय दिशा से आई हुई वात को हम वैसा मान लेते है। वह तर्क का विपय नही होता। हा, इस पर भले ही पहले विचार कर ले कि अमुक विश्वसनीय है या नही।

तर्कशास्त्र का अपना विपय, उक्त दो ज्ञानो को छोड, तीसरा अनुमिति-ज्ञान ही है। जानी चीज़ के आधार पर अनजानी चीज को समझने में, भूल होने का खतरा है। प्रत्यक्ष-ज्ञान या आप्तवचन-जन्य-ज्ञान में उसी समय सदेह नहीं रहता। अनुमिति-ज्ञान में उसी समय सदेह का रहना सम्भव है, क्योकि वह परोक्ष का ज्ञान है, और परोक्ष मे सदेह का वना भी रहना स्वाभाविक है। यहा विवेक की वडी आवश्यकता है। अत तर्कशास्त्र का अध्येय विपय 'अनुमिति-ज्ञान' ही है।

• दार्शनिक यूवर्वेग के 'ज्ञान' सामान्य शब्द का प्रयोग करने मे जो

प्रत्यक्ष और आप्तवचन का भी उसमे अन्तर्भाव हो गया है यह अतिव्याप्ति दोष है ।

(२) पोर्ट रॉयल लाजिक के कर्ता ने भी तर्कशास्त्र के लक्षण करने मे ऐसी ही भूल की है । उसका लक्षण है—**सत्य की प्राप्ति के लिए मनुष्य की बुद्धि का जो व्यापार है उसी का शास्त्र तर्कशास्त्र है ।**[1]

समीक्षा—सत्य की प्राप्ति के लिए मनुष्य की बुद्धि का व्यापार प्रत्यक्ष-ज्ञान और आप्तवचन-जन्य-ज्ञान मे भी होता ही है । किंतु देख चुके है कि तर्कशास्त्र का उनसे सम्बन्ध नही है । अत., इस लक्षण मे भी अतिव्याप्ति दोष है ।

(ख) अव्याप्त लक्षण

(१) दार्शनिक अल्डरिच तर्कशास्त्र का लक्षण इस प्रकार करता है—**तर्कशास्त्र ऊहापोह करने की विद्या (कला) है**[2] ।

समीक्षा—इस लक्षण के अनुसार तर्कशास्त्र का सम्बन्ध केवल 'अनुमान' से बताया गया है । किंतु, हम देख चुके है कि, 'अनुमान' पर विचार करने के साथ साथ, तर्कशास्त्र इन बातो पर भी विचार करता है कि 'लक्षण' क्या है, तथा शास्त्रीय विभाजन और वर्गीकरण किस प्रकार किया जाता है । और भी, तर्कशास्त्र केवल एक कला नही है; यह शास्त्र भी है । अत इस लक्षण मे अव्याप्ति दोष है ।

(२) अलबर्ट्स मॅग्नस तथा कुछ दूसरे अरबी शास्त्रियो ने तर्कशास्त्र का लक्षण इस प्रकार किया है—**तर्कशास्त्र शास्त्रार्थ करने का शास्त्र है**[3] ।

---

[1] "Logic is the science of the operations of the human understanding in the persuit of truth."

[2] Logic is the Art of Reasoning.

[3] Logic is the Science of Argumentation.

समीक्षा—तर्कशास्त्र शुद्ध शास्त्र नही है, यह विद्या भी है। इस लक्षण मे तर्कशास्त्र के विधायक स्वभाव का समावेश नही हुआ है।

फिर, शास्त्रार्थ किया जा सकता है सत्य की प्राप्ति के लिए, अथवा केवल प्रतिवादी को जैसे हो तैसे नीचा दिखाने के लिए। किंतु, तर्कशास्त्र का दूसरे उद्देश्य से किए गए शास्त्रार्थ से कोई मतलब नही। तर्कशास्त्र तो उसी शास्त्रार्थ की विधियो का अध्ययन करता है जिनसे 'सत्य' का लाभ हो।

(३) तर्कशास्त्री वट्‌ले तर्कशास्त्र का लक्षण इस प्रकार करता है—

तर्कशास्त्र ऊहापोह का शास्त्र भी है, और उसकी विद्या भी।[1]

समीक्षा—यद्यपि इस लक्षण में तर्कशास्त्र के विज्ञानात्मक और विधानात्मक दोनो भावो का सगह कर लिया गया है, तथापि यह इसे नही व्यक्त करता कि 'लक्षण-विभाजन-वर्गीकरण'[2] भी तर्कशास्त्र के अध्येय विषय है। इस तरह, उतनी दूर तक इसमें भी अव्याप्ति-दोष वर्तमान है।

इसी प्रकार कुछ दूसरे दार्शनिकों के भी लक्षण उद्‌धृत किए जा सकते है जिनकी समीक्षा इन्ही दृष्टियो से की जा सकती है—

थॅमसॅन—तर्कशास्त्र विचार की मर्यादाओ का शास्त्र है।

हॅमिल्टन—तर्कशास्त्र विचार की रूपविषयक मर्यादाओ का शास्त्र है। इत्यादि

---

[1] Logic is the Science and also the Art of Reasoning.

[2] Definition—Division—Classification.

दूसरा अध्याय

पद-प्रकरण

§ १—प्राक्कथन

तर्कशास्त्र का अपना विषय 'अनुमान' है, जिसका वह अध्ययन करता है। अनुमान के दो अंग होते हैं—(१) आधार-वाक्य, एक या अनेक, और (२) निष्कर्ष-वाक्य। इन वाक्यो को एक साथ क्रम से जमा कर जो उपस्थित किया जाता है उसे 'युक्ति' कहते है। निगमन-विधि की युक्ति को 'निगमन युक्ति'[1] और व्याप्ति-विधि की युक्ति को 'व्याप्ति-युक्ति'[2] कहते हैं। उदाहरणार्थ—

निगमन-युक्ति—

सभी 'पशु' 'चतुष्पद' है,
सभी 'घोड़े' 'पशु' हैं,
∴ सभी 'घोड़े' 'चतुष्पद' है।

व्याप्ति-युक्ति—

'कौआ' 'अण्डज' है,
'सुग्गा' 'अण्डज' है,
'मैना' 'अण्डज' है,
'मोर' 'अण्डज' है इत्यादि
∴ सभी 'पक्षी' 'अण्डज' हैं।

---

[1] Deductive Argument.

[2] Inductive Argument.

देखा कि 'युक्ति' वाक्यो के सम्मेलन से बनती है, अतः 'युक्ति' का स्वरूप समझने के लिए पहले 'वाक्य'[1] का स्वरूप समझना आवश्यक है ।

'वाक्य' के तीन अंग होते है—(१) उद्देश,[2] (२) विधेय[3] और (३) संयोजक[4]। 'उद्देश' वह है जिसके साथ कोई सम्बन्ध स्थापित किया जाय · 'विधेय' वह है जिसका सम्बन्ध 'उद्देश' के साथ स्थापित किया जाय और 'संयोजक' वह क्रिया-पद है जो 'उद्देश' और 'विधेय' के बीच के सम्बन्ध का सूचक है। जैसे—

सभी 'पशु' 'चतुष्पद' है ।

इस वाक्य मे 'सभी पशु' उद्देश है, और 'चतुष्पद' विधेय, क्योकि पहले के साथ दूसरे का सम्बन्ध बताया गया है। अन्त मे जो क्रिया का रूप 'है' है वह संयोजक है, क्योकि वह सूचित करता है कि उद्देश के साथ विधेय का विधानात्मक[5] सम्बन्ध है ।

अंग्रेजी भाषा के वाक्य मे इनके प्रयोग का क्रम इस प्रकार रहता है—उद्देश-संयोजक-विधेय। जैसे—All men are mortal। उद्देश और विधेय के प्रयोग वाक्य के दोनो छोर पर होते है, इससे उन्हे Term (टर्म=छोर) कहते है। किंतु, हिन्दी भाषा मे उन्हें 'छोर' का नाम नहीं दिया जा सकता, क्योकि हिन्दी की वाक्य-रचना के अनुसार उनका क्रम भिन्न—उद्देश-विधेय-संयोजक—है। अंगरेजी मे इनका जो क्रम है उससे एक बडी सहूलियत होती है। यह कि, संयोजक के बीच में आ जाने से उद्देश और विधेय साफ साफ अलग हो जाते है, और उनके आपस मे खिल्त-मिल्त होने का डर नहीं रहता। हिन्दी मे यह डर बना रहता है। उदाहरण के लिए यह वाक्य ले—

---

[1] Proposition. [2] Subject. [3] Predicate.
[4] Copula [5] Affirmative.

मेरा मित्र गंगा जा रहा है।

इस वाक्य में क्या उद्देश है और क्या विधेय यह निश्चय करना बड़ा कठिन है। गगा मेरे मित्र का नाम हो सकता है; और तब इस वाक्य के उद्देश और विधेय को इस प्रकार अलग अलग कर सकते है—'मेरा मित्र गगा' 'जा रहा' है। और, यदि गगा मेरे मित्र का नाम नही किंतु नदी का नाम है तो वाक्य इस प्रकार समझा जायगा—'मेरा मित्र' 'गंगा जा रहा' है।

अतः, इस भ्रम से बचने के लिए उद्देश और विधेय को पृथक् पृथक् उल्टें काँमा से '—' इस प्रकार चिह्नित कर देना आवश्यक है।

उद्देश एक शब्द का भी हो सकता है, या अनेक शब्दों का भी, जो मिल कर एक बात प्रगट करे। विधेय के साथ भी यही बात है। उदाहरण के लिए निम्न वाक्य देखे जिसका उद्देश अनेक शब्दो का है, और विधेय केवल एक शब्द का—'भारतवर्ष के जो सबसे बड़े आदमी है उनका नाम' 'गाधी' है। उद्देश तथा विधेय को, चाहे वे एक शब्दात्मक हों या अनेक-शब्दात्मक, 'पद'[१] कहते है। वाक्य[२] इन दो पदो मे सम्बन्ध स्थापित करता है। अतः 'वाक्य' के स्वरूप को समझने के लिए 'पद' का स्वरूप समझना आवश्यक है।

§ २—'पद' क्या है ?

उस शब्द या शब्दों के समूह को 'पद' कहते है जो किसी वाक्य में उद्देश या विधेय के ऐसा प्रयुक्त हो सके।

सभी 'पद' शब्द है, किंतु सभी शब्द 'पद' नही है। सभी सज्ञा, सर्वनाम, और विशेषण स्वतन्त्र रूप से वाक्य में उद्देश या विधेय के ऐसा प्रयुक्त हो सकते है; अत. वे 'पद-योग्य' शब्द है। ने, को, से, इत्यादि कारक के चिह्न; जल्दी, धीरे, इत्यादि क्रिया-

---

[१] Term.　　　　[२] Proposition.

विशेषण; और, जो, सो, इत्यादि सयोजक-सर्वनाम ऐसे शब्द हैं जो स्वतंत्र रूप से किसी वाक्य में उद्देश या विधेय के ऐसा प्रयुक्त नही हो सकते। हा, वे किसी अनेक-शब्दात्मक 'पद' मे सयुक्त हो सकते हं। अत, ऐसे शब्दो को 'पद-संयोज्य' कहते हैं। फिर, कुछ ऐसे शब्द भी है जो न स्वय 'पद' के ऐसा प्रयुक्त हो सकते है, और न किसी पद मे सयुक्त हो सकते हैं, जैसे—हाय, अरे, ओह इत्यादि। ऐसे शब्दो को 'पदायोग्य' कहते है। इस तरह, तर्कशास्त्र की दृष्टि से शब्द तीन प्रकार के हुए—(१) पदयोग्य, (२) पद-सयोज्य और (३) पदायोग्य[1]।

'पद-संयोज्य' तथा 'पदायोग्य' शब्द भी जव सज्ञा वन कर वाक्य में उद्देश के ऐसा प्रयुक्त होते है, जैसे—

'ने' 'कर्ताकारक का चिह्न' है,

'धीरे' 'क्रियाविशेषण' है,

'जो' 'एक सयोजक सर्वनाम' है,

'हाय' 'शोक का व्यञ्जक' है,—

तव उन्हे भी 'पदयोग्य शब्द' की कोटि में अन्तर्गत करना चाहिए।

§ ३—'पद' के दो वोध

कोई 'पद' क्या वोध करता है? मनुष्य, पक्षी, मछली इत्यादि सज्ञायें 'पद' हैं. जव हम उनके नाम लेते हैं तो हमारे मन में क्या वात आती है?

तर्कशास्त्र की दृष्टि से वे दो वातो का वोध कराते है। सर्व प्रथम तो उनसे उन सभी व्यक्तियो का वोध होता है जो उन नामो से जाने जाते

---

[1] (१) Categorematic.
(२) Syncategorematic
(३) Acategorematic

है। इस बोध को 'व्यक्ति-बोध'[1] या 'द्रव्य-बोध'[1] कहते है। संसार मे जितने मनुष्य है सभी 'मनुष्य' पद के 'व्यक्तिबोध-द्रव्यबोध' में अन्तर्गत है। इसी तरह, 'पक्षी' और 'मछली' पदो के व्यक्ति-बोध में ससार के सभी पक्षी और मछलियां सम्मिलित है। इस बोव को 'पद का विस्तार'[2] भी कहते है, क्योकि यह बताता है कि अमुक 'पद' से समझे जाने वाले व्यक्तियो या द्रव्य का विस्तार क्या है।

'व्यक्ति-वोध' के साथ साथ, 'पद' से उन धर्मो का भी बोध होता है जिनके कारण वे व्यक्तिया (या द्रव्य) उस नाम से जानी जाती है। उन धर्मो को 'स्वभाव-बोध'[3] कहते हैं। 'मनुष्य' पद से जिन व्यक्तियो का बोध होता है उन्हें 'मनुष्य' क्यो कहते है? क्योकि वे विवेकशील प्राणी है। 'पक्षी' पद से जिन व्यक्तियो का बोध होता है उन्हे 'पक्षी' क्यो कहते है? क्यों कि वे पंख वाले प्राणी है। 'मछली' पद से जिन व्यक्तियों का वोध होता है उन्हें 'मछली' क्यो कहते है? क्यो कि वे जलचर प्राणी है। यहा, विवेकशीलता और प्राणित्व 'मनुष्य' का, पख वाला होना और प्राणित्व 'पक्षी' का, तथा जलचर होना और प्राणित्व 'मछली' का 'स्वभाव-वोध' है।

यदि उस पद को सुनते उसका 'स्वभाव-बोध' उद्बुद्ध न होता तो हम उसका 'व्यक्ति-वोध' भी नही कर सकते। इस तरह, व्यक्ति-बोध स्वभाव-बोध पर और स्वभाववोध व्यक्तिबोध पर आश्रित है। पद के दोनों वोध अल्पाधिक मात्रा में साथ साथ होते है। जिस तरह व्यक्तिबोध को 'पद का विस्तार' भी कहते है, उसी तरह स्वभावबोध को 'पद की गहनता'[4] भी कहते है। व्यक्तिवोध को 'पद का क्षेत्र', 'पद की परिधि', 'पद का साम्राज्य' आदि नामो से भी पुकारते है। स्वभावबोध

---

[1] Denotation. [2] Extension of the Term.
[3] Connotation. [4] Intension of the Term.

भी 'पद का भाव', 'पद का पदत्व' 'पद का सामर्थ्य' आदि नामो से जाना जाता है ।

§ ४—दोनो 'बोधो' का परस्पर सम्बन्ध

व्यक्तिबोध और स्वभावबोध में परस्पर क्या सम्बन्ध है ? ऐसा स्वीकार किया गया है कि किसी पद के व्यक्तिबोध और स्वभावबोध विपरीत दिशा मे घटते बढते है ।[1] अर्थात्, जब एक बढता है तब दूसरा घटता है, और जब एक घटता है तब दूसरा बढता है ।

'विवेकशील प्राणी होना' मनुष्य पद का स्वभावबोध है, और उसका व्यक्तिबोध है ससार की अखिल जन-सख्या । अब, उसके स्वभावबोध मे 'सुन्दरता' का एक और गुण बढा दे, तो 'सुन्दर विवेकशील प्राणी' से वे मनुष्य नही समझे जायेंगे जो कुरूप है । इस तरह, 'मनुष्य' पद के स्वभावबोध मे वृद्धि कर देने से उसके व्यक्तिबोध में ह्रास हो गया । यदि उसमे 'विद्वत्ता' का एक गुण और बढा दें, तो 'विद्वान सुन्दर विवेकशील प्राणी' से मनुष्य के व्यक्तिबोध में और भी कमी हो जायगी, क्यो कि जो विद्वान नही है उनकी गिनती यहा नही की जायगी ।

इसका उलटा, पद के 'व्यक्तिबोध' मे वृद्धि होने से उसके 'स्वभावबोध' मे ह्रास होने का नियम भी इसी उदाहरण को प्रतिलोम दिशा में देखने से स्पष्ट हो जायगा । 'विद्वान-सुन्दर-विवेकशील-प्राणी' इतना एक पद हुआ, जिसका व्यक्तिबोध उन कुछ लोगो से ही है जो इन गुणो से सम्पन्न है । अब, इस व्यक्तिबोध मे यदि हम उन लोगो को भी शामिल कर ले जो मूर्ख है तो हमे इस पद के 'स्वभावबोध' से 'विद्वत्ता' का गुण कम कर देना होगा । यदि इनके व्यक्तिबोध को इसमे कुरूप लोगो को

---

[1] The denotation and the connotation of a term vary inversely.

भी सम्मिलित कर के वढाना चाहे तो उसके स्वभावबोध में 'सुन्दरता' के गुण का भी ह्रास हो जायगा।

'मनुष्य' पद का स्वभावबोध मान ले 'क' है, और व्यक्तिबोध 'ख'। तव, पहले मे वृद्धि होने से दूसरे के ह्रास होने का नियम निम्न तालिका से प्रकट होगा—

मनुष्य

स्वभावबोध	व्यक्तिबोध
'क'=विवेकशीलता और प्राणित्व	'ख'=ससार की अखिल जन संख्या
'क'+सुन्दरता	'ख'—कुरूप लोग
'क'+सुन्दरता+अमीरी	'ख'—कुरूप लोग—गरीब लोग
'क+सुन्दरता+अमीरी+पण्डिताई	'ख'—कुरूप लोग—गरीब लोग —मूर्ख लोग
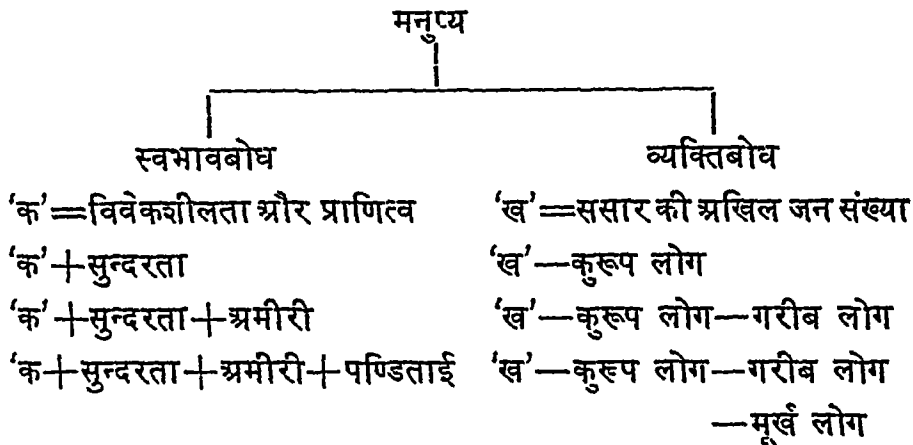
यहा, 'पण्डित-अमीर-सुन्दर-विवेकशील-प्राणी' यह एक पद हुआ। इस पद का व्यक्तिबोध मान ले 'अ' है, और स्वभावबोध 'ब'। तब, पहले मे वृद्धि होने से दूसरे के ह्रास होने का नियम निम्न तालिका से प्रकट होगा—
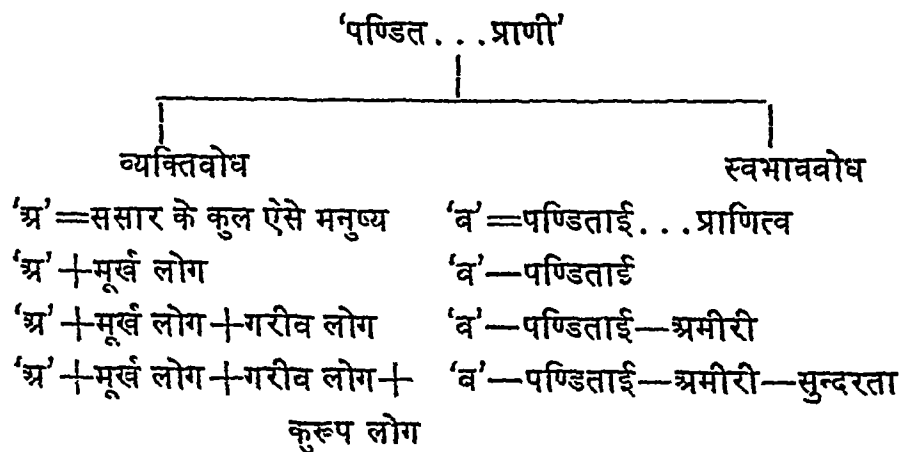
पहली तालिका को नीचे की ओर से देखने पर मालूम होगा कि जैसे-जैसे पद के स्वभावबोध मे एक एक गुण लुप्त होते गये वैसे वैसे व्यक्ति-बोध में नये नये प्रकार के लोग भी सम्मिलित किए जाने लगे। उसी तरह, दूसरी तालिका को नीचे की ओर से देखने पर मालूम होगा कि जैसे जैसे पद के व्यक्तिबोध मे एक एक प्रकार के लोग लुप्त होते गये वैसे वैसे स्वभाव बोध मे नये नये गुण भी सम्मिलित किए जाने लगे।

अत, पद के दोनो 'बोधो' के परस्पर वृद्धि-ह्रास का नियम चार प्रकार से सिद्ध हुआ—

(१) स्वभावबोध में वृद्धि होने से व्यक्तिबोध में ह्रास होता है।
(२) व्यक्तिबोध में वृद्धि होने से स्वभावबोध मे ह्रास होता है।
(३) स्वभावबोध में ह्रास होने से व्यक्तिबोध मे वृद्धि होती है।
(४) व्यक्तिबोध मे ह्रास होने से स्वभावबोध में वृद्धि होती है।

इस नियम को सक्षेप मे इस तरह समझा जा सकता है कि, पद जितना विशेष होता जायगा उसका स्वभावबोध उतना ही बढता जायगा जैसे—

पद	स्वभावबोध
मनुष्य	मनुष्यत्व
एशियाई	मनुष्यत्व+अमुक महादेश का होना
भारतीय	मनुष्यत्व+अमुक महादेश का होना+अमुक देश का होना
पजाबी	मनुष्यत्व+अमुक महादेश का होना+अमुक देश का होना+अमुक प्रान्त का होना
. .	. . . . .
हिम्मत सिह	मनुष्यत्व, अमुक महादेश, देश, प्रान्त, नगर, महल्ला, घर का होना, अमुक धर्म, जाति, परिवार का होना, इत्यादि इत्यादि।

व्यक्तिबोध की दृष्टि से एक 'जाति'[1] में उसकी 'उपजाति'[2] अन्तर्गत है, किंतु स्वभावबोध की दृष्टि से 'उपजाति' में ही 'जाति' अन्तर्गत है।[3]

'पशु' एक जाति है, जिसकी एक उपजाति 'घोड़ा' है। व्यक्तिबोध की दृष्टि से, पशुओ मे घोड़े भी सम्मिलित है : और स्वभाव-वोध की दृष्टि से, घोड़ेपने मे पशुत्व भी है।

§ ५—नये पदों की उत्पत्ति

किसी नये गुण का समावेश करके जब किसी पद का स्वभावबोध वढा देते है तव वह वही पद नही रहता, किंतु नया पद हो जाता है। 'मनुष्य' पद के स्वभाववोध मे 'सुन्दरता' का एक और गुण वढा दें, तो यह 'सुन्दर-मनुष्य' एक नया पद वन जाता है : और इस नये पद का व्यक्तिबोध प्रथम पद के व्यक्तिबोव से कम विस्तार का होवा है।

इसके उलटे भी, किसी नये प्रकार के लोगो का समावेश करके जब किसी पद का व्यक्तिवोध वढा देते है, तव वह वही पद नही रहता किंतु नया पद हो जाता है। 'सुन्दर-मनुष्य' एक पद है। इस पद के व्यक्ति-वोध में 'कुरूप' लोगो को भी शामिल कर लें, तो यह एक नया पद 'मनुष्य' उपस्थित होगा। और, इस नये पद का स्वभावबोध पहले पद से कम 'गहन' होगा।

यहा ध्यान देना आवश्यक है कि यदि किसी पद के स्वभाववोध में कोई ऐसा गुण वढ़ा दे जो उसकी सभी व्यक्तियो मे सामान्य रूप से पाया जाता है तो उसके व्यक्तिवोध मे कोई ह्रास नही होगा। 'त्रिभुज' पद का स्वभावबोध है 'तीन भुजाओ से घिरा होना'। अव, यदि इसमे 'तीन कोणो

---

[1] Genus. [2] Species.

[3] देखो पृ० ५८

का होना' एक और गुण बढा दे, तो उससे पद के व्यक्तिबोध में कोई ह्रास नहीं होगा, क्यों कि जितने भी त्रिभुज है सभी के तीन कोण होते है।

§ ६—'बोध' का अर्थ

'व्यक्तिबोध' या 'स्वभावबोध' से उन व्यक्तियो या गुणो का मतलब नही है जिन्हे हम या आप जाने ही। हम या आप जानें चाहे न जानें, उस जाति के जितने व्यक्ति-विशेष ससार मे है सभी उसके व्यक्तिबोध से समझे जायेगे। उसी तरह, जाने चाहे न जाने, वे सभी धर्म पद के स्वभावबोध मे सम्मिलित है जिनके आधार पर उस जाति का जातित्व निर्भर करता है। जब कोलम्बस ने अमेरिका महाद्वीप का पता लगाया, तब हम लोगो ने एक नये महाद्वीप से परिचय प्राप्त किया ठीक, किंतु इसका अर्थ यह नही कि 'महाद्वीप' पद के व्यक्तिबोध मे कोई वृद्धि हुई, और उस कारण उसके स्वभाव-बोध मे कोई ह्रास भी नही हुआ। उसी तरह, विज्ञान के विकास से यदि किसी जाति के 'जातित्व' का हमे पूर्णतर ज्ञान प्राप्त हो जाय, तो इसका मतलब यह नही कि उसके 'स्वभाव-बोध' मे कोई वृद्धि हो गई, और उस कारण उसके व्यक्तिबोध मे भी कोई ह्रास नही होता। न्यूटन ने पता लगाया कि पदार्थ मे आकर्पण शक्ति है; इससे पदार्थ के एक नये गुण के साथ हमारा परिचय हुआ ठीक, किंतु इसका अर्थ यह कभी नही कि न्युटन ने पदार्थ के स्वभावबोध को बढा दिया, और इसी कारण उससे 'पदार्थ' पद के व्यक्तिबोध मे कोई ह्रास नही होता।

§ ७—परस्पर ह्रास-वृद्धि का कोई निश्चित नियम नही

'पद' के एक बोध मे ह्रास-वृद्धि का जो दूसरे बोध में उलटा प्रभाव पडता है उनके अनुपात का कोई निश्चायक नियम नहीं है। स्वभावबोध मे कैसे गुण की वृद्धि करने से व्यक्तिबोध मे कैसा अन्तर होगा यह तो इस बात पर निर्भर है कि वह गुण कैसा है।

'मनुष्य' पद के स्वभावबोध में यदि 'लोभी' का गुण बढ़ा दे तो उसके व्यक्तिबोध मे बहुत कम अन्तर पड़ता है, क्यो कि अधिक लोग लोभी ही हैं। किंतु, यदि उसके स्वभाव-बोध मे 'निर्लोभी' का गुण बढ़ा दे तो उसके व्यक्तिबोध मे भारी ह्रास हो जायगा, क्यों कि ससार में निर्लोभी मनुष्य बहुत ही कम हैं।

§ ८—पदों का विभाजन[1]

किन्ही चीजो या व्यक्तियो को भिन्न भिन्न प्रकार से विभागों में बाट कर उनकी परीक्षा कर लेने से उनके पृथक्-पृथक् स्वरूप स्पष्ट समझने मे बड़ी सुविधा होती है। जैसे—

मान लें कि 'क', 'ख' और 'ग' तीन मनुष्य है। धर्म के ख्याल से—'क' हिन्दू है, और 'ख+ग' मुसलमान। धन के ख्याल से—'क+ख' धनी है, और 'ग' गरीब। स्वास्थ्य के ख्याल से—'ख' नीरोग है, और 'क+ग' रोगी। विद्या के ख्याल से—'क+ख' पढ़ा लिखा और 'ग' अपढ़।

इन विभागों की परीक्षा करने से पता चलता है कि—

(१) 'क' एक पढ़ा-लिखा धनी हिन्दू है, किंतु रोगग्रस्त रहा करता है;

(२) 'ख' एक पढ़ा-लिखा धनी मुसलमान है, और वह नीरोग भी रहता है;

(३) 'ग' एक अपढ गरीब मुसलमान है, जो रोगग्रस्त भी रहा करता है।

इसी तरह, जितने भी 'पद' है उन्हें भिन्न भिन्न प्रकार से विभागों में बाट कर उनकी परीक्षा कर ले तो किसी विशेष 'पद' का स्वरूप स्पष्टत. निर्धारित करने मे बड़ी सुविधा होगी। अनेक तर्कशास्त्रियों ने 'पदो' के

---

[1] Divisions of Terms.

विभाग अपने अपने ढग से किए है। उनमे ध्यान देने योग्य कुछ सम्मत विभाजन नीचे दिये जाते है—

(क) एकशब्दात्मक—अनेकशब्दात्मक[1]

जो 'पद' एक से अधिक शब्दो के सयोग से बने है उन्हे 'अनेकशब्दात्मक पद' कहते है, और शेष 'पदो' को 'एकशब्दात्मक'। जो शब्द 'पदयोग्य' है वही 'एक-शब्दात्मक पद' हो सकते है। 'पदयोग्य' और 'पदसयोज्य'[2] दोनो प्रकार के शब्द मिल कर 'अनेक-शब्दात्मक पद' बनते है। पदो का यह विभाजन उनके केवल बाह्य-रूप का विचार करता है, उनके अपने अर्थो का नही। उदाहरणार्थ—

एक-शब्दात्मक पद—मनुष्य, कुर्सी, राजा, देश इत्यादि।

अनेक-शब्दात्मक पद—कुर्सी पर बैठा मनुष्य, देश का राजा इत्यादि

(ख) व्यक्तिवाचक—जातिवाचक[3]

जिस पद से किसी खास एक का बोध होता हो उसे व्यक्तिवाचक पद कहते है। जैसे—'हिमालय', 'महात्मा गाधी', 'यह किताब', 'महाराष्ट्र का वह सिंह जिसने मुगलो के छक्के छुडा दिये थे' इत्यादि।

जिस पद से उन सभी का बोध हो जो अपने कुछ साधारण धर्म के कारण एक जाति=वर्ग के समझे जाय, उसे 'जातिवाचक पद' कहते है। जैसे—'मनुष्य', 'पुस्तक', 'जो सदा देश की सेवा के लिए तैयार रहा करते है' इत्यादि। इस तरह, 'जातिवाचक' पद से केवल उनका

---

[1] Simple (or Single-worded) and Composite (or Many-worded).

[2] Categorematic and Syncategorematic words.

[3] Singular (or Individual) and General (or Common).

ही बोध नहीं होता है जो उस नाम से जाने जाते हैं, किंतु उससे उनके उस साधारण धर्म का भी बोध होता है जिस कारण वे उस नाम से जाने जाते है।

'व्यक्तिवाचक' पद दो प्रकार के होते हैं—सार्थक और यादृच्छिक'। 'जातिवाचक' पद के भी यह विभाग कर सकते है, किंतु उस पर यहा विचार करने की आवश्यकता नही, क्यो कि तर्कशास्त्र की दृष्टि मे उस भेद का कोई महत्व नही है।

(१) सार्थक व्यक्तिवाचक पद वह है जिससे उस धर्म का भी पता लग जाय जिस कारण उस का वह नाम दिया गया है। जैसे, 'ससार का सर्वोच्च शिखर' यह एक 'सार्थक व्यक्तिवाचक पद' है; क्यो कि इससे अमुक शिखर एवरेस्ट का बोध होता है, और साथ साथ उसके इस असाधारण धर्म ऊचाई का भी पता लगता है। 'पजाब', 'महात्मा जी', 'बुद्ध', 'भूमध्यसागर', 'सीमाप्रान्त', 'युक्तप्रान्त' इत्यादि ऐसे ही पद के उदाहरण हैं। इन पदो का 'व्यक्तिबोध' भी है, और 'स्वभावबोध' भी।

पद के शब्द का कोई अर्थ होने मात्र से वह 'सार्थक व्यक्तिवाचक पद' नहीं समझा जाता। उस व्यक्तिवाचक पद की सार्थकता तो तब हैं जब उस व्यक्ति का व्यक्तित्व इसी अर्थ मे हो। बहुधा ऐसा होता है कि किसी व्यक्ति के नामकरण के समय वह सार्थक होता है, किन्तु आगे चल कर वह अपना अर्थ खो देता है। बचपन मे सुन्दर आँखो वाला होने के कारण किसी का उस समय नाम 'सुलोचन' रक्खा जा सकता हैं, किंतु आगे चल कर उसके अंधा हो जाने पर भी उसका नाम नहीं बदलता। बहुधा लोगो के नाम सार्थक होने पर भी उन अर्थो से उनके व्यक्तित्व का कोई सम्बन्ध नहीं रहता। जिनका नाम अमर सिंह है वह भी मर जाता है, जिसका नाम धनपाल है वह भी कंगाल हो सकता है,

---

[1] Significant and Non-significant Singular Terms.

इत्यादि । अत , यथार्थ में 'सार्थक व्यक्तिवाचक पद'[1] वही है जिसका अर्थ उस खास व्यक्ति के व्यक्तित्व के साथ घुलमिल कर इतना एक हो गया है कि एक को दूसरे के विना समझा भी नही जा सकता ।

(२) यादृच्छिक व्यक्तिवाचक[2] पद वह है जो किसी का रूढ नाम हो । जैसे—राम, मोहन, अब्दुल्ला, कलकत्ता, गगा, विंध्याचल इत्यादि । ऐसे रूढ नाम से किसी खास एक का सकेत भर होता है । उसका स्वभाव क्या है इसे बोध कराने का सामर्थ्य उस नाम में नही होता । परिचय प्राप्त करने के उपरान्त भले ही अमुक व्यक्ति का नाम लेते उसके असाधारण गुणो का भी बोध कर लें : किंतु, इसका अर्थ यह नही कि उस नाम में स्वय उस व्यक्ति विशेष के स्वभाव उद्बुद्ध कराने की योग्यता थी । अत., ऐसे रूढ यादृच्छिक व्यक्तिवाचक पदो के 'व्यक्तिबोध' तो है, किंतु उनके 'स्वभावबोध' नही है ।

(ग) समूहवाचक—असमूहवाचक[3]

समूहवाचक पद उसे कहते है जिससे अनेक समान व्यक्तियो के एक समुदाय का बोध हो । जैसे—सेना, क्लास, सभा, झुण्ड, गट्ठर, जगल । प्रत्येक सिपाही को पृथक् पृथक् सेना नही कह सकते, किंतु कवायद के लिए जब वे एक साथ व्यूह बना कर खडे होते है तो वह समुदाय सेना कहा जाता है । अलग अलग विद्यार्थी क्लास नही कहा जाता, किंतु पढने के लिए जब शिक्षक के सामने एक जगह मिल कर बैठते है तब उस समुदाय को क्लास कहते है । अलग अलग वृक्ष को जगल नही कहते, किंतु जब कही एक जगह वे घने उगे रहते है तब उस समुदाय को जगल कहते है । इत्यादि

---

[1] Significant Singular Term.

[2] Non-significant Singular Term.

[3] Collective Terms—Non-collective Terms.

जिस पद से किसी एक समुदाय का बोध न हो उसे असमूहवाचक पद कहते हैं। जैसे—सिपाही, विद्यार्थी, मनुष्य, वृक्ष, राजा, हिमालय, जंगल का राजा इत्यादि।

जव किन्ही समान व्यक्तियो के समुदाय का कोई विशेप नाम नहीं रहता, तो उसे (=उस समुदाय को) सभी मिल कर, दोनो मिल कर, तीनों मिल कर, ऐसे शव्द जोड कर प्रकट करते हैं। जैसे—सभी लड़के मिल कर वैठे है, तीनो कोण मिल कर दो समकोण हुए इत्यादि। ऐसे पदो को भी समूहवाचक ही समझना चाहिए।

समूहवाचक पद 'व्यक्तिवाचक' भी हो सकते है, और 'जातिवाचक' भी। 'भारतीय राष्ट्र', 'यहा की गोरी पलटन', 'हजारीवाग का जंगल' इत्यादि समूहवाचक पद व्यक्तिवाचक है, क्योकि वे एक खास राष्ट्र, पलटन तथा जंगल के नाम है। राष्ट्र, पलटन, जगल इत्यादि समूहवाचक पद जातिवाचक है, क्योंकि वे राष्ट्र, पलटन, या जंगल की जाति का वोध करते हैं।

(घ) द्रव्यवाचक—भाववाचक[1]

द्रव्यवाचक पद वह है जिससे किसी वस्तु का वोध हो, और भाववाचक पद वह है जिससे किसी गुण का वोध हो। जैसे—वालक, लोहा, देश, राजा इत्यादि द्रव्यवाचक पद है। वालकता, मनुष्यत्व, वुढ़ापा वेवक़ूफी, पागलपन इत्यादि भाववाचक पद है।

विशेषण के शब्द 'द्रव्यवाचक पद' ही है, क्योकि उनसे यह पता चलता है कि किन वस्तुओं का निर्देश किया गया है। लाल टोपी—यहां 'लाल' शब्द यह निर्देश करता है कि किन टोपियो से मतलव है। 'लाल' टोपी ही को वोध कराता है, टोपी की ललाई को नही। अत सभी विशेपणो से उनके गुण के वोधक 'भाववाचक पद' वनाये जा सकते है। जैसे, लम्वा

---

[1] Concrete —Abstract.

से लम्बाई, मोटा से मोटाई, कडवा से कडवापन, बूढा से बुढापा इत्यादि। यही नही, 'द्रव्यवाचक पदो' से भी उनके गुण के बोधक 'भाववाचक पद' बनाये जा सकते है। जैसे—वृक्ष से वृक्षत्व, मनुष्य से मनुष्यत्व, इत्यादि। क्रिया से भी 'भाववाचक पद' बन सकते है। जैसे—कृति, स्मृति, दृष्टि, सतोप इत्यादि।

भाववाचक पदो मे व्यक्तिवाचक और जातिवाचक का भेद किया जा सकता है या नही इस बातपर तर्कशास्त्रियो में मतभेद है। 'ललाई' एक भाववाचक पद है, इसे व्यक्तिवाचक समझना चाहिए या जातिवाचक ? कुछ का कहना है कि यह एक जाति का बोध करता है, क्योकि गहरी-फीकी पचासो तरह की ललाइया हो सकती है। दूसरो का कहना है कि चाहे कितनी ही प्रकार की चीजो मे वह रग उपस्थित क्यो न हो, किंतु उनमें वह 'ललाई' तो एक ही है न ! मनुष्य भिन्न भिन्न है, किंतु सब मे मनुष्यत्व एक ही है। सत्य बहुत बाते है, किंतु सब मे सत्यता का भाव एक ही है।

पहले पक्ष के अनुसार सभी भाववाचक पद जातिवाचक है, और दूसरे पक्ष के अनुसार सभी व्यक्तिवाचक।

इस विषय मे बीच का रास्ता ग्रहण करना अधिक ठीक है। कुछ भाववाचक पद तो निश्चित रूप से जातिवाचक है। जैसे—रग, सद्गुण, दुर्गुण, इत्यादि; क्योकि कालापन हरापन आदि अनेक रग होते है, और सद्गुण तथा दुर्गुण भी अनेक है।

ललाई, मनुष्यत्व, सुन्दरता आदि पदो को व्यक्तिवाचक ही मानना उचित है।

(ड) विधि[1]—निषेध[2]—अभाव[3]

विधि-पद[1] वह है जो चीज का रहना बतावे। निषेध-पद[2] वह है

[1] Positive. [2] Negative. [3] Privative.

जो चीज़ का न रहना बतावे। अभाव पद वह है जो चीज के अभाव का रहना बतावे, और जिससे यह मालूम हो कि उस चीज को वहां रहने की योग्यता है। जैसे—घड़ा भरा है; घड़ा नही भरा है; और घडा खाली है। 'भरा' विधिपद है। 'नही भरा' निषेध-पद है, क्योंकि यह भरा होने का निषेध भर करता है : हो सकता है कि घड़ा आधा या चौथाई ही भरा हो। 'खाली' अभाव-पद है, क्योंकि यह भरा होने के बिल्कुल अभाव के होने का सूचक है; और इससे यह मालूम होता है कि घड़ा फिर भी भरा जा सकता है। इस तरह, 'अभाव-पद' बताता है कि (१) पहले वह चीज यहा थी, अथवा साधारणत. रहा करती है, (२) अब एकदम नही है, और (३) भविष्य मे उसके फिर भी आने की कल्पना की जा सकती है। 'अन्धा, बहरा, गूगा, लगड़ा, बाझ' आदि शब्द अभाववाचक पद के उदाहरण हैं।

(च) स्वतंत्र[१]—सम्बद्ध[२]

स्वतंत्र-पद[१] वह है जो, बिना किसी दूसरे की अपेक्षा किए, अपना अर्थ स्वय व्यक्त कर दे। **सम्बद्ध-पद**[२] वह है जिसका अर्थ किसी दूसरे के सम्बन्ध से ही समझा जा सके। जैसे—फूल, मनुष्य, पहाड़ आदि 'स्वतंत्र-पद' हैं। बेटा, गुरु, नौकर, प्रजा आदि 'सम्बद्ध-पद' हैं; क्योंकि बाप के सम्बन्ध से ही बेटा बेटा है, शिष्य के सम्बन्ध से ही गुरु गुरु है, मालिक के सम्बन्ध से ही नौकर नौकर, राजा के सम्बन्ध से ही प्रजा प्रजा है। बाप क्या है बिना समझे बेटा क्या है नही समझा जा सकता, शिष्य क्या है बिना समझे गुरु क्या है नही समझा जा सकता, मालिक क्या है बिना समझे नौकर क्या है नही समझा जा सकता, राजा क्या है बिना समझे प्रजा क्या है नही समझा जा सकता। 'सम्बद्ध-पद' बराबर जोडे जोड़े

---

[१] Absolute Term [२] Relative Term.

हो कर रहते है; जैसे—वाप-वेटा, शिष्य-गुरु इत्यादि। कभी कभी जोडे एक ही शब्द के होते है, जैसे—दोस्त-दोस्त, भाई-भाई, साथी-साथी, पडोसी-पडोसी, शत्रु-शत्रु इत्यादि। ऐसे शब्द भी 'सम्वद्ध-पद' ही के उदाहरण है।

यह वात सिद्ध हो चुकी है कि ससार मे किसी भी चीज़ की स्थिति एकान्तत स्वतत्र नही हो सकती। सभी चीज अपनी उत्पत्ति तथा स्थिति के लिए किसी दूसरी चीज पर आश्रित करती है। मनुष्य हवा-जल-भोजन पर आश्रित है। किंतु, मनुष्य-हवा सम्वद्धपद नही है, क्योकि विना यह समझे कि मनुष्य किसे कहते है यह समझा जा सकता है कि हवा किसे कहते है।

(छ) स्वभाववाचक—नि.स्वभाववाचक

स्वभाववाचक पद[1] वह है जिसका 'व्यक्तिवोध' और 'स्वभाववोध' दोनो हो। नि स्वभाववाचक पद[2] वह है जोकिसी व्यक्तिवाचक वस्तु या भाव का नाम हो, जिसका केवल 'व्यक्तिवोध' हो; जो किसी 'स्वभाववोध' से नही, किन्तु निर्देश करने से जाना जाय।

'मनुष्य' पद स्वभाव-वाचक है, क्योकि इससे उन सभी व्यक्तियो का वोध होता है जो इस नाम से पुकारे जाते है, और साथ ही साथ मनुष्यत्व गुण का भी वोव होता जिससे सभी मनुष्य मनुष्य समझे जाते है। अर्थात्, इस पद से 'व्यक्तिवोध' और 'स्वभाववोध' दोनो की प्राप्ति होती है।

रामनारायण, महादेवी, सत्यता, ललाई आदि पद 'नि स्वभाववाचक' है, क्योकि वे व्यक्तिवाचक वस्तु या गुण के नाम भर है। इन पदो के केवल व्यक्तिवोध है, स्वभाववोध नही।

---

[1] Connotative. [2] Non-connotative.

निम्न प्रकार के पद 'स्वभाववाचक' है—

(क) सभी जातिवाचक पद—वृक्ष, कुर्सी, कलम, मनुष्य, रंग, सद्गुण, दुर्गुण इत्यादि।

(ख) सभी सार्थक व्यक्तिवाचक पद—महात्मा जी, संयुक्तप्रान्त, ससार का सर्वोच्च शिखर इत्यादि।

निम्न प्रकार के पद 'निःस्वभाववाचक' है—

(क) सभी व्यक्तिवाचक वस्तु—हिमालय, रामनारायण, गंगा इत्यादि।

(ख) सभी व्यक्तिवाचक भाव—सत्यता, ललाई, बराबरी, खींचा-तानी इत्यादि।

§ ९—पदों में परस्पर सम्बन्ध

(क) जाति-उपजाति[१]—यदि दो पदों मे परस्पर ऐसा सम्बन्ध हो कि पहले का व्यक्तिबोध दूसरे के व्यक्तिबोध को अपने अन्तर्गत कर ले, तो पहला दूसरे के सम्बन्ध मे 'जाति' है, और दूसरा पहले के सम्बन्ध मे 'उपजाति' है। भारतीय-पंजाबी, पशु-घोड़ा, वृक्ष-आम इत्यादि पदो मे यही जाति-उपजाति का सम्बन्ध है।

'भारतीय' पद का व्यक्तिबोध[२] 'पंजाबी' पद के व्यक्तिबोध को अपने अन्तर्गत करता है, क्योंकि 'भारतीय' पद से समझने जाने वाले व्यक्तियो मे 'पजाबी' पद से समझने जाने वाले सभी व्यक्तियां अन्तर्गत है। अतः 'पंजाबी' पद के सम्बन्ध मे 'भारतीय' पद जाति है; और 'भारतीय' पद के सम्बन्ध मे 'पजाबी' पद उपजाति है।

यहा, 'जाति-उपजाति' सम्बन्ध का 'अगी-अग' सम्बन्ध से भेद कर लेना आवश्यक है। 'अगी' में उसके सभी 'अग' अन्तर्गत होते है; किंतु

---

[१] Genus—Species. [२] Denotation.

इससे 'अग' के सम्बन्ध मे 'अगी' को जाति नही समझ सकते। गाड़ी अगी है, और उसका चक्का अग । गाडी मे चक्का अन्तर्गत है। किंतु चक्का के सम्बन्ध मे गाडी को 'जाति' समझना भूल है।

इन दो प्रकार के सम्बन्धो मे क्या भेद है उसे इस तरह ठीक ठीक समझ सकते है। 'उपजाति' को उसकी 'जाति' के नाम से पुकार सकते है, किंतु किसी 'अग' को उसके अंगी के नाम से नही पुकार सकते। 'पजाबी' को 'भारतीय' नाम से पुकार सकते है; किंतु 'चक्का' को 'गाडी' नाम से नही पुकार सकते। पृथक् पृथक् प्रत्येक गाडी मे उसका चक्का अन्तर्गत है, किंतु पृथक् पृथक् प्रत्येक भारतीय में पजाबी अन्तर्गत नही है।

जाति-उपजाति के सम्बन्ध के विषय मे एक बात और ध्यान देने योग्य है। वह यह कि, व्यक्तिबोध की दृष्टि से भले ही उपजाति अपनी जाति के अन्तर्गत हो, स्वभावबोध की दृष्टि से उलटे जाति ही अपनी उपजाति के अन्तर्गत होता है। भारतीय लोगो मे पजाबी लोग भी सम्मिलित है, किंतु पजाबीपने में भारतीयपना सम्मिलित है, क्योकि कोई पजाबी पजाबी नही हो सकता यदि वह पहले भारतीय नही है।[1]

अगी-अग के सम्बन्ध में यह बात नही घटती। यह मान भी ले कि 'गाडी' मे 'चक्का' अन्तर्गत है, तो यह नहीं कह सकते कि चक्केपने मे गाडीपना अन्तर्गत है।

(ख) सजाति-सजाति—यदि दो या अधिक पदो मे परस्पर ऐसा सम्बन्ध हो कि उनके अपने अपने व्यक्तिबोध एक ही अन्य पद के व्यक्तिबोध में अन्तर्गत हो, तो वे एक दूसरे के सम्बन्ध में 'सजाति'[2] कहे जाएगे। पजाबी-गुजराती, घोडा-बैल, आम-जामुन, गुलाब-गेंदा आदि पदो में परस्पर यही सम्बन्ध है।

---

[1] देखो पृ० ४७

[2] Co-ordinate Species

'पंजाबी', 'गुजराती', 'सिन्धी', और 'बिहारी' पदो के अपने अपने जो व्यक्तिबोध है सभी एक अन्य 'भारतीय' पद के व्यक्तिबोध के अन्तर्गत है, अत. वे पद एक दूसरे के सजाति है।

सजाति पदो के व्यक्तिबोध एक दूसरे से सर्वथा पृथक् होते है। 'पजाबी' पद का व्यक्तिबोध 'गुजराती' पद के व्यक्तिबोध से सर्वथा पृथक् है, क्योंकि कोई पजाबी गुजराती नही है, और कोई गुजराती पंजावी नही है।

'पजाबी' और 'लाहौरी', इन दो पदो के व्यक्तिवोध तीसरे 'भारतीय' पद के व्यक्तिबोध मे अन्तर्गत होते है सही, किंतु वे एक दूसरे के 'सजाति' नही कहे जा सकते; क्योकि 'पजाबी' पद का व्यक्तिबोध 'लाहौरी' पद के व्यक्तिबोध को अपने अन्तर्गत कर लेता है।

(ग) **आसन्न जाति—आसन्न उपजाति**—यदि 'जाति' और 'उपजाति' के बीच किसी तीसरे पद के व्यक्तिबोध आ जाने की सम्भावना न हो तो पहला दूसरे के सम्बन्ध मे 'आसन्न जाति'[1] और दूसरा पहले के सम्बन्ध मे 'आसन्न उपजाति'[2] कहा जाता है। 'भारतीय-पजाबी' मे यही सम्बन्ध है, क्योकि दोनो के वीच और किसी पद का व्यक्तिबोध उपस्थित नही है। 'भारतीय' पद 'पजाबी' पद का 'समनन्तर जाति' है, और 'पंजाबी' पद 'भारतीय' पद का 'समनन्तर उपजाति'। हा, यदि इनके बीच 'उत्तर भारतीय' पद का व्यक्तिबोध उपस्थित किया जा सके, तो 'भारतीय—उत्तरभारतीय—पजाबी' ऐसा हो जाने से उनमे वह सम्बन्ध नही समझा जायगा। तव, वही सम्बन्ध 'उत्तर भारतीय' और 'पजाबी' मे स्थापित किया जा सकेगा।

(घ) **दूरस्थ जाति—दूरस्थ उपजाति**—यदि 'जाति' और 'उपजाति' के बीच अन्य पद या पदो के व्यक्तिबोध का अन्तर्भाव हो तो पहला दूसरे

---

[1] Proximate Genus. [2] Proximate Species.

के सम्बन्ध मे दूरस्थ-जाति[1] है, और दूसरा पहले के सम्बन्ध मे 'दूरस्थ-उपजाति[2]' है। जैसे, पजाबी के सम्बन्ध मे मनुष्य 'दूरस्थ जाति' है, और मनुष्य के सम्बन्ध मे पजाबी 'दूरस्थ उपजाति' है, क्योकि इन दोनो के बीच 'भारतीय' पद का व्यक्तिबोध उपस्थित है।

(ङ) महा जाति[3]—उस पद को 'महा जाति' कहते है जिसका व्यक्तिबोध किसी भी दूसरे पद के व्यक्तिबोध के अन्तर्गत न हो सके। ऐसा पद 'सत्ता' है, क्योकि इसके अन्तर्गत सब कुछ आ जाता है। महा-जाति की फिर कोई जाति नही होती।

(च) अन्त्य जाति[4]—उस पद को 'अन्त्य जाति' कहते है जिसका व्यक्तिबोध किसी दूसरे पद के व्यक्तिबोध को अपने अन्तर्गत न कर सके। अन्त्य जाति की फिर कोई उपजाति नही होती।

§ १०—पदों में परस्पर भेद[5]

(क) भेदक—यदि दो पदों मे ऐसा भेद हो कि एक के सत्य होने पर दूसरे का झूठ होना आवश्यक हो, किंतु एक के झूठ होने पर दूसरे का सत्य होना आवश्यक न हो, तो वे एक दूसरे के भेदक[6] कहे जायेंगे। जैसे—उजला-काला, आम-इमली, दीया-लालटेन इत्यादि। यदि कोई चीज़ उजली है तो उसी समय उसी स्थान पर काली नही हो सकती। किंतु यदि कोई चीज़ उजली नही है तो उसका काली होना आवश्यक नही, वह तीसरे रग की हो सकती है। यदि किसी चीज़ का आम होना सत्य है तो उसका इमली होना झूठ होगा। किंतु, यदि किसी चीज़ का आम होना झूठा है, तो यह आवश्यक नही कि वह इमली ही हो, वह कोई तीसरी चीज़ हो सकती है। इत्यादि

---

[1] Remote Genus [2] Remote Species.
[3] Summum Genus. [4] Infima Species.
[5] Opposition. [6] Contrary.

'भेदक पद' दोनों के दोनों झूठे हो सकते हैं, किंतु दोनों के दोनों सत्य नही हो सकते ।

(ख) विरुद्ध[1]—यदि दो पदो मे ऐसा भेद हो कि एक के सत्य होने पर दूसरे का झूठ होना आवश्यक हो, और एक के झूठ होने पर दूसरे का सत्य होना भी, तो वे एक दूसरे के विरुद्ध कहे जायेंगे । जैसे—मनुष्य-अमनुष्य, वृक्ष-अवृक्ष, पुस्तक-अपुस्तक, जीवित-मृत, उत्तीर्ण-अनुत्तीर्ण, इत्यादि।

'विरुद्ध' पद दोनो के दोनो न तो सत्य होगे, न झूठ । उनमे एक अवश्य सत्य होगा और एक अवश्य झूठ ।

कहा जाता है कि किन्ही दो 'विरुद्ध' पदो मे सारा विश्व अन्तर्गत हो जाता है । 'मनुष्य' से मनुष्य समझे जायेगे, और 'अमनुष्य' से विश्व की सारी शेष चीज़े जो मनुष्येतर है । इस तरह, 'अमनुष्य' पद मे पशु, पक्षी, टेबल, घर, पहाड़, सूरज, चाद इत्यादि सभी चीजे चली आती है ।

किंतु, ऐसा समझना उचित नही प्रतीत होता । 'अमनुष्य' पद से वृक्ष, पहाड़, नदी, समुद्र सभी का बोध यथार्थ मे नही हो सकता । अधिक से अधिक 'अमनुष्य' पद से मनुष्येतर पशु, पक्षी आदि उसके सजाति-पदो का परिहार होना समझा जा सकता है । अत., किन्ही दो विरुद्ध पदो मे सारा विश्व समा जाता है ऐसा न कहके यह कहें कि, "किन्ही दो विरुद्ध पदो मे उसके सभी सजाति अन्तर्गत हो जाते है" तो हम अधिक सत्य के निकट होगे । दो विरुद्ध पद उसी क्षेत्र को व्याप्त करते है जिसमें उनकी अवगति सम्भव है । 'मनुष्य-अमनुष्य' पदों की अवगति भिन्न भिन्न प्राणियो तक ही है, नदी-पहाड़-सूरज तक नही । अतः, 'अमनुष्य' पद से नदी-पहाड भी समझने की कोशिश करना व्यर्थ प्रयास है । विरुद्ध पदो की अवगति जिस क्षेत्र मे सीमित होती है उसे 'अवगति-क्षेत्र'[2] कहते है ।

---

[1] Contradictory. [2] Universe of Discourse.

तीसरा अध्याय

लक्षण[1]–प्रकरण

§ १—'लक्षण' की आवश्यकता

विविध प्रकार के वस्तुओ के बीच उसके धर्मों का उल्लेख करके किसी एक का निर्देश कर देने, और उसके अन्य सभी सजाति का परिहार कर देने के लिए 'लक्षण' का प्रयोग किया जाता है। कुछ लडके मैदान मे खेल रहे हो। अब यदि किसी को यह कहे कि उनमें जो धोती पहने है उन्हें बुला लाओ, तो इतने से इष्ट लडको का निर्देश हो जाता है, और अनिष्ट लडको का परिहार भी। इस तरह, 'धोती पहने लडके' एक तरह उनका 'लक्षण' हुआ। तब, कह सकते है कि सभी मे से इष्ट का स्वीकार और अनिष्ट का परिहार करा देना 'लक्षण' का काम है।

§ २—तीन धर्म

किसी पद का "लक्षण" उसके धर्मो का उल्लेख करके करते है। इसलिए यहा विचार कर लेना आवश्यक है कि धर्म(=गुण) कितने प्रकार के होते है, और उनमे "लक्षण" करने के लिए किनका उपयोग है और किनका नहीं।

धर्म तीन प्रकार के होते है—स्वभाव,[2] स्वभावसिद्ध[3] और आकस्मिक[4]।

---

[1] Definition. [2] Connotation.
[3] Proprium or Property. [4] Accident.

(१) उस धर्म को स्वभाव-धर्म कहते है जिस कारण उस पद से समझे जाने वाले व्यक्ति वैसा समझे जाते है। 'जलचर-प्राणी होना' मछली पद का स्वभाव-धर्म है, क्योकि इसी धर्म के कारण मछली मछली समझी जाती है। 'तीन भुजाओ से घिरा होना' त्रिभुज पद का स्वभाव धर्म है, क्योकि इसी धर्म के कारण त्रिभुज त्रिभुज समझा जाता है। 'पाख वाला प्राणी होना' पक्षी पद का स्वभाव धर्म है, क्योकि इसी धर्म के कारण पक्षी पक्षी समझा जाता है।

(२) स्वभावसिद्ध-धर्म वह धर्म है जो स्वभाव-धर्म का कोई अग न होते हुए भी उसी से सिद्ध होता है। 'पानी मे सास ले सकना' मछली का स्वभाव-सिद्ध गुण है, क्योकि उसका यह धर्म जलचर होने से सिद्ध है। 'तीनो कोणो का मिल कर दो समकोण के वरावर होना' त्रिभुज पद का स्वभावसिद्ध धर्म है, क्योकि यह धर्म तीन भुजाओ से घिरे होने की वात से निकलता है। 'हवा मे उड़ सकना' पक्षी पद का स्वभाव-सिद्ध धर्म है, क्योकि यह धर्म पांख वाला होने की बात से ही सिद्ध होता है।

स्वभावसिद्ध-धर्म पद से व्यक्त होने वाले सभी व्यक्तियो मे अनिवार्य रूप से अनुगत रहता है, क्योकि वह उनके स्वभाव धर्म मे ही निहित है।

(३) स्वाभाव-धर्म और स्वभावसिद्ध धर्म को छोड शेष सभी धर्मो को आकस्मिक धर्म कहते है। अमुक वस्तु के वस्तुत्व की रक्षा के लिए आकस्मिक धर्म की आवश्यकता नही। उस धर्म के न होने पर भी वह वस्तु वैसा समझा जा सकता है। जैसे—मछली के अमुक रग का होना, त्रिभुज का समद्विबाहु होना, या पक्षी का द्विपद होना। अमुक रग की न होने पर भी मछली मछली रह सकती थी, समद्विबाहु न हो कर भी त्रिभुज त्रिभुज रह सकता था, द्विपद न हो कर भी पक्षी पक्षी रह सकता था, इत्यादि।

इन तीन प्रकार के धर्मो को देखने से स्पष्ट मालूम होता है कि 'लक्षण' के लिए इनमे केवल 'स्वभाव-धर्म' का ही उपयोग है। पूरे स्वभावधर्म

का उल्लेख कर देने मात्र से वस्तु का लक्षण हो जाता है। आकस्मिक और स्वभावसिद्ध धर्मों में चाहे कितने का भी उल्लेख क्यो न करे वस्तु का लक्षण नही बन सकता। वह अच्छा से अच्छा वर्णन[1] हो सकता है, किंतु लक्षण[2] नही। यदि कहे कि, "मनुष्य वह है जो दो पैरो वाला है, दो हाथो वाला है, घरमे रहता है, रोटी खाता है, सास लेता है, लिख-पढ सकता है, विचार करता है इत्यादि इत्यादि" तो इससे 'मनुष्य' का लक्षण नही होता। यह मनुष्य का वर्णन हुआ, 'लक्षण' नही।

§ ३—लक्षण का लक्षण[3]

स्वभावधर्म में दो बाते होती है—(१) अपनी आसन्न-जाति[4] का सामान्य, और (२) अपनी असाधारणता[5] जिससे वह अपनी सजाति से पृथक् होता है, इसे 'व्यवच्छेदक धर्म' भी कहते है।

उदाहरणार्थ, 'त्रिभुज' का स्वभाव-धर्म है—(१) क्षेत्र होना, और (२) तीन भुजाओ से घिरा होना। यहा, 'क्षेत्र' त्रिभुज की अपनी आसन्न जाति है, और 'तीन भुजाओ से घिरा होना' त्रिभुज की अपनी असाधारणता है जिससे त्रिभुज अपनी सजाति चतुर्भुज, पञ्चभुज आदि सभी अन्य क्षेत्रो से पृथक् किया जाता है।

'पक्षी' का स्वभाव धर्म है—(१) प्राणी होना, और (२) पाख वाला होना। यहा, 'प्राणी' पक्षी की अपनी आसन्न जाति है; 'पाख वाला' पक्षी की अपनी असाधारणता है जिससे पक्षी अपनी सजाति पशु, मछली, तथा मनुष्य से पृथक् किया जाता है।

---

[1] Description.

[2] Definition.

[3] Definition of Definition.

[4] Proximate Genus. [5] Differentia.

'मनुष्य' का स्वभावधर्म है—(१) प्राणी होना, और (२) विवेकशील होना। यहा, 'प्राणी' मनुष्य की अपनी आसन्न जाति है; और 'विवेकशील होना' उसकी अपनी असाधारणता है, जिससे वह अपनी सजाति पक्षी, पशु, तथा मछली से पृथक् किया जाता है।

अत, 'जाति और असाधारण धर्म का उल्लेख कर देना'[1] लक्षण का लक्षण कहा जाता है।

§४—लक्षण के नियम और उसके दोष

(१) 'लक्षण' में लक्ष्य पद के पूरे स्वभावधर्म का उल्लेख होना चाहिए। अर्थात्, उसकी आसन्न जाति का सामान्य और उसका असाधारण-धर्म, दोनो कहे जाने चाहिए। यदि इन दोनो में से एक छूट जाय, तो उस लक्षण से पद के व्यक्ति-बोध से अधिक का बोध होने लगेगा। पक्षी का यदि लक्षण करे कि, "पक्षी वह है जो प्राणी है" अथवा "पक्षी वह है जो पख वाला है", तो पहले के अनुसार पशु, मछली या मनुष्य का भी पक्षी से बोध होने लगेगा, और दूसरे के अनुसार हवाई जहाज, बिजली का पखा और उन सभी का बोध होने लगेगा जिनमे किसी प्रकार का पख लगा हो।

त्रिभुज एक क्षेत्र है, त्रिभुज तीन भुजाओ वाला है, मछली पानी मे रहने वाला है, आम एक फल है इत्यादि लक्षणो मे यही दोष है। इस दोष को अतिव्याप्ति[2] दोष कहते है।

(२) लक्षण में लक्ष्य पद के स्वभावधर्म को छोड़ और किसी दूसरे धर्म का उल्लेख नही होना चाहिए। केवल स्वभावधर्म का उल्लेख कर

---

[1] Definition is a statement of the proximate genus and the differentia of the term.

[2] The Fallacy of Too Wide Definition

देने मे पद के पूरे व्यक्तिबोध का निर्देश हो जाता है। उसके साथ साथ यदि उसके स्वभावसिद्ध धर्म का भी उल्लेख करे तो वह व्यर्थ है। "त्रिभुज वह क्षेत्र है जो तीन भुजाओ से घिरा हो, जिसके तीनो कोण मिल कर दो समकोण के बराबर होते है"—इस लक्षण में अन्तिम भाग व्यर्थ है। तीन कोणों का मिल कर दो समकोण के बराबर होना तो त्रिभुज के स्वभाव-धर्म मे ही निहित है। यह ठीक है कि इससे त्रिभुज के विषय मे हमारा ज्ञान अधिक समृद्ध हो गया। किंतु 'लक्षण' का तो यह उद्देश्य नही है। 'लक्षण' का तो उद्देश्य केवल पद के पूरे व्यक्तिबोध का निर्देश कर देना ही है; और वह तो स्वभावधर्म के उल्लेख से हो जाता है। अतः स्वभाव-सिद्ध धर्म का भी उल्लेख करना व्यर्थ है। इस दोष को व्यर्थधर्मारोप दोष[1] कहते है।

पक्षी वह प्राणी है जिसके पख होते है, और जो सास लेता है. मछली वह प्राणी है जो पानी में रहता है, और जो तैरना जानता है. मनुष्य वह विवेकशील प्राणी है, जो विचार कर सकता है इत्यादि लक्षणो में यही दोष है।

यदि लक्षण में स्वभावधर्म के साथ साथ पद के 'आकस्मिक धर्म'[2] का भी उल्लेख कर दें तो उसके व्यक्तिबोध के निर्देश में कमी आ जाती है। जैसे, "पक्षी पाख वाला प्राणी है, जो पेड़ पर घोसला लगाता है।" इस लक्षण में 'जो पेड पर घोसला लगाता है' यह पक्षी का आक-स्मिक धर्म है। इसका उल्लेख कर देने से 'पक्षी' पद का जो व्यक्तिबोध है उसमें कमी आ गई, क्योंकि पेड पर घोसला न बनाने वाले मुर्गी, बत्तक आदि पक्षियो का समावेश इसमे नही हुआ। लक्षण के इस दोष को अव्याप्ति दोष[3] कहते है।

---

[1] The Fallacy of Redundant Definition.

[2] Accident. [3] Fallacy of Too Narrow Definition.

(३) लक्षण की भाषा आलंकारिक और दुर्बोध न हो।

'लक्षण' का उद्देश्य है पद के व्यक्तिबोध को पूर्णतः स्पष्ट बता देना। आलकारिक और दुर्बोध भाषा से कुछ का कुछ समझ लिया जाने का डर रहता है, अतः इससे 'लक्षण' का उद्देश्य सिद्ध नही होता।

सिह जगल का राजा है, ज्ञान मनुष्य का रत्न है, सूर्य अन्तरिक्षविहारी जाज्वल्यमान लोकनेत्र है, इत्यादि लक्षणो मे यही दोष है। ऐसे लक्षण से तर्कशास्त्र का कोई प्रयोजन सिद्ध नही होता। इस दोष को **अलंकार दोष** या **दुर्बोध दोष**[1] कहते है।

(४) लक्षण में लक्ष्य पद या उसके पर्याय का प्रयोग न हो।

मनुष्य वह है जिसमे मनुष्यत्व हो, पक्षी हवा मे उड़ने वाली चिडिया है, शक्ति कुछ काम करने की ताकत को कहते है, कवि वह है जिसमे कविता करने का सामर्थ्य हो, इत्यादि ऐसे लक्षण है जो इस नियम का उल्लंघन करते है।

लक्षण का तो अभिप्राय यही है कि लक्ष्य पद को साफ कर दे। तब, यदि लक्षण मे ही लक्ष्य पद चला आवे तो कठिनाई दूर कहा हुई? ऐसे लक्षण को समझने के-लिए पहले लक्ष्य को समझ लेना आवश्यक होगा। किंतु, होना तो चाहिए था कि लक्ष्य को समझने के लिए लक्षण समझा जाता।

इस दोष को **अन्योन्याश्रय दोष**[2] या **पर्यायोक्ति दोष**[3] कहते हैं।

(५) जहां लक्षण विधि-मुख से हो सके वहां निषेध-मुख से नहीं करना चाहिए।

कुछ ऐसे पद है जिनका लक्षण निषेध-मुख से ही करना पडता है।

---

[1] Fallacy of Figurative or Obscure Definition.

[2] The Fallacy of Circle in Definition.

[3] The Fallacy of Synonymous Definition.

जैसे—'फेल' वह है जो पास नही हुआ, 'मृत' वह है जिसमें प्राण नही है, 'अन्धकार' वह है जहा प्रकाश नही है, इत्यादि ।

ऐसे उदाहरणो को छोड, जिन पदो के लक्षण विधि-मुख से हो सकते है उनका निषेध-मुख से करना ठीक नही । इस दोष को निषेधात्मक दोष[1] कहते है । जैसे—सत्य वह है जो झूठ नही है, जमीन वह है जो पानी नही है, मनुष्य वह है जो हैवान नही है, त्रिभुज वह है जो चतुष्कोण नही है इत्यादि ।

§ ५—लक्षण की सीमायें[2]

(क) लक्षण मे आसन्न जाति का सामान्य-धर्म कहा जाना आवश्यक है । अत 'महाजाति'[3] का लक्षण हो ही नही सकता, क्योकि इसकी कोई 'जाति' नही होती । 'सत्ता' महाजाति है । इसका लक्षण नही किया जा सकना । इसका अर्थ दूसरे पर्याय शब्दो से प्रगट कर सकते है । किंतु इसके व्यक्तिबोध की परिधि लक्षण द्वारा नही बाधी जा सकती ।

(ख) व्यक्तिवाचक भाव पदो[4] का भी लक्षण नही हो सकता । इन्हे तो साक्षात् प्रत्यक्ष करके ही जान सकते है । ललाई, मिठास, सुरीलापन, दुर्गन्धि इत्यादि क्या है लक्षण मे उन्हें निर्देश नही कर सकते जिन्होने उनका प्रत्यक्ष नही किया है । और, जिन्होने किया है उनके लिए उनका नाम ग्रहण कर लेना पर्याप्त है ।

(ग) 'व्यक्तिवाचक नामो'[5] का भी लक्षण नहीं किया जा सकता । हम ऊपर देख चुके है कि सभी व्यक्तिवाचक नाम केवल अमुक अमुक व्यक्तिबोध के सकेत मात्र है । जब उनका स्वभावबोध बिल्कुल नही होता, तब उनका लक्षण कैसे हो सकता है !

---

[1] The Fallacy of Negative Definition.
[2] Limits of Definition. [3] Summum Genus.
[4] Singular Abstract terms. [5] Proper names.

चौथा अध्याय

विभाग[1]-प्रकरण

§ १—विभाग के प्रकार

किसी एक को उसके भिन्न भिन्न भागों मे बांट देने को विभाग करना कहते है। विभाग तीन प्रकार के होते है—

(१) शारीरिक विभाग[2]—किसी अगी को उसके भिन्न भिन्न अगो मे बाट कर रखना शारीरिक विभाग है। जैसे, 'मनुष्य' के शारीरिक विभाग होगे—हाथ, पैर, शिर, इत्यादि। 'पुस्तक' के शारीरिक विभाग होगे—जिल्द, टाइटिल पेज, पन्ने। वृक्ष के शारीरिक विभाग होगे—जड, धड, शाखाये, टहनिया, पत्ते।

(२) आभिधर्मिक विभाग[3]—किसी धर्मी को उसके भिन्न भिन्न धर्मो में बाँट कर रखना आभिधर्मिक विभाग है। जैसे—'मनुष्य' के आभिधर्मिक विभाग होगे—रूप, वेदना, ज्ञान, क्रियाशक्ति : अथवा—मोटाई, लम्बाई, रग, वजन, दयालुता, क्रोध इत्यादि। 'पुस्तक' के आभि-धर्मिक विभाग होगे—मोटाई, चौड़ाई, लम्बाई, रूप, रग, उपयोगिता इत्यादि। 'वृक्ष' के आभिधर्मिक विभाग होगे—ऊँचाई, फैलाव, सघनता, रग, इत्यादि उसके सभी धर्म।

(३) शास्त्रीय विभाग[4]—किसी जाति को उसकी भिन्न भिन्न उपजातियों में बांट कर रखने को शास्त्रीय विभाग कहते है। जैसे,

---

[1] Division. [2] Physical Division.
[3] Metaphysical Division. [4] Logical Division.

'मनुष्य' के शास्त्रीय विभाग होंगे—गोरे, काले, पीले, लाल . अथवा—एसियाई, युरोपीय, अमेरिकन, अफ्रिकन, अस्ट्रेलियन इत्यादि। 'पुस्तक' के शास्त्रीय विभाग होंगे—साहित्यिक, वैज्ञानिक, धार्मिक इत्यादि। 'वृक्ष' के शास्त्रीय विभाग होंगे—आम, नीम, पीपल इत्यादि।

तर्कशास्त्र का शारीरिक या आभिधर्मिक विभाग से नहीं, किंतु शास्त्रीय विभाग से सम्बन्ध है।

ऊपर देख चुके हैं कि किस प्रकार स्वभाववोध का उल्लेख करके पद के व्यक्तिवोध की सीमा की परिधि 'लक्षण'[१] द्वारा खीच सकते है। अब, यह समझने की आवश्यकता है कि उस सीमा के भीतर उसके व्यक्ति किन सिलसिलो से व्यवस्थित है। इसके लिए 'शास्त्रीय विभाग'[२] का बडा उपयोग है।

§ २—विभाजक धर्म[३]

किसी 'जाति' को अपनी 'उपजातियों' मे बाँट देना ही शास्त्रीय विभाग है। किंतु, भिन्न भिन्न विचार से एक ही 'जाति' की भिन्न भिन्न प्रकार की उपजातिया बन सकती है। जैसे—

मजहब के विचार से 'मनुष्य' की उपजातिया होंगी—बौद्ध, ईसाई, मुसलमान, हिन्दू, पारसी, इत्यादि।

रग के विचार से 'मनुष्य' की उपजातिया होंगी—गोरे, काले, पीले, लाल।

महादेश के विचार से 'मनुष्य' की उपजातिया होंगी—एसियाई, युरोपियन, अमेरिकन, अफ्रिकन, अस्ट्रेलियन।

कद के विचार से 'मनुष्य' की उपजातिया होंगी—लम्बे, साधारण, नाटे, बौने।

---

[१] Definition [२] Logical Division
[३] Fundamentum Divisions.

धन के विचार से 'मनुष्य' की उपजातिया होगी—धनी, साधारण, गरीव। इत्यादि इत्यादि इत्यादि।

इसे देखकर स्पष्ट मालूम होता है कि किसी एक पद का ही विभाजन भिन्न भिन्न प्रकार से कर सकते है; और यह कि प्रत्येक प्रकार के विभाजन मे एक एक नियामक विचार रहता है, जिसे दृष्टि मे रख कर ही उपजातियां वनाई जाती है। उस नियामक विचार को **विभाजक-धर्म** कहते है। ऊपर जो 'मनुष्य' पद के भिन्न भिन्न प्रकार से विभाग किए गए उनमे पहले का 'विभाजक-धर्म' मजहब है, दूसरे का रग, तीसरे का महादेश, चौथे का कद और पाँचवे का धन।

§ ३—शास्त्रीय विभाग के नियम और उसके दोष

(१) **शास्त्रीय विभाजन किसी एक वर्ग का होता है, किसी व्यक्ति का नहीं**[1]। 'मनुष्य' पद जव एक वर्ग=जाति का सूचक हो तभी उसका शास्त्रीय विभाजन हो सकेगा। 'मनुष्य' पद से जब एक खास अगी या धर्मी का ग्रहण करे तब उसके 'शारीरिक' या 'आभिधर्मिक' विभाग तो होगे, किंतु उसका शास्त्रीय विभाजन न हो सकेगा।

(२) **एक बार एक ही 'विभाजक धर्म' के अनुसार विभाग किए जायेंगे**। ऊपर 'मनुष्य' पद का भिन्न भिन्न प्रकार से विभाजन करके देख चुके है कि किस प्रकार एक बार एक ही विभाजक-धर्म हो सकता है। किसी विभाजक-धर्म की नियामकता बिना स्वीकार किए किसी पद का विभाजन करना चाहे तो उसका कही अन्त ही नही होगा। यदि 'मनुष्य' के विभाग करे—मोटे, धनी, गोरे, दुबले, पीले, सुन्दर, मूर्ख, भारी....तो ऐसे विभाग से कोई उद्देश्य सिद्ध नही होता।

---

[1] Logical Division is always of a class, not of an individual

विभाग के इस दोष को, जिसमे अनेक विभाजक-धर्मो का परस्पर मिश्रण हो जाय, विभाग-सकर[1] दोष कहते है ।

(३) एक विभाजक-धर्म के अनुसार पद के जितने भी विभाग हो सकते है सभी का अवश्य उल्लेख हो जाना चाहिए । यदि कोई विभाग छूट जाय तो उतने अश मे पद का व्यक्तिबोध अविचारित रह जाता है । यदि धर्म के विचार से 'मनुष्य' के दो ही विभाग करे—'हिन्दू' और 'मुसलमान', तो इसमे यही दोष होगा । क्योकि, बौद्ध, ईसाई आदि जो दूसरे धर्मावलम्बी है उनका समावेश नही हुआ । इस दोष को 'अव्याप्त विभाग'[2] कहते है ।

(४) किसी ऐसे विभाग को स्वीकार करना नही चाहिए जिसका पद के व्यक्तिबोध में कोई स्थान नहीं है । यदि 'मनुष्य' का विभाग करते हुए कहे कि मनुष्य दो प्रकार के होते है—एक तो हाड-मास से बने मनुष्य, और दूसरे पत्थर की बनी मूर्तिया—तो यह शास्त्रीय विभाग नही होगा । पत्थर की मूर्तिया 'मनुष्य' पद के व्यक्तिबोध मे सम्मिलित नही है, अतः यहा उनका कोई विभाग नही बन सकता । विभाग के इस दोष को अतिव्याप्त-विभाग[3] कहते ह ।

(५) सभी विभागो के व्यक्तिबोध का योग विभाज्य पद के व्यक्तिबोध के बराबर ही होगा । यह कोई नया नियम नही है, किंतु ऊपर के दो नियमो का ही सार है । 'मनुष्य' पद को महादेश के विचार मे विभाग कर सकते है—एशियाई, युरोपियन, अमेरिकन, अस्ट्रेलियन और अफ्रिकन । यह सच्चा शास्त्रीय विभाग है, क्योकि इन विभागो के व्यक्तिबोध का योग विभाज्य पद 'मनुष्य' के व्यक्तिबोध के बराबर ही है । यदि कम हो तो 'अव्याप्त' दोष होता है, और अधिक हो तो 'अतिव्याप्त' दोष ।

---

[1] Cross Division. [2] Too Narrow Division.
[3] Too Wide Division

(६) शास्त्रीय विभाजन में एक विभाग दूसरे से सर्वथा पृथक् होता है। 'मनुष्य' पद को एसियाई, युरोपियन आदि विभागो मे जो बाँटा है उनमे एक विभाग दूसरे से सर्वथा पृथक् है। 'एसियाई' 'युरोपियन' से सर्वथा पृथक् है, क्योकि कोई एसियाई युरोपियन नही है, और कोई युरोपियन एसियाई नही है।

यदि किन्ही दो विभागो के कुछ भाग इसमे और कुछ उसमे चले आवे तो इस दोष को **परस्पर व्याप्त**[1] विभाग कहते हैं।

(७) सभी विभाग विभाज्य पद की आसन्न[2] उपजातियां होनी चाहिए, दूरस्थ[3] नहीं। 'मनुष्य' पद के यदि विभाग करने लगे—पजाबी, गुजराती इत्यादि, तो यह उचित नही होगा, क्योकि पजाबी, गुजराती इत्यादि 'मनुष्य' की दूरस्थ उपजातिया है, आसन्न नही। 'मनुष्य' को पहले महादेश के विचार से, और फिर देश के विचार से विभाग कर लेना चाहिए था। तब जा कर प्रान्त के विचार से विभाग करना उचित होता।

इस दोष को **संकीर्ण-विभाग**[4] कहते है।

§ ४—भावाभावात्मक विभाग[5]

शास्त्रीय-विभाजन का यह प्रधान नियम है कि "भिन्न भिन्न विभाग परस्पर-व्याप्त न हो; और सभी विभागो का योग विभाज्य पद के वरावर हो"।

अव, अमुक विभाजन मे इन दो वातो की पूर्ति हुई या नही इसे जानने के लिए उस विषय को अच्छी तरह जानना आवश्यक होगा। किंतु, ऊपर देख चुके हैं कि तर्कशास्त्र प्रधानत 'रूप-विषयक' है, 'विषय-विषयक'

---

[1] Overlapping Division. [2] Proximate Species.
[3] Remote Species. [4] Narrow Division.
[5] Division by Dichotomy.

नहीं। विषय के ज्ञान का अन्वेषण करना तर्कशास्त्र का काम नहीं है।

इस कठिनाई से बचने के लिए कुछ तर्कशास्त्रियो ने विभाजन की प्रक्रिया का एक 'रूप' बनाया है, जिसके लिए विषय के ज्ञान की वैसी आवश्यकता नही होती। इस 'रूप' मे प्रत्येक पद के दो विभाग होते है जो परस्पर 'विरुद्ध'[1] के रूप मे रखे जाते है। इस तरह, उनके परस्पर व्याप्त होने का भी भय नहीं रहता . और उन दोनो का योग निश्चय रूप से विभाज्य पद के बराबर ठहरता है। क्योकि, ऊपर हम देख चुके है कि दो विरुद्ध पद अपने 'अवगति-क्षेत्र'[2] को पूर्णत व्याप्त कर लेते है। [पृ० ६१] और, यह 'अवगति-क्षेत्र' उनकी आसन्न-जाति ही तो है।

इस प्रक्रिया को अगरेजी मे 'डिकोटोमी' कहते है, जिसका अर्थ होता है 'दो टुकडे कर देना'। इसे हमने यहा 'भावाभावात्मक विभाग' कहा है। इसका एक विभाग विधि-रूप मे होता है, और दूसरा निषेध-सूचक 'अ' अक्षर जोड कर उसका बना 'विरुद्ध' स्वरूप। जैसे—
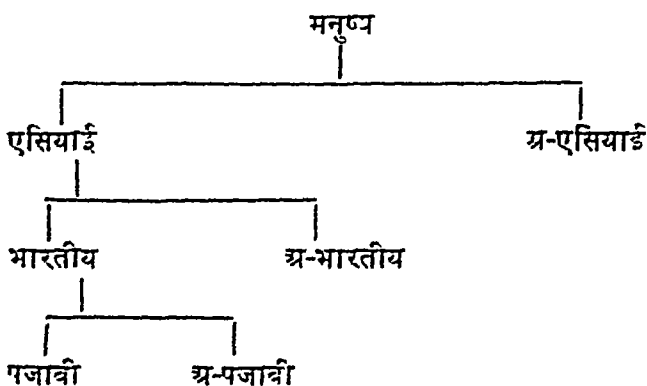
[1] Contradictory.

[2] Universe of Discourse.

जहा तक 'रूप' का सम्वन्ध है यह विभाजन-प्रक्रिया वडी अच्छी है। इसमे शास्त्रीय-विभाजन के सभी नियमो का पालन निश्चित रूप से हो जाता है, और 'विषय' के पूरे ज्ञान की भी अपेक्षा नही रहती। किंनु, इस प्रक्रिया मे सवसे वडा दोष यह है कि इसका अभावात्मक विभाग विल्कुल अस्पष्ट रह जाता है।

पाँचवाँ अध्याय

वाक्य-प्रकरण

पहला भाग

(वाक्य का रूप[1])

§ १—पद और वाक्य

'विचार' की इकाई

पिछले प्रकरण मे हम लोगो ने 'पद' के स्वरूप, प्रकार, परस्पर सम्बन्ध, लक्षण और विभाग पर विचार किया। 'पद' के विचार से तर्कशास्त्र का प्रारम्भ होता है यह ठीक है। किंतु क्या सचमुच हमारे विचार की प्रक्रिया 'पद' मे प्रारम्भ होती है ? क्या हमारे मन मे कोई पद स्वतंत्र रूप से आता है ? 'मनुष्य खाता है, या बैठा है, या अच्छा है', ऐसा विना विचार किए क्या हम केवल 'मनुष्य' पद का विचार कर सकते है—जो न खाता हो, न बैठा हो, न कुछ भी हो ? तनिक ध्यान देने से स्पष्ट प्रतीत होगा कि ऐसा विचार करना सम्भव नहीं है। यथार्थ में किसी विचार का उद्गम 'पद' के रूप मे नही, किंतु 'वाक्य' के रूप मे होता है। छोटा बच्चा, जिसने अभी वाक्य बोलना नहीं सीखा है, बिल्ली को देख कर गद्गद हो जाता है और अपनी मा का ध्यान आकृष्ट करके बोल उठता है 'बिल्ली'। किंतु यथार्थ मे वह कहना चाहता है कि—बिल्ली आई, या जा रही है, या बडी अच्छी है। अत, 'यह ऐसा है' इसी

[1] Forms of Proposition

रूप को ग्रहण किए किसी भी विचार की उत्पत्ति होती है। तब हम कह सकते है कि विचार की इकाई 'पद' नही किंतु 'वाक्य' है।

शब्द मे प्रकट करने के पहले ही जो 'पद' का भाव मन मे रहता है उसे 'प्रत्यय'[1] कहते है। और, शब्द मे प्रकट करने के पहले ही जो हम मन ही मन दो प्रत्ययो के बीच किसी सम्बन्ध की स्थापना कर लेते है उसे 'अध्यवसाय'[2] कहते है। अध्यवसाय जब शब्दो मे व्यक्त होता है तब उसे 'वाक्य' कहते है। प्रत्यय और अध्यवसाय मन के भीतर की प्रक्रिया है, इसलिए इनका सम्बन्ध मानसशास्त्र से है न कि तर्कशास्त्र से। प्रत्यय या अध्यवसाय से तर्कशास्त्र का सम्बन्ध तभी होता है जब वे भाषा मे व्यक्त हो कर 'पद' या 'वाक्य' का रूप ग्रहण कर लेते है। इसीलिए, यहा 'पद' और 'वाक्य' शब्दो का प्रयोग किया गया, प्रत्यय और अध्यवसाय का नही। जो हो, तर्कशास्त्र को तो यह समझा देना है कि मानसिक विश्लेषण से भले ही हम 'पद' के विषय मे स्वतत्र रूप से विचार कर ले, किंतु अपने मे एक समस्त इकाई तो वाक्य ही है। किसी पद के शास्त्रीय महत्व की परीक्षा तभी हो सकती है जब इस पर वाक्य की व्यवस्था की दृष्टि से विचार करे।

§ २—विधेय-पद के प्रकार

हम अभी देख चुके है कि 'यह ऐसा है' इसी रूप को ग्रहण किए किसी भी विचार की उत्पत्ति होती है। वाक्य की व्यवस्था यही है। अब प्रश्न होता है कि 'यह ऐसा है' वाक्य के इस रूप को कितने प्रकार से समझ सकते है ? इसका उत्तर साफ है कि इसको उतने ही प्रकार से समझ सकते है जितने प्रकार के ससार मे पदार्थ है। पाश्चात्य तर्कशास्त्र के आदि प्रणेता दार्शनिक अरस्तू ने ऐसे दस प्रकार के पदार्थों[3] की स्थापना

---

[1] Concept [2] Judgment [3] Categories.

की है—(१) द्रव्य, (२) परिमाण, (३) गुण, (४) सम्बन्ध, (५) दिशा, (६) काल, (७) परिस्थिति, (८) अवस्था, (९) क्रिया और (१०) कर्म।[1]

यह मनुष्य है, पत्थर है, कलम है, हवा है—सभी को 'द्रव्य' के अन्तर्गत कर सकते हैं। यह छोटा है, बड़ा है, इत्यादि सभी 'परिमाण' है। यह अच्छा है, मीठा है, सुन्दर है, इत्यादि सभी 'गुण' है। यह गुरुतर है, सुन्दरतम है इत्यादि सभी 'सम्बन्ध' है। यह दूर है, निकट है, भीतर है इत्यादि सभी 'दिशा' है। यह सवेरा है, शीघ्र है, देर है इत्यादि सभी 'काल' है। यह बीमार है, यह प्रसन्न है इत्यादि सभी 'परिस्थिति' है। यह उल्टा है, सीधा है, इत्यादि सभी 'अवस्था' है। यह जाता है, आता है इत्यादि सभी 'क्रिया' है। यह देख लिया गया, यह हरा दिया गया इत्यादि सभी 'कर्म' है।

संसार की सारी चीजों को इन्हीं दस प्रकार से समझ सकते हैं; क्योंकि जितनी भी चीज़ें हैं इन दस पदार्थों में से किसी न किसी एक के भीतर अवश्य चली आयेंगी। इसलिए, 'यह ऐसा है' वाक्य के इस स्वरूप को इन्हीं दस प्रकारों से समझ सकते हैं। अर्थात्, किसी वाक्य का विधेय-पद इन्हीं दस प्रकारों से समझा जा सकता है।

§ ३—उद्देश-पद के सम्बन्ध में विधेय-पद[2]

अभी हमने जो देखा कि विधेय-पद दस प्रकार के पदार्थ हो सकते हैं, उनका आधार संसार की चीजों का वर्गीकरण था। अब, एक दूसरी दृष्टि से विधेय-पद के प्रकारों का निश्चय करना आवश्यक है। वह है—उसके उद्देश-पद के सम्बन्ध की दृष्टि से।

---

[1] (१) Substance, (२) Quantity, (३) Quality, (४) Relation, (५) Place, (६) Time, (७) Situation, (८) State, (९) Action, (१०) Passivity. [2] Predicables.

उद्देश-पद के सम्बन्ध की दृष्टि से विधेय-पद पॉच प्रकार के हो सकते हैं—(१) जाति, (२) उपजाति, (३) व्यवच्छेदक धर्म, (४) स्वभाव-सिद्ध-धर्म और (५) आकस्मिक धर्म।[1]

उदाहरणार्थ, सभी 'भारतीय' 'मनुष्य' है—इस वाक्य मे विधेय उद्देश के सम्बन्ध मे जाति है। कुछ 'मनुष्य' 'भारतीय' है—इस वाक्य मे विधेय उद्देश के सम्बन्ध मे उपजाति है। सभी 'मनुष्य' 'विवेकशील' है—इस वाक्य मे विधेय उद्देश के सम्बन्ध मे व्यवच्छेदक धर्म है। सभी 'मनुष्य' 'सास लेते' है—इस वाक्य मे विधेय उद्देश के सम्बन्ध मे स्वभाव-सिद्ध धर्म है। सभी 'मनुष्य' 'कपडा पहनते' है—इस वाक्य मे विधेय उद्देश के सम्बन्ध मे आकस्मिक धर्म है।

§ ४—वाक्य क्या है ?

ऊपर देख चुके है कि—'यह' 'ऐसा' है : अथवा, 'क' 'ख' है—यही वाक्य का स्वरूप है। वाक्य मे दो पदो के बीच कोई सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। कोई 'मनुष्य' 'अमर' नही है, इत्यादि निषेधात्मक वाक्यो मे भी उद्देश और विधेय के बीच कोई सम्बन्ध ही स्थापित किया जाता है। किसी सम्बन्ध का न होना भी तो एक सम्बन्ध ही है। शत्रु का शत्रु से जो कोई सम्बन्ध नही है वह भी तो एक सम्बन्ध ही है। सम्बन्ध सम्बन्ध का हो या विरोध का, दोनो सम्बन्ध ही है। अत, विधानात्मक या निषेधात्मक, दोनो वाक्य उद्देश और विधेय के बीच सम्बन्ध स्थापित करते है।

यह सम्बन्ध स्थापित करना केवल एक मानसिक प्रक्रिया नही है। किंतु, साथ ही साथ, वह वाक्य सत्य होने का दावा करता है। यह कि, बाह्य ससार मे वस्तु-स्थिति से उसका सवाद है। यदि वाक्य मे यह सत्य-

---

(१) Genus, (२) Species, (३) Differentia, (४) Property, (५) Accident.

प्रतिपादनता नहीं रहे तो उससे तर्कशास्त्र को कोई प्रयोजन नहीं, क्योंकि तर्कशास्त्र का लक्ष्य तो सत्य ही है।

अनुज्ञात्मक, इच्छार्थ, विस्मयादि बोधक, तथा प्रश्नात्मक वाक्य—जैसे, आम लावो, तुम्हारा कल्याण हो, अरे वह मर गया, तुम क्या करते हो—केवल हमारे मन के भाव हैं। इन वाक्यों में सत्यासत्य विवेक की बात ही नहीं उठती। इस कारण, तर्कशास्त्र को ऐसे वाक्यों से कोई मतलब नहीं।

कभी कभी प्रश्न पूछ कर, या विस्मय प्रगट करके ही हम किसी बात का होना या न होना व्यक्त करते हैं। जैसे, क्या मैं तुम्हारी किताब चुराने वाला हूँ ! ! इसका अर्थ यह होता है कि—'मैं' 'तुम्हारी किताब चुराने वाला' नहीं हूँ। यदि ऐसी व्यञ्जना निकले तो अलबत्ता वह वाक्य तर्कशास्त्र के काम का हो सकता है अपने पहले रूप में नहीं, किंतु अपने व्यक्त रूप में।

तब, कह सकते हैं कि तर्कशास्त्र की दृष्टि से वाक्य वह है जो दो पदों के बीच किसी सम्बन्ध का बोध करावे, और जिसमें सत्य-प्रतिपादनता का भाव हो।

§ ५—वाक्य के अंग

वाक्य के अंग तीन हैं—उद्देश, विधेय और संयोजक। उद्देश[1] वह पद है जिसके विषय में कुछ कहा जाय। विधेय[2] वह पद है जो कुछ उद्देश के विषय में कहे। और, संयोजक[3] 'होना' क्रिया का वह रूप है जो उद्देश और विधेय के बीच सम्बन्ध की सूचना दे।

उदाहरणार्थ, सभी 'मनुष्य' 'मरणधर्मा' हैं। यहाँ, 'मनुष्य' पद उद्देश है, क्योंकि इसी के विषय में कुछ कहा गया है। 'मरणधर्मा' पद विधेय है, क्योंकि उद्देश के विषय में यही बात कही गई है। और 'हैं' यह

---

[1] Subject [2] Predicate [3] Copula

क्रिया का रूप सयोजक है, क्योकि यही उद्देश और विधेय के बीच सम्बन्ध की सूचना देता है।

उद्देश और विधेय पदो के विषय मे काफी चर्चा हो चुकी है। यहा 'सयोजक' के स्वरूप के विषय मे कुछ आवश्यक विचार कर ले।

संयोजक का स्वरूप

सयोजक 'है' शब्द किसकी विद्यमानता को सूचित करता है ? कुछ लोगो का कहना है कि यह उद्देश की विद्यमानता को सूचित करता है। किंतु, यह ठीक नही। 'वह' 'मर गया' है—इस वाक्य मे भला सयोजक उसकी विद्यमानता कैसे बतावेगा जो है ही नही ? यथार्थ यह है कि सयोजक न तो उद्देश की और न विधेय की विद्यमानता बताता है, किंतु वह यदि किसी की विद्यमानता को बताता है तो उस पूरी बात की विद्यमानता को जिस बात को वह वाक्य व्यक्त करता है और जिसकी सत्यता का प्रतिपादन करता है।

सयोजक में काल

जो बात सत्य है वह काल के बन्धन से नही बाधी जा सकती। अकबर भारतवर्ष का राजा हुआ—यह बात भूत काल मे सत्य थी, आज भी यह बात सत्य है, और भविष्य मे सदा यह बात सत्य रहेगी। भारत-वर्ष मे स्वराज्य होगा—यह बात भविष्य मे सत्य होगी, यह आज भी सत्य है, और पहले भी सत्य थी। त्रिकालाबाधित सारा विश्व एक व्यवस्था है. इसमे जो बात सत्य है वह सर्वदा सत्य है।

इसलिए, तर्कशास्त्र मे वाक्य का सयोजक 'है' क्रिया का रूप सर्वदा वर्तमानकाल में रहता है। भूत तथा भविष्यत् की घटनाओ को भी, उनके काल की रक्षा करते हुए, तर्कशास्त्र के वाक्य मे 'है' सयोजक के द्वारा सूचित करते है। वह घर जा रहा था. या वह घर जायगा, इन वाक्यो को

तर्कशास्त्र की भाषा मे कहेंगे—'वह' 'जो घर जा रहा था सो' है : 'वह' 'जो घर जायगा सो' है।

सयोजक और निषेध

निषेधात्मक वाक्य म निषेधसूचक शब्द—न, नही—'सयोजक' का अङ्ग समझा जाय या विधेय का, इस वात पर भी वडा मतभेद है। हॉब्स प्रभृति कुछ दार्शनिको का मत है कि निषेध-शब्द को विधेय के साथ मिला देना चाहिए, और सभी वाक्य को विधानात्मक रूप दे देना चाहिए। उनके विचार से सयोजक-क्रिया का रूप सर्वदा विधि मे होना चाहिए। अत, उनके अनुसार, कुछ 'पशु' 'घोडे' नही है, इस वाक्य का रूप वदल कर इस प्रकार कर देना उचित है—कुछ 'पशु' 'अ-घोडे' है।

किंतु, विचार करने से ज्ञात होता है कि निषेध-शब्द को इस प्रकार विधेय-पद के साथ जवरदस्ती लगा देने से वडी अस्वाभाविकता आ जाती है, और कुछ हद तक वाक्य का भाव भी वदल जाता है। कुछ 'पशु' 'घोडे' नही है—इस वाक्य का अर्थ है कि कुछ पशुओ से समस्त घोडो की भिन्नता है। किंतु, कुछ 'पशु' 'अ-घोडे' है—इस वाक्य का अर्थ है कि कुछ पशुओ के साथ कुछ अ-घोडो की समानता है।

इससे सिद्ध होता है कि निषेध-शब्द 'सयोजक' के साथ ही सम्वद्ध होना चाहिए, विधेय के साथ नही। सयोजक विधानात्मक भी होगा, और निषेधात्मक भी।

§ ६—लौकिक वाक्य और तार्किक वाक्य

भाषा मे एक ही वाक्य अनेक प्रकार से प्रकट किया जा सकता है, जिनके वाह्य रूप अत्यन्त भिन्न होने पर भी उनका अर्थ एक ही हो सकता है। उदाहरण के लिए इन तीन वाक्यो को ले—

१. केवल टिकट वाले ही भीतर आ सकते है।

२ कोई बेटिकट वाले भीतर नही आ सकते है।

३ वे ही भीतर आ सकते है जो टिकट वाले है।

इन तीन वाक्यो के रूप एक दूसरे से भिन्न है, तो भी उनके अर्थ मे कोई भेद नही है। रूप की इन भिन्नताओ के कारण विचार के सिलसिले मे भ्रान्ति होने का बडा डर रहता है। इस डर से बचने के लिए तर्क-शास्त्रियो ने वाक्य के केवल चार रूप निश्चित कर लिए है, जिनमे किसी एक न एक मे किसी वाक्य को ला कर ही उस पर शास्त्रीय विचार किया जाना चाहिए। वाक्य के चार निश्चित रूप है[1]—

१. सभी 'क' 'ख' है,—सामान्य विधि

२ कोई 'क' 'ख' नही है,—सामान्य निषेध

३. कुछ 'क' 'ख' है,—विशेष विधि

४. कुछ 'क' 'ख' नही है,—विशेष निषेध[2]

व्यवहार के वाक्यो को इन रूपों मे लाने के लिए यही ध्यान मे रखना होगा कि अर्थ मे किसी प्रकार की क्षति न हो, और वाक्य के उद्देश, विधेय तथा सयोजक पृथक् पृथक् साफ मालूम हो जायं। इसके लिए कुछ नियम यहा दिए जाते है—

(१) सभी, प्रत्येक, हर एक, सब, सब कोई, इन जैसे शब्दो से प्रारम्भ होने वाले विधानात्मक वाक्य 'सामान्य' समझे जायेगे, और वे पहले वाक्य के रूप मे रहेगे—सभी 'क' 'ख' है। किंतु यदि उनमे निषेधात्मक शब्द 'नही' उपस्थित हो, तब वे 'विशेष' समझे जायेगे, और उनका रूप चौथे वाक्य के अनुसार होगा—कुछ 'क' 'ख' नही है। जैसे—

प्रत्येक मनुष्य अज्ञ है
सब मनुष्य अज्ञ है } = सभी 'मनुष्य' 'अज्ञ' है।

[1] विशेष देखिए पृ० १०१

[2] (१) Universal Affirmative. (२) Universal Negative. (३) Particular Affirmative. (४) Particular Negative.

किंतु,

प्रत्येक मनुष्य अज्ञ नहीं है }
सब मनुष्य अज्ञ नहीं है } =कुछ 'मनुष्य' 'अज्ञ' नहीं है।

जिन वाक्यो के उद्देशपद व्यक्तिवाचक सज्ञा हो, उनके आगे 'सभी' शब्द नहीं लगाया जाता। तो भी उन्हे 'सामान्य' ही समझना चाहिए, क्योंकि उनके उद्देश अपने मे पूर्णार्थक है। जैसे—'मोहन' 'अच्छा लडका' है।

(२) हमेशा, बिलकुल, स्वभावतः, निश्चयपूर्वक इन जैसे शब्दो वाले वाक्यो में भी ऊपर के ही नियम लागू होगे। जैसे—

बिलकुल मनुष्य अज्ञ है }
मनुष्य हमेशा अज्ञ है } =सभी 'मनुष्य' 'अज्ञ' है
मनुष्य स्वभावत अज्ञ है }

किन्तु

बिलकुल मनुष्य अज्ञ नही हैं }
मनुष्य हमेशा अज्ञ नही है } =कुछ 'मनुष्य' 'अज्ञ' नही है।
मनुष्य स्वभावत अज्ञ नही है }

(३) कोई भी, इससे प्रारम्भ होने वाले विधानात्मक या निषेधात्मक दोनो वाक्य सामान्य होगे। विधानात्मक वाक्य पहले रूप के अनुसार होगे। और, निषेधात्मक वाक्य का दूसरा रूप रहेगा। जैसे—

कोई भी लडका जानता है=सभी 'लडके' 'जानते' हैं,
कोई भी लडका नही जानता है=कोई 'लडके' 'जानते' नही है।

(४) कभी नहीं, बिलकुल नहीं जैसे शब्दो वाले वाक्य 'सामान्य निषेध' होगे, और उनका रूप दूसरे वाक्य के अनुसार होगा। जैसे—

लड़के कभी नहीं जानते }
बिलकुल लड़के नहीं जानते } =कोई 'लडके' 'जानते' नही है।

(५) कुछ, कोई कोई, बहुतेरे, अनेक, प्राय., अधिक, इन जैसे शब्दो

वाले वाक्य 'विशेष' होते हैं। विधानात्मक होने से उनके रूप तीसरे वाक्य के अनुसार, और निषेधात्मक होने से उनके रूप चौथे वाक्य के अनुसार होगे। जैसे—

कोई कोई लडका आया (नही) है वहुतेरे लड़के आये (नही) है अनेक लड़के आये (नही) है प्राय लडके आये (नही) है अधिक लडके आये (नही) है	=कुछ 'लडके' 'आये' (नही) हैं।

(६) बिरले, शायद ही कोई, कोई मुश्किल से, इन शब्दो वाले वाक्य 'विशेष निषेध' होते है, क्योकि इन शब्दो मे निषेधकशक्ति है। इन शब्दो के साथ यदि निषेध-शब्द 'नही' का भी प्रयोग हुआ हो तो वह वाक्य विधानात्मक समझा जायगा, क्योकि दो बार निषेध करने का अर्थ होता है विधान करना। जैसे—

विरले मनुष्य ज्ञानी है शायद ही कोई मनुष्य ज्ञानी है कोई मनुष्य मुश्किल से ज्ञानी है	=कुछ 'मनुष्य' 'ज्ञानी' नही हैं।

किंतु— विरले मनुष्य ज्ञानी नही है शायद ही कोई मनुष्य ज्ञानी नही है कोई मनुप्य मुश्किल से ज्ञानी नही है	=कुछ 'मनुष्य' 'ज्ञानी' हैं।

(७) केवल, सिर्फ, ही, इन शब्दो वाले वाक्य को 'अनन्य साधारण वाक्य' कहते है। ऐसे वाक्य 'सामान्य' होते हैं। उन्हे विधानात्मक या निषेधात्मक दोनो रूप दिये जा सकते है। विधानात्मक वाक्य का रूप देने के लिए मूल वाक्य के उद्देश और विधेय के स्थानो में परिवर्तन कर देते हैं। और, निषेधात्मक रूप देने के लिए मूल वाक्य के उद्देश

मे निषेध-सूचक 'अ' शब्द लगा कर उसका विरुद्ध रूप दे देते है, और वाक्य का रूप दूसरे वाक्य के अनुसार बनाते है। जैसे—

केवल पण्डित लोग इसे समझते है, अथवा पण्डित लोग ही इसे समझते है	= विधि—सभी 'जो इसे समझते हैं' 'पण्डित' है, निषेध—कोई 'अपण्डित' 'इसे समझने वाले' नही है।

(८) अपवादात्मक वाक्य—अपवाद का विषय यदि निश्चित हो तो उस वाक्य को 'सामान्य' समझना चाहिए। और, यदि अपवाद का विषय अनिश्चित हो तो उस वाक्य को 'विशेष' समझना चाहिए। जैसे—

मोहन को छोड सभी लड़के अच्छे है=
सभी 'लडके, मोहन को छोड' 'अच्छे' है।

एक को छोड सभी लडके अच्छे है=
कुछ 'लडके' 'अच्छे' है।

मोहन को छोड़ कोई लडके अच्छे नही है=
कोई 'लडके, मोहन को छोड' 'अच्छे' नही है।

एक को छोड कोई लडके अच्छे नही है=
कुछ 'लडके' 'अच्छे' नही है।

(९) यदि निषेध-सूचक शब्द विधेय-पद के साथ युक्त हो, सयोजक के साथ नही, तो वह वाक्य विधानात्मक रूप ग्रहण करेगा। जैसे—

कोई मनुष्य नही ज्ञानी है=सभी 'मनुष्य' नही-'ज्ञानी (=अज्ञानी)' है।

(१०) अकर्तृक वाक्य—बडी गर्मी है, यह दिन है, चार बजा है, इत्यादि अकर्तृक वाक्य है, जिनके कर्ता का स्पष्ट उल्लेख नही है। इन वाक्यो पर तर्कशास्त्र की दृष्टि से विचार करने के पूर्व इनके स्पष्ट उद्देश और विधेय पदो को दिखा कर उन वाक्य को किसी निश्चित रूप मे

बदल लेना चाहिए। जैसे—'मौसिम' 'बड़ा गर्म' है, 'यह समय' 'दिन' है, 'यह समय' 'चार बजने का' है, इत्यादि।

§ ७—वाक्य के अभिप्राय की परिधि

सामान्य विधि, सामान्य निषेध, विशेष विधि, और विशेष निषेध—इन चार प्रकार के वाक्य-रूप निश्चित कर लेने से शास्त्रीय विचार करने मे आने वाली अनेक कठिनाइया दूर हो जाती है। किंतु, इन वाक्यो के अभिप्राय ठीक ठीक समझने के लिए उनके बाह्य रूप पर ही निर्भर करने से काम नही चलेगा। सभी लोग जान गए हैं, सभी लोग धन कमाना चाहते हैं, सभी लोग मरणधर्मा है—इनके रूप समान होने पर भी तीनो वाक्यो मे उद्देश-पद 'सभी लोग' भिन्न भिन्न अर्थ मे प्रयुक्त हुए है। पहले वाक्य मे 'सभी लोग' से अभिप्राय उन्ही लोगो का है जिनसे वह बात गुप्त रखने का प्रयत्न किया जा रहा था—ऐसे लोग तीन, चार, दस, हजार, कुछ भी हो सकते हैं। दूसरे वाक्य मे 'सभी लोग' का अर्थ है सभी साधारण लोग, क्योकि ऐसे भी अनेक महात्मा हो सकते है जिनका उद्देश्य धन कमाना नही किंतु कुछ दूसरा ही हो। तीसरे वाक्य मे 'सभी लोग' का अर्थ है वह सारा व्यक्तिबोध जो इस पद से जाना जाता है। यह देख कर स्वीकार करना होगा कि वाक्य का चाहे कोई भी रूप क्यो न हो उसे ठीक ठीक समझने के लिए वक्ता के अभिप्राय के निकट आना ही होगा। बहुधा ऐसा होता है कि हमलोगो के व्यवहार की भाषा मे वाक्य के बाह्य स्वरूप जितनी व्यापकता का बोध करते हैं उससे अत्यन्त कम व्यापक हमारा अभिप्राय होता है। यदि तर्कशास्त्र वाग्जाल से बचा कर सत्य की प्राप्ति कराता है तो उसे इस भेद की उपेक्षा नही करनी होगी। विश्व के जिस क्षेत्र में वक्ता का अभिप्राय सीमित रहता है उसे 'वाक्य के अभिप्राय की परिधि' कहते है। वाक्य मे इस परिधि का कोई उल्लेख नही होता है, यह तो वक्ता के अभिप्राय को समझ कर ही निश्चित किया जा सकता है।

यह स्मरण रखना चाहिए कि वक्ता के अभिप्राय की उपेक्षा करके विचार करने में इस बात का बड़ा खतरा है कि कहीं एक ही पद के भिन्न भिन्न प्रयोग गलत न समझ लिए जाय। उदाहरण के लिए, यह तर्क लिखना भ्रमपूर्ण होगा—

सभी घर निर्जीव पदार्थ है,
मनुष्य रोगों का घर है,
मनुष्य निर्जीव पदार्थ है।

§ ८—विधान के सिद्धान्त[1]

वाक्य के अर्थ के स्वरूप के विषय में भिन्न दार्शनिकों के जो मत हैं उन्हें 'विधान के सिद्धान्त' कहते हैं। प्रत्येक वाक्य उद्देश और विधेय पदों के सम्बन्ध या विरोध का विधान करता है। प्रत्येक वाक्य यही बताता है कि 'यह ऐसा है' या 'यह ऐसा नहीं है'। वाक्य के अर्थ के स्वरूप के विषय का कोई मत उसके उद्देश, विधेय तथा उनके सम्बन्ध की परीक्षा पर निर्भर होगा। कुछ विद्वान उद्देश और विधेय के अभिप्राय का निर्णय एक प्रकार से करते हैं, और कुछ दूसरे दूसरे प्रकार से। उनके सम्बन्ध के विषय में भी वैसा ही मतभेद है। उनकी परीक्षा संक्षेप में कर लेना आवश्यक है।

वाक्य के पद या तो व्यक्तिबोध कराते हैं, या स्वभावबोध। और, उनका सम्बन्ध या तो आनन्तर्य का[2], या साहचर्य का[3], या समानता-असमानता[4] का होता है।

तर्कशास्त्र की दृष्टि से चार भिन्न भिन्न मत ये हैं—

---

[1] Theories of Predication.

[2] Succession. [3] Co-existence.

[4] Equality and Unequality.

(१) विधान-वाद[1]—इस मत के अनुसार वाक्य का उद्देश अपने व्यक्तिबोध का, और विधेय अपने स्वभाव-बोध का प्रतिपादन करता है। अतः, इसके अनुसार—सभी मनुष्य मरणशील है—इस वाक्य का अर्थ यह हुआ कि 'मनुष्य' नाम से समझे जाने वाले जितने भी लोग है सभी मे 'मरणशीलत्व' नाम का धर्म विद्यमान है। उसी तरह, कोई मनुष्य पूर्ण नही है, इस वाक्य का यह अर्थ हुआ कि जितने 'मनुष्य' लोग है उनमे किसी मे भी 'पूर्णत्व' नामक धर्म नही है। इस मत के प्रधान पोषक डा० मार्टिनिड तथा डा० वेन है। उनका कहना है कि वाक्य वस्तु और धर्म के सम्बन्ध को सूचित करता है। साधारणत लोगो का विचार इसी मत के अनुकूल होता है।

(२) व्यक्तिबोध-वाद[2]—इस मत के अनुसार वाक्य के उद्देश और विधेय दोनो अपने अपने व्यक्तिबोध के सूचक है। और, इनका सम्बन्ध इसमें है कि कौन किसके अन्तर्गत होता है, या कौन किसके बाहर पडता है। वाक्य यदि विधानात्मक हो, तो एक पद दूसरे के अन्तर्गत होगा, और यदि निषेधात्मक हो तो एक पद दूसरे के बाहर पड़ेगा।

इस मत के अनुसार, सभी मनष्य मरण-शील है, इस वाक्य का अर्थ यह हुआ कि मरणशील जितने भी प्राणी है उनमे अन्तर्गत मनुष्य लोग भी है। और, कोई मनुष्य पूर्ण नही है, इस वाक्य का अर्थ यह हुआ कि जितने भी मनुष्य लोग है सभी पूर्ण कहे जा सकने वाले लोगो से बाहर पडते है।

आगे चल कर देखेगे कि अनुमान की प्रक्रिया मे सभी जगह वाक्य के अर्थ इसी मत के अनुसार लिए गए है।

(३) स्वभावबोध-वाद या धर्म-वाद[3]—इस मत के अनुसार वाक्य के दोनो पद अपने अपने स्वभावबोध के सूचक है। तब, सभी मनुष्य

---

[1] Predicative view. [2] Denotative view.
[3] Connotative or Attributive view.

मरणशील है, इस वाक्य का यह अर्थ हुआ कि मनुष्यत्व धर्म के साथ मरण-शीलत्व धर्म लगा हुआ है। अर्थात् मनुष्यत्व के साथ मरणशीलत्व का साहचर्य-सम्बन्ध है। कोई मनुष्य पूर्ण नही है, इस वाक्य का यह अर्थ हुआ कि मनुष्यत्व धर्म का पूर्णत्व धर्म से बिल्कुल विरोध है। कुछ मनुष्य दयालु है, इस वाक्य का यह अर्थ हुआ कि मनुष्य के जो धर्म है उनमें दयालुता भी एक धर्म है। कुछ मनुष्य दयालु नही है, इस वाक्य का यह अर्थ हुआ कि मनुष्य के जो धर्म है उनमें कुछ का दयालुता धर्म से बिल्कुल विरोध है। इस सिद्धान्त के पोषक है प्रसिद्ध दार्शनिक मिल्।

(४) समन्वय-वाद[1]—यह मत पूर्व के दो मतो का सम्मिलित रूप है। इसके अनुसार वाक्य के दोनो पद व्यक्तिबोध और स्वभावबोध किसी भी अर्थ मे लिए जा सकते है। इस मत का पोषक दार्शनिक हैमिल्टन लिखता है, "अध्यवसाय या वाक्य का लक्षण इस प्रकार कर सकते है कि यह उस व्यवसाय का फल है जिसमे हम दो प्रत्ययो को सूचित करते है, जिसमें एक उद्देश और दूसरा विधेय समझ लिया जाता है, जिसमें एक दूसरे के अन्तर्गत हो कर रहता है अथवा नही रहता है, या तो विस्तार की दृष्टि से या धर्म की दृष्टि से।"

[Logic, I, p 229.]

[1] Denotative—Connotative view

छठा अध्याय

वाक्य-प्रकरण

दूसरा भाग

(वाक्य के प्रकार')

जैसे हमने पद-प्रकरण मे पदो को भिन्न भिन्न प्रकार से विभागो मे बाट कर उनकी परीक्षा की थी, वैसे ही यहा वाक्यो की भी करनी है। वाक्य निम्न छः प्रकार से विभागो मे बाटे जाते है, जिनकी परीक्षा अलग अलग की जायगी—

वाक्य
- १ रचना की दृष्टि से
  - (क) शुद्ध—'क' 'ख' है,
  - (ख) मिश्र 'क' और 'ख' 'ग' है ।
- २. सम्बन्ध की दृष्टि से
  - (क) निरपेक्ष 'क' 'ख' है ।
  - (ख) सापेक्ष
    - (i) हेतुफलाश्रित—यदि 'क' 'ख' है, तो 'ग' 'घ' है।
    - (ii) वैकल्पिक—'क' या तो 'ख' है या 'ग' ।

' Kinds of Propositions.

वाक्य	३ गुण[1] की दृष्टि से	(क) विधि—'क' 'ख' है।	
		(ख) निषेध—'क' 'ख' नही है।	
	४ अंश[1] की दृष्टि से	(क) सामान्य—सभी 'क' 'ख' है।	
		(ख) विशेष—कुछ 'क' 'ख' है।	
	५ आस्था की दृष्टि से	(क) निश्चित—'क' अवश्य 'ख' है।	
		(ख) प्रतिज्ञात—'क' 'ख' है।	
		(ग) सदिग्ध—'क' 'ख' हो सकता है।	
	६ तात्पर्य की दृष्टि से	(क) शाब्दिक—'त्रिभुज' 'तीन भुजाओ वाला क्षेत्र' है।	
		(ख) यथार्थ—'त्रिभुज के तीनो कोण मिलकर' 'दो समकोण होते' है।	

§ १—रचना की दृष्टि से[2]

वाक्य दो प्रकार के होते है—शुद्ध और मिश्र।

'शुद्ध वाक्य'[3] वह है जिसमे केवल एक ही उद्देश और एक ही विधेय हो। जैसे—सभी मनुष्य मरणशील है, कुछ मनुष्य ज्ञानी है, कोई मनुष्य पूर्ण नही है, कुछ मनुष्य ज्ञानी नही है।

'मिश्र वाक्य'[4] वह है जिसमें उद्देश, या विधेय, या दोनो अनेक हो। अर्थात्, जिस एक वाक्य मे अनेक वाक्य सश्लिष्ट हो। जैसे—राम और मोहन उपस्थित है, मोहन खिलाडी और गवैया है, मोहन खिलाडी है, और मोहन गवैया है।

---

[1] Quality=गुण। Quantity=अंश। वाक्य के विधि-निषेध अर्थ में 'गुण' का, तथा सामान्य-विशेष अर्थ में 'अंश' का प्रयोग रूढ समझना चाहिए।

[2] According to Composition.

[3] Simple.

[4] Compound.

'मिश्र-वाक्य' के भी दो भेद है—'सन्निकृष्ट'[1] और 'विप्रकृष्ट'[2]। 'सन्निकृष्ट मिश्र-वाक्य' वह है जिसमे अनेक विधानात्मक वाक्य मिले हो; जैसे—राम और मोहन अनुपस्थित है। 'विप्रकृष्ट मिश्र वाक्य' वह है जिसमे अनेक निषेधात्मक वाक्यो का सन्निवेश हो; जैसे—राम न तो मेरा भाई है न भतीजा।

§ २—सम्बन्ध की दृष्टि से[3]

उद्देश और विधेय के सम्बन्ध की दृष्टि से वाक्य दो प्रकार के होते है—निरपेक्ष और सापेक्ष।

(१) 'निरपेक्ष वाक्य'[4] वह है जिसमे बिना किसी शर्त के उद्देश और विधेय मे कोई सम्बन्ध स्थापित किया गया हो। जैसे, सभी मनुष्य मरणशील है, कोई बाघ अहिंसक नही है। यहा, मनुष्य के मरणशील होने, या बाघ के अहिंसक न होने के लिए किसी शर्त को पूरी करने की बात नही है। बिना किसी शर्त के मनुष्य मरणशील है, और बाघ अहिंसक नही है।

(२) सापेक्ष वाक्य[5] वह है जिसमे उद्देश और विधेय के बीच का सम्बन्ध किसी शर्त पूरी होने पर निर्भर करता हो। 'सापेक्ष वाक्य' दो प्रकार के होते है—हेतुफलाश्रित और वैकल्पिक।

क. 'हेतुफलाश्रित वाक्य'[6] वह है जिसमे किसी शर्त के पूरी होने पर किसी बात का होना बताया जाय। जैसे, यदि बत्ती जलती है, तो उजेला होता है। यहा बत्ती जलने की शर्त पूरी होने पर उजेला का होना बताया गया है। बत्ती जलने की शर्त 'हेतु'[7] है, और उजेला का होना 'फल'[8] है। इसीलिए, ऐसे वाक्य को 'हेतुफलाश्रित वाक्य' कहते है।

---

[1] Copulative. [2] Remotive. [3] According to Relation. [4] Categorical=unconditional. [5] Conditional. [6] Hypothetical. [7] Antecedent [8] Consequent.

हेतुफलाश्रित वाक्य का उचित रूप तो यही है जिसमें हेतु[1] पहले कहा गया हो और फल[2] बाद में। किंतु, व्यवहार की भाषा में हेतु के पहले फल भी कह दिया करते हैं, जैसे—उजेला हो यदि बत्ती जले।

किंतु हेतुफलाश्रित वाक्य का शास्त्रीय रूप सदा यही रहता है—यदि. . है, तब . . है। इसे इस रूप में भी प्रकट किया जा सकता है—क्योंकि बत्ती जलती है, इसलिए उजेला होता है।

हेतुफलाश्रित वाक्य में 'हेतु' और 'फल' के वही स्थान हैं जो निरपेक्ष वाक्य में उद्देश और विधेय के। अतः हेतुफलाश्रित वाक्य निरपेक्ष वाक्य में, तथा निरपेक्ष वाक्य हेतुफलाश्रित वाक्य में परिवर्तन किया जा सकता है। जैसे—

मनुष्य मरणशील है=यदि मनुष्य है, तो मरणशील है। यदि बत्ती जले तो उजेला हो='बत्ती जलने की अवस्था' 'उजेला होने की अवस्था' है।

ख. वैकल्पिक वाक्य[1] का रूप है—'क' या तो 'ख' है या 'ग'। मोहन या तो पागल है, या महात्मा, मनुष्य या तो अमर है या मरने वाला। 'वैकल्पिक वाक्य' में उद्देश पद का सम्बन्ध किससे है यह निश्चयपूर्वक मालूम नहीं होते हुए भी इतना ठीक ठीक पता है कि इन्हीं अनेक में से एक के साथ है। अर्थात्, विधेय-पद में अनेक का विकल्प लगा है। 'वैकल्पिक वाक्य' को चार हेतुफलाश्रित वाक्यों में तोड सकते हैं। जैसे, मनुष्य या तो अमर है या मरने वाला, यह बराबर है—

(१) यदि मनुष्य अमर नहीं है, तो वह मरने वाला है,
(२) यदि मनुष्य मरने वाला नहीं है, तो वह अमर है,
(३) यदि मनुष्य अमर है, तो वह मरने वाला नहीं है,
(४) यदि मनुष्य मरने वाला है, तो वह अमर नहीं है।

---

[1] Antecedent. [2] Consequent.

[1] Disjunctive Proposition.

युवर्वेग तथा कुछ अन्य दार्शनिको का मत है कि वैकल्पिक वाक्य के विकल्प सदा परस्पर विरुद्ध होते है, जिसमे एक के सत्य होने से दूसरा मिथ्या होता है, और उसके विपरीत एक के मिथ्या होने से दूसरा सत्य भी।

किंतु मिल प्रभृति कुछ अन्य दार्शनिको का मत है कि वैकल्पिक वाक्य के विकल्प परस्पर विरुद्ध होगे ही ऐसी वात नही है, क्योकि अनेक विकल्प भी एक साथ सत्य हो सकते है। इस मत के अनुसार एक विकल्प के मिथ्या होने से दूसरे का सत्य होना सिद्ध तो होता है, किंतु इसके विपरीत एक के सत्य होने से दूसरे का मिथ्या होना सिद्ध नही होता। जैसे—मोहन या तो धूर्त है या मूर्ख, इस वैकल्पिक वाक्य से इतना तो निकाल सकते है कि—

१ यदि मोहन धूर्त नही है, तो वह मूर्ख है; और

२. यदि मोहन मूर्ख नही है, तो वह धूर्त है।

किंतु, उससे यह नही निकाल सकते कि—

१ यदि मोहन धूर्त है, तो वह मूर्ख नही है, या

२. यदि मोहन मूर्ख है, तो वह धूर्त नही है, क्योकि मोहन धूर्त और मूर्ख दोनो साथ साथ हो सकता है।

इस मतभेद को देख कर उचित यही प्रतीत होता है कि वैकल्पिक वाक्य के विकल्पो की विना परीक्षा किए यह नही कहा जा सकता है कि वे परस्पर विरुद्ध है या नही। यदि विकल्प पद 'अमर' और 'मरने वाला' की तरह परस्पर अत्यन्त विरुद्ध हो, तव तो युवर्वेग का मत ठीक है। और वे यदि 'मूर्ख' और 'धूर्त' की तरह एक साथ सत्य हो सके, तो 'मिल' का मत ठीक है।

विधेय मे विकल्प लगाने का कारण कभी कभी वक्ता का संशय भी होता है, और कभी उसकी व्याख्या की पूर्णता भी। जैसे, वह या तो चूहा है या छुछुन्दर, इस वाक्य के विधेय मे विकल्प लगाने का कारण वक्ता का संशय है। किंतु, विद्यार्थी के फेल करने का कारण या तो उसका दुर्बुद्धि

होना था आलसी होना है, इस वाक्य में विकल्प लगा कर वक्ता विद्यार्थी के फेल होने की पूरी व्याख्या करता है।

§ ३—गुण की दृष्टि से[1]

गुण की दृष्टि से वाक्य दो प्रकार के होते है—विधि और निषेध। विधि वाक्य[2]—वह है जिसमे उद्देश और विधेय के बीच सम्बन्ध की स्थापना की गई हो। निषेध-वाक्य[3]—वह है जो उद्देश और विधेय के बीच सम्बन्ध के अभाव को सूचित करता हो। जैसे,—सभी मनुष्य मरणशील है, यह एक विधि-वाक्य है; क्योकि इसमे मनुष्य का मरणशील होना बताया गया है। कोई मनुष्य पूर्ण नही है, यह एक निषेध वाक्य है क्योकि इसमे मनुष्य का पूर्ण नही होना बताया गया है।

कुछ तर्क-शास्त्री हेतुफलाश्रित वाक्यो मे भी विधि और निषेध का अन्तर करते है। उनके मत से ऐसे वाक्यो मे फल के विधानात्मक या निषेधात्मक होने मे सारे वाक्य को वैसा ही समझना चाहिए। जैसे, यदि वृष्टि होती है, तो धान होता है, यह वाक्य विधानात्मक है, क्योकि इसका फल विधानात्मक है। किंतु, यदि वृष्टि होती है तो मै टहलने नही जाता हू, यह वाक्य निषेधात्मक है क्योकि इसका फल टहलने जाने का निषेध करता है। इस मत का कहना है कि विधानात्मक रूप मे फल हेतु की अपेक्षा करता है, किंतु निषेधात्मक वाक्य मे वह नहीं करता है।

हेतुफलाश्रित वाक्य की परीक्षा करने से मालूम होता है कि ऊपर का सिद्धान्त ठीक नही है। हेतुफलाश्रित वाक्य की यह तो पहली बात है कि इसके हेतु और फल मे आश्रय-आश्रित का सम्बन्ध हो। यदि

---

[1] According to Quality

[2] Affirmative. [3] Negative.

हेतु आश्रय और फल आश्रित नही हुआ, तो हेतुफलाश्रित वाक्य ही कैसे बनेगा ? यदि वृष्टि हुई तो मै टहलने नही जाऊगा, इस वाक्य का अर्थ यह नही है कि वृष्टि होने और मेरे टहलने जाने मे कोई आश्रय-आश्रित का सम्बन्ध नही है, किंतु इसका अर्थ यह है कि मेरा नही टहलने जाना वृष्टि होने पर आश्रित है। यदि हेतु और फल मे आश्रय-आश्रित का कोई सम्बन्ध ही न होता, तो हेतु के आधार पर फल का निषेध भी कैसे किया जाता ?

कुछ तर्क-शास्त्रियो ने सभी वाक्यो को विधानात्मक रूप ही देने का प्रयत्न किया है। वे निषेध-सूचक "नही" शब्द को विधेय पद के साथ सयुक्त करके निषेधात्मक वाक्य को विधानात्मक बना लेना उचित बताते है। इनके मत से, कुछ मनुष्य ज्ञानी नही है, इस वाक्य को, कुछ मनुष्य अ-ज्ञानी है, ऐसा बदल कर ले लेना चाहिए।

यह मत ठीक नहीं है, जैसा हम ऊपर देख चुके है [पृ० ८२]।

हेतुफलाश्रित वाक्य की तरह, सभी वैकल्पिक वाक्य भी स्वभावत. विधानात्मक है। जिस तरह हेतुफलाश्रित वाक्य मे हेतु और फल के बीच सम्बन्ध का होना आवश्यक है, उसी तरह वैकल्पिक वाक्य मे विधेय के विकल्पो में से किसी एक का उद्देश के साथ सम्बन्ध होना आवश्यक है।

तर्क-शास्त्री वेलहन् लिखते है, "वैकल्पिक वाक्य के स्वभाव से ही यह बात निकलती है कि वह विधानात्मक ही हो सकता है, क्योकि उसमे विधेय के लिए अनेक विकल्प उपस्थित किये जाते है जिनमे एक न एक का विधान अवश्य होना चाहिए।"[1]

---

[1] "It follows from the very nature of disjunctive propositions that they can only be affirmative; for, they must give a choice of predicates, one or other of which must be affirmed of the subject."

—*Welton and Manohan, Logic* p. 96

§ ४—अंश की दृष्टि से[1]

'अंश' की दृष्टि से वाक्य दो प्रकार के होते है—'सामान्य' और 'विशेष'।

(१) सामान्य-वाक्य[2] वह है जिसके उद्देश-पद का व्यक्तिबोध अपने पूर्ण अश मे समझा गया हो। जैसे—सभी मनुष्य मरण-शील है; कोई मनुष्य अमर नही है। इन वाक्यो में मरणशील होने या अमर होने का 'मनुष्य' पद के व्यक्तिबोध के पूर्ण अश के साथ विधान या निषेध किया गया है।

(२) विशेष-वाक्य[3]—कुछ 'क' 'ख' है, या कुछ 'क' 'ख' नही है, यही विशेष-वाक्य के रूप है। 'कुछ' शब्द से यहा यह अर्थ नही है कि 'केवल कुछ ही', किन्तु इसका अर्थ है 'कम से कम कुछ'। कुछ मनुष्य अज्ञानी है, इसका यह अर्थ नही है कि 'केवल कुछ ही मनुष्य अज्ञानी है'। हो सकता है कि सभी मनुष्य अज्ञानी निकले। किंतु, यहा वक्ता को कुछ ही मनुष्यो के अज्ञानी होने की बात मालूम है। यहा, यह वाक्य इस बात की चेतावनी देता है कि ऐसा न समझ लेना चाहिए कि कोई मनुष्य अज्ञानी नही है। उसी तरह, कुछ आम मीठे नही है, इसका अर्थ यह नही है कि कुछ ही आम मीठे नही है, किंतु यह बताता है कि यह बात ठीक नही है कि सभी आम मीठे है। अत, कह सकते है कि विशेषवाक्य के 'कुछ' शब्द का अर्थ 'कुछ ही' नही, किंतु 'कम से कम कुछ' का है।

इस तरह, इस वाक्य में उद्देश का क्या विस्तार है यह अनिश्चित रहता है। यदि वह निश्चित हो गया तो वाक्य विशेष से सामान्य हो जाता है। कुछ सांप विषैले नही है, यह वाक्य विशेष है, क्योकि इसका

---

[1] According to Quantity.
[2] Universal Proposition
[3] Particular Proposition.

पता नही कि वैसे साँप कौन है । इससे स्वभावतः जिज्ञासा होती है कि, वैसे साँप कौन है ? और जब इसका निश्चय हो जाता है कि वे अमुक प्रकार के साँप हैं तो यह वाक्य सामान्य हो जाता है ।

ऊपर कह चुकने पर भी, यहां स्मरण करा देना आवश्यक है कि 'अपवादात्मक' वाक्यो मे वे वाक्य 'सामान्य' समझे जायेगे जिनके उद्देश-पद के व्यक्तिबोध के किसी निश्चित अंश का अपवाद किया गया हो; क्योकि अपवादाश के निश्चित होने से गृहीताश का निश्चय स्वय हो जाता है। [पृ० ८६] और, यदि अपवादाश संदिग्ध हो तो गृहीताश भी सदिग्ध होगा; वैसी हालत मे वह वाक्य 'विशेष' होगा। जैसे, मुस्लिम-लीग को छोड़ सभी भारतीय सस्थाओ ने काग्रेस का साथ दिया है, यह वाक्य 'सामान्य' है; और तर्कशास्त्र मे इसका रूप इस तरह होगा—सभी 'मुस्लिम-लीग से इतर भारतीय सस्थाये' 'कांग्रेस का साथ देने वाली' हैं। किंतु, एक को छोड सभी भारतीय सस्थाओ ने काग्रेस का साथ दिया है, यह वाक्य 'विशेष' है; और, तर्कशास्त्र मे इसका रूप इस तरह होगा—कुछ 'भारतीय सस्थाये' 'कांग्रेस का साथ देने वाली' है ।

एकवचनात्म वाक्य[1] का उद्देश यदि कोई निश्चित पदार्थ या व्यक्ति हो तो उस वाक्य को सामान्य समझना चाहिए, क्योकि इसके उद्देश-पद का व्यक्तिबोध केवल एक वही स्वय निश्चित है, जो यहां उसी अर्थ मे लिया जाता है । जैसे, मोहन पढ़ता है, यह वाक्य सामान्य है। किंतु, यदि एकवचनात्मक वाक्य का उद्देश कोई अनिश्चित एक हो तो वह वाक्य 'विशेष' समझा जायगा । जैसे, एक लड़का पढ़ता है, यह वाक्य 'विशेष' है। इस 'एक' से राम, मोहन, हरि कोई भी समझा जा सकता है। इसलिए इस 'एक' का अर्थ 'कुछ' है । तर्कशास्त्री युवर्वेग के शब्दो मे—

---

[1] Singular Proposition.

"एकवचनात्मक वाक्य सामान्य भी होगा, और विशेष भी। वह सामान्य होगा जब उसका उद्देश कोई निश्चित एक है, या सामने कोई निर्दिष्ट एक (जैसे—मोहन, या यह आदमी) है। और, वह विशेष होगा जब उसका उद्देश कोई अनिश्चित एक हो। क्योंकि, पहली अवस्था मे उद्देश-पद के पूरे विस्तार के साथ विधेय-पद का विधान या निषेध किया जाता है, और दूसरी अवस्था मे उद्देश के अर्थ के एक अनिश्चित अश के साथ।" (System of Logic 214.)

कोई हेतुफलाश्रित वाक्य सामान्य है या विशेष यह वाक्य के हेतु मे समझा जायगा। यदि 'हेतु' पूर्णाशी हो तो वाक्य सामान्य है, और यदि वह वैसा न हो तो विशेष। जैसे, यदि कही भी आग है तो वहा गर्मी है, यह वाक्य सामान्य है, क्योकि यहा हेतु से आग की विद्यमानता की सभी अवस्थाओ का मतलब है। और, कभी कभी यदि मनुष्य सावधान है तो वह सफल होता है, यह वाक्य 'विशेष' है, क्योकि यहा हेतु से मनुष्य के सावधान होने की सभी अवस्थाओ से मतलब नही है।

वैकल्पिक वाक्य का 'अश' उसके उद्देश-पद के अनुसार होगा। जैसे, सभी मनुष्य या तो अमर है या मरने वाले, यह वाक्य सामान्य है। और, कुछ मनुष्य या तो धूर्त है या मूर्ख, यह वाक्य विशेष है।

कुछ ऐसे वाक्य है जिनके उद्देश-पद का अश अनुक्त रहता है। जैसे, मनुष्य मरणशील है, लडके खिलाडी होते है, इत्यादि। ऐसे वाक्य को अनुक्तांश-वाक्य कहते है। इनके अश समझ-बूझ कर हम स्वय निश्चित कर सकते है। जैसे, ऊपर के दो वाक्यो के 'अश' इस प्रकार होगे— सभी 'मनुष्य' 'मरणशील' है, कुछ 'लडके' 'खिलाडी' है।

§ ५—गुण और अंश, दोनो की सम्मिलित दृष्टि से

वाक्य 'गुण' की दृष्टि से विधि और निषेध दो प्रकार के, और 'अश' की दृष्टि से भी सामान्य और विशेष दो प्रकार के

होते है । अत, दोनो की सम्मिलित दृष्टि से वाक्य चार प्रकार के होंगे[1]—

(१) सामान्य विधि—सभी 'क' 'ख' है,
(२) सामान्य निषेध—कोई 'क' 'ख' नही है,
(३) विशेष विधि—कुछ 'क' 'ख' है,
(४) विशेष निषेध—कुछ 'क' 'ख' नही है ।

तर्कशास्त्र मे इन चार वाक्यो के साकेतिक नाम यह चार स्वर है—

सामान्य विधि—आ
सामान्य निषेध—ए
विशेष विधि—ई
विशेष निषेध—ओ

[अगरेजी मे इनके नाम क्रमश. A, E, I, और O है । इनमे 'A' और 'I' विधि-सूचक है, और 'E' और 'O' निषेध-सूचक । पहले दो विधि-सूचक स्वर affirms (=विधि) शब्द से, और अन्तिम दो निषेध सूचक स्वर nego (=निषेध) शब्द से लिए गए है ।]

---

[1] यह विभाजन निम्न तालिका से स्पष्ट होगा—
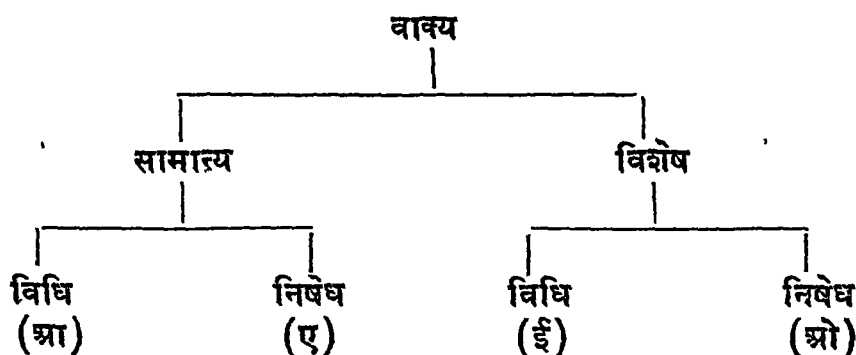
तर्कशास्त्र में वाक्य के यही चार रूप प्रामाणिक माने गए है। शास्त्रीय विचार करने के लिए सभी लौकिक वाक्यों को उनके अर्थ की रक्षा करते हुए इन्ही चार रूपो मे से किसी एक में ले आना आवश्यक है। इस तरह लाने के कुछ नियम ऊपर कह चुके है। [देखिए पृ० ८२]।

§ ६—बलाबल[1] की दृष्टि से

आस्था के बलाबल की दृष्टि से वाक्य तीन प्रकार के होते है—निश्चित, प्रतिज्ञात और सदिग्ध।

निश्चित-वाक्य[2] वह है जिसमे बात पूरे निश्चय के साथ कही गई हो। जैसे, 'क' 'ख' अवश्य है दो और दो चार अवश्य होगे . दो रेखाओ से कोई क्षेत्र कभी नही घिर सकता।

प्रतिज्ञात-वाक्य[3] वह है जिसमें न निश्चय प्रकट किया गया हो और न सदेह, किंतु जो केवल उद्देश और विधेय के बीच कोई सम्बन्ध स्थापित करता है। जैसे—सभी मनुष्य मरणशील है कोई मनुष्य पूर्ण नही है।

सदिग्ध-वाक्य[4] वह है जिसकी बात हो तो सकती है, किंतु हुई है या नही इसमे सदेह है। जैसे—कदाचित् मोहन बीमार है: कदाचित् कोई मनुष्य ज्ञानी नही है।

§ ७—तात्पर्य की दृष्टि से[5]

कौन वाक्य कैसे तात्पर्य व्यक्त करते है इसकी परीक्षा करने से वाक्य दो प्रकार के सिद्ध होते है—'शाब्दिक' और 'यथार्थ'।

---

[1] Modality. [2] Necessary. [3] Assertory.
[4] Problematic. [5] According to Import.

(१) **शाब्दिक-वाक्य**[1] वह है जिसके विधेय-पद का स्वभावबोध उसके उद्देश-पद के स्वभावबोध के समान ही हो, अथवा उसमे अन्तर्गत हो। जैसे—'मनुष्य' 'विवेकशील प्राणी' है; 'मनुष्य' 'विवेकशील' है; 'मनुष्य' 'प्राणी' है। पहले उदाहरण मे, जो मनुष्यत्व है वही विवेकशील-प्राणित्व है, अतः इस वाक्य के दोनो पदो के स्वभावधर्म समान है। दूसरे तथा तीसरे वाक्य मे विवेकशीलत्व तथा प्राणित्व मनुष्य के अन्तर्गत है, अत इन वाक्यो के विधेयपद के स्वभावबोध इनके उद्देश-पद के स्वभाव मे अन्तर्गत है।

इसे देख कर यह पता चलता है कि 'शाब्दिक वाक्य' का विधेय उसके उद्देश के विषय मे कोई नया ज्ञान नही प्रदान करता, किंतु वह उसका केवल 'लक्षण' या 'लक्षण का विश्लेषण' होता है। इसीलिए इस वाक्य को 'शाब्दिक' कहते है। इस वाक्य के उद्देश मे ही विधेय निहित है। इसे **विश्लेषक-वाक्य**[2] भी कहते है, क्योंकि यह अपने उद्देश-पद के स्वभाव-बोध का विश्लेपण भर करता है। इसे **स्फोटक-वाक्य** भी कहते है, क्योकि यह उसे स्फुट भर करता है जो इसके उद्देश मे निहित था। इसे **धर्मगत-वाक्य** भी कहते है, क्योकि यह उद्देश के धर्म की परीक्षा पर ही बना है।

(२) **यथार्थ-वाक्य**[3] वह है जिसके विधेय का स्वभावबोध उद्देश के स्वभावबोध मे अन्तर्गत न हो। जैसे, सभी 'मनुष्य' 'मरणशील' है, कोई 'मनुष्य' 'अमर' नही है। इन वाक्यो के विधेय के स्वभावबोध 'मरणशीलत्व' या 'अमरत्व' उनके उद्देश के स्वभावबोध 'मनुष्यत्व' मे अन्तर्गत नही है।

---

[1] Verbal Proposition. [2] Analytic Proposition
[3] Real Proposition.

ऐसे वाक्य को सश्लेषक-वाक्य[1] भी कहते है, क्योकि यह दो भिन्न भिन्न नये प्रत्ययो के वीच सम्वन्ध स्थापित करता है। इसे ज्ञापक-वाक्य भी कहते है, क्योकि यह नई वात वता कर ज्ञान का विस्तार करता है।

शाब्दिक-वाक्य का विधेय अपने उद्देश के सम्वन्ध मे या तो जाति[2] होता है, या उपजाति,[3] या व्यवच्छेदक[4] धर्म। यथार्थ वाक्य का विधेय अपने उद्देश के सम्वन्ध मे या तो स्वभावसिद्ध धर्म[5] होता है या आकस्मिक धर्म।[6] जैसे—

शाब्दिक-वाक्य

जाति—सभी त्रिभुज क्षेत्र है

उपजाति—कुछ क्षेत्र त्रिभुज है

व्यवच्छेदक धर्म—सभी त्रिभुज तीन भुजाओ वाले है

यथार्थ-वाक्य

स्वभावसिद्ध धर्म—त्रिभुज के तीनो कोण मिलकर दो समकोण के वरावर होते है।

आकस्मिक धर्म—यह त्रिभुज समद्विवाहु है।

---

[1] Synthetic Proposition [2] Genus. [3] Species.
[4] Differentia. [5] Property. [6] Accident.

सातवाँ अध्याय

वाक्य-प्रकरण

तीसरा भाग

(वाक्य में पदों के विस्तार[1])

§ १—वाक्य में पदों के विस्तार

सामान्य-वाक्यो मे उद्देश-पद अपने व्यक्तिबोध के पूरे अंश में लागू होता है, जो उसके प्रारम्भ मे आने वाले 'सभी' या 'कोई' शब्द से प्रकट होता है। विशेष-वाक्यो मे उद्देश-पद अपने व्यक्तिबोध के केवल एक अनिश्चित अंश मे लागू होता है, जो उसके प्रारम्भ मे आने वाले 'कुछ' शब्द से प्रकट होता है। इसे तर्कशास्त्र की परिभाषा में यों कहते हैं कि उद्देश-पद सामान्य-वाक्यो मे सर्वांशी[2] होता है, और विशेष-वाक्यो मे असर्वांशी।[3]

वाक्य के विधेय-पद के पूर्व 'सभी', 'कोई' या 'कुछ' शब्द का प्रयोग भाषा मे नही होता, अतः वह किस वाक्य मे 'सर्वांशी' होता है और किस वाक्य मे 'असर्वांशी' इस पर विचार कर लेना होगा।

सभी 'घोडे' 'पशु' हैं, यह एक सामान्य विधानात्मक वाक्य है। यहां

---

[1] Distribution of Terms.

[2] Distributed.

[3] Undistributed.

विधेय-पद के व्यक्तिबोध के क्या पूरे अश से उद्देश-पद का सम्बन्ध है ? यदि हा, तो सभी पशु घोडे कहे जाने चाहिए। किंतु यह नही हो सकता, क्योकि घोडा से इतर भी दूसरे बहुत पशु है। विधेय-पद 'पशु' के व्यक्ति-बोध का एक अश ही घोडा है। अत., सभी घोड़े सभी पशु नहीं है, किंतु सभी घोडे कुछ पशु हैं। इस परीक्षा का सार यह निकला कि ऐसे वाक्य का विधेय-पद असर्वांशी होता है।

किंतु, सामान्य विधानात्मक वाक्य के ऐसे भी उदाहरण मिलेगे जिनमें विधेय-पद सर्वांशी होते है। जैसे, 'एवरेष्ट' 'ससार का सर्वोच्च शिखर' है, 'त्रिभुज' 'तीन भुजाओ से घिरा क्षेत्र' है। इन वाक्यो में जो उद्देश है वही विधेय है, और जो विधेय है वही उद्देश है। जो एवरेष्ट है वही ससार का सर्वोच्च शिखर है, और जो ससार का सर्वोच्च शिखर है वही एवरेष्ट है। जो त्रिभुज है वही तीन भुजाओ से घिरा क्षेत्र है, और जो तीन भुजाओ से घिरा क्षेत्र है वही त्रिभुज है। ऐसे वाक्यो को समव्याप्तिक-वाक्य कहते है। इनके दोनो पदो के व्यक्तिबोध एक ही है, जो अपने पूरे अश में समझे गए है। ऐसे वाक्य का विधेय-पद सर्वांशी होता है।

विशेष-विधानात्मक वाक्य के दो उदाहरण लें—(१) कुछ 'पशु' 'घोडे' है, और (२) कुछ 'भारतीय' 'कवि' है। पहले वाक्य में विधेय-पद स्पष्टत. सर्वांशी है, और दूसरे मे असर्वांशी। क्योकि ससार के सभी घोडे पशु है, किंतु ससार के कुछ ही कवि भारतीय है।

निषेधात्मक वाक्य यह सूचित करते है कि उद्देश के साथ विधेय-पद से बोध होने वाले किसी भी व्यक्ति का सम्बन्ध नही है। अर्थात्, विधेय-पद का व्यक्तिबोध अपने पूरे अश मे उद्देश से अलग है। कोई हबशी गोरा नही है, कुछ हबशी पढे-लिखे नही है—इन दोनो वाक्यों पर विचार करने से मालूम होगा कि इनके विधेय-पद सर्वांशी है। क्योकि, इनका

अर्थ है कि संसार के जितने भी गोरे आदमी है उनमे कोई हबशी नही है; और ससार मे जितने भी विद्वान् आदमी है उनमें कोई उन कुछ हबशियों मे नही है जिनका यहा जिक्र किया गया है। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि निषेधात्मक वाक्य के विधेय-पद सर्वदा 'सर्वांशी' होते है, वाक्य चाहे सामान्य हो या विशेष। किसी भी अवस्था मे निषेधात्मक वाक्य का विधेय-पद 'असर्वांशी' नही होता।

सारे विचार का सार यह निकला कि—

(१) विधानात्मक वाक्य का विधेय कभी सर्वांशी भी होता है, और कभी असर्वांशी भी, और

(२) निषेधात्मक वाक्य का विधेय हमेशा सर्वांशी होता है।

किस विधानात्मक वाक्य का विधेय-पद सर्वांशी है और किसका असर्वांशी यह तो पदों के अर्थ की परीक्षा करके ही निश्चित किया जा सकेगा। तर्कशास्त्र के लिए यह एक कठिनाई उत्पन्न करता है, क्योकि तर्कशास्त्र विचार के ऐसे 'रूपो' की स्थापना करना चाहता है जो विना उनके अर्थ की अपेक्षा किए सत्य ठहरे। साकेतिक वाक्यो मे उनके पदो से किसी निश्चित वस्तु का निर्देश नही होता, तब उनके अर्थ की कैसे परीक्षा की जायगी, और यह कैसे निश्चित किया जायगा कि अमुक विधानात्मक वाक्य का विधेय-पद सर्वांशी है या असर्वांशी? जैसे, सभी 'क' 'ख' है; कुछ 'क' 'ख' है—इन वाक्यो मे 'क' और 'ख' क्या है इसका पता नही। तब, 'ख' सर्वांशी है या असर्वांशी यह कैसे निश्चय किया जायगा? इस अनिश्चय से बचने के लिए तर्कशास्त्रियों ने इसे 'असर्वांशी' माना है। जो सर्वांश मे सत्य है वह एकांश में निश्चय रूप से सत्य होता है, अतः इसे असर्वांशी मानने मे कोई खतरा नही है।

तब, वाक्य मे पदो के विस्तार समझने के लिए निम्न तालिका बनाई जा सकती है—

विधि		निषेध	
उद्देश	विधेय	उद्देश	विधेय
सामान्य सर्वांशी	असर्वांशी	सर्वांगी	सर्वांगी
विशेष असर्वांगी	असर्वांशी	असर्वांगी	सर्वांगी

चारो वाक्यो के जो चार साकेतिक नाम—आ, ई, ए, ओ—है उनका प्रयोग करके इस तरह बता सकते है कि कौन वाक्य अपने किन पदो को सर्वांश मे बोध करते है—

'आ' उद्देश को,
'ओ' विधेय को,
'ए' दोनो को,
'ई' किसी को नही।

इसे याद रखने के लिए एक सूत्र बना ले—आउ ओवि एदो ईनही। इनके पहले अक्षर वाक्यो के नाम है, और दूसरे अक्षर उन पदो के नाम है जो सर्वांशी है। अत, 'आउ' का माने है कि 'आ' वाक्य का उद्देश सर्वांशी है। 'ओवि' का माने है कि 'ओ' वाक्य का विधेय सर्वांशी है। 'एदो' का माने है कि 'ए' वाक्य के दोनो पद सर्वांशी है। 'ईनही' का माने है कि 'ई' वाक्य मे कोई पद सर्वांशी नही है।[1]

§ २—विधेय के भी अंश का निर्देश कर वाक्य के आठ रूपों की स्थापना

हम लोगो ने ऊपर देखा कि वाक्य के साधारण चार रूपो मे उनके 'गुण'[2]

[1] अगरेजी मे यह सूत्र है—Asebinop. [2] Quality

हैमिल्टन ने वाक्य के इन आठ रूपो के जो सकेत—आ-वि-आ, आ-वि-ई इत्यादि—निश्चित किए है, उनमे 'आ' का अर्थ है सर्वांशी, 'ई' का असर्वांशी, 'वि' का विधानात्मक, और 'नि' का निषेधात्मक। इस तरह, 'आ-वि-आ' का अर्थ हुआ कि वह विधानात्मक वाक्य जिसके दोनो पद सर्वांशी है, इत्यादि।

आर्चविशप थोमसन् ने वाक्य के इन आठ रूपो के सकेत निम्न प्रकार निश्चित किए है, जिनका प्रयोग तर्कशास्त्र के पुस्तको में अधिक प्रचलित हो गया है—

आ-वि-आ=U। आ-वि-ई=A। ई-वि-आ=Y। ई-वि-ई=I। आ-नि-आ=E। आ-वि-ई=N। ई-नि-आ=O। ई-नि-ई=W।

बाद मे, यह विचार कर कि निषेधात्मक वाक्य के विधेय-पद कभी असर्वांशी नही होते, थोमसन ने स्वय N और W रूपो को अयुक्त बताया।

समीक्षा

यदि सभी वाक्यो के विधेय-पद सर्वथा व्यक्तिबोध को ही सूचित करते तो अलबत्ता हैमिल्टन का यह विभाजन तर्कशास्त्र के लिए उपयोगी होता। किंतु ऐसी बात नही है। विधानात्मक वाक्यो मे, कम से कम, विधेय-पद को धर्म-बोध में ही समझना अधिक स्वाभाविक मालूम होता है। सभी टोपिया लाल है, कुछ टोपिया लाल है—इन वाक्यो से ऐसा समझना निरी कष्ट-कल्पना है कि ससार के जितने लाल पदार्थ है उनमे सभी या कुछ टोपिया भी सम्मिलित है। टोपियो से इतर किन्ही अन्य लाल पदार्थो की बात मन मे भी नही आती। यहा, यही ख्याल आता है कि सभी टोपियो का रग एक यही है। अत, वाक्य के विधेय-पद के विस्तार को निश्चित करने का यह प्रयास निरर्थक है।

इस प्रयास पर दूसरी बडी आपत्ति यह है कि इसके रूप बात को स्पष्ट करने के बदले उसे और भी भ्रामक बना देते है। 'आ-वि-ई' का

उदाहरण है—सभी 'घोड़े' कुछ 'पशु' हैं। यहां, 'कुछ पशु' से क्या समझना है ? बैल भी, या बन्दर भी तो 'कुछ पशु' कहे जा सकते है। तब, क्या उस वाक्य का यह अर्थ हो सकता है कि—सभी घोड़े बैल या बन्दर हैं !!

एक और दूसरी आपत्ति यह है कि इसके कुछ रूप एक स्वतत्र वाक्य नही हैं, किंतु उनमे दो वाक्यो की खिचड़ी हो गई है। 'आ-वि-आ' का रूप है—सभी 'क' सभी 'ख' है। यथार्थतः इसमे दो वाक्यों की खिचड़ी हो गई है—सभी 'क' 'ख' है,+सभी 'ख' 'क' है। ऐसे खिचड़ी वाक्यों से तर्कशास्त्र की कठिनाई और भी बढ़ जाती है।

अत., वाक्य के विधेय-पद के विस्तार का निश्चय उसके गुण के आधार पर ही किया जा सकता है। यह कि, विधानात्मक वाक्यों के विधेय-पद असर्वांशी होते है, और निषेधात्मक वाक्यों के सर्वांशी। इस दृष्टि से वाक्य के चार ही रूप होंगे—आ, ई, ए, और ओ।

§ ३—वाक्यों का चित्रीकरण[1]

वाक्य को चक्रो मे व्यक्त करके रखने का उद्देश्य केवल यह है कि उद्देश और विधेय का परस्पर सम्बन्ध चित्र मे आखो से देख कर तुरत समझ लिया जा सके। प्रायः, वह बात जो बहुत कहने से भी साफ नहीं होती चित्र मे प्रकट करके रखने से झट समझ मे आ जाती है। प्रस्तुत प्रयास का यही उद्देश्य है।

इसमें, दोनों पदों के लिए दो चक्र बनाते हैं, और उन्हे इस प्रकार एक दूसरे पर या अलग अलग रखते है जिससे यह पता लगे कि वे एक दूसरे मे कितने अश से युक्त है, और कितने अंश से नही। अतः, वाक्य के रूपों के चित्र इस प्रकार होंगे—

---

[1] युलर की चित्रीकरण-विधि, देखिए परिशिष्ट

(१) 'आ'=सामान्य विधि,

(क) आ-वि-आ=समव्याप्तिक
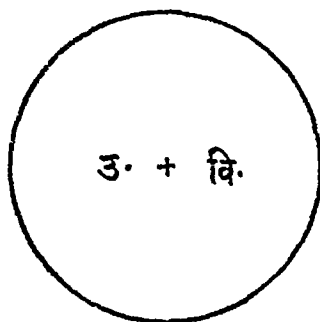
इसमे उद्देश और विधेय के चक्र एक दूसरे को पूरा पूरा छाप लेते है। यह चित्र इस प्रकार के वाक्यो का सूचक है—'एवरेष्ट' 'सर्वोन्च शिखर' है, 'इलाहाबाद' 'प्रयाग' है, सभी 'त्रिभुज' 'तीन भुजाओ से घिरे क्षेत्र' है।

(ख) आ-वि-ई=विषमव्याप्तिक
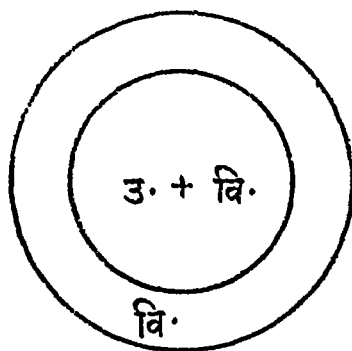
इस चित्र मे विधेय के पेट मे उद्देश का पूरा चक्र चला आया है। यह चित्र इस प्रकार के वाक्यो का सूचक है—सभी 'घोडे' 'पशु' है, सभी

'मनुष्य' 'मरणशील' हैं, सभी 'पजाबी' 'भारतीय' हैं। इन वाक्यों मे विधेय 'जाति' है और उद्देश 'उपजाति'।

(२) 'ए'=सामान्य निषेध, आ-नि-आ
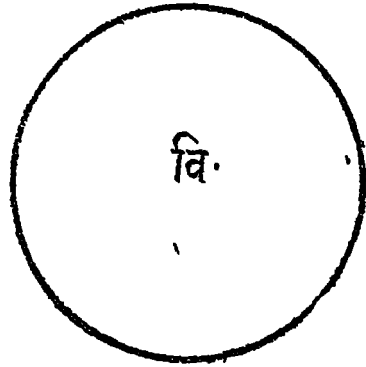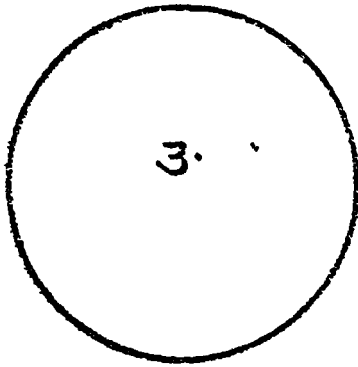
इस वाक्य में उद्देश का चक्र विधेय के चक्र से एकदम अलग है। किसी अश में भी दोनो नही मिलते। यह चित्र इस प्रकार के वाक्यो का सूचक है—कोई 'मनुष्य' 'अमर' नही है; कोई 'हबशी' 'गोरा' नही है; 'मोहन' 'बीमार' नही है; 'यह' 'सुन्दर' नही है; कोई 'लड़का, मोहन को छोड़' 'गंदा' नही है।

(३) 'ई'=विशेष विधि

(क) ई-वि-आ
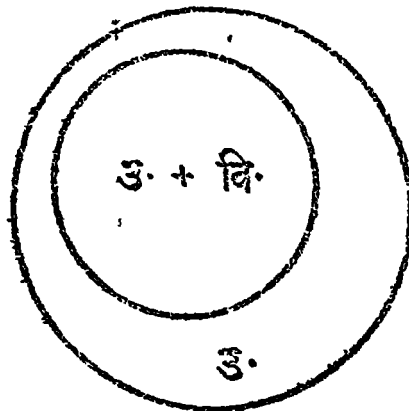
इस चित्र मे उद्देश के पेट मे विधेय का पूरा चक्र चला आया है। यह

चित्र इस प्रकार के वाक्यो का सूचक है—कुछ 'पशु' 'घोड़े' है; कुछ 'भारतीय' पजाबी है। इन वाक्यो में उद्देश 'जाति' है और विधेय 'उपजाति'।

(ख) ई-वि-ई
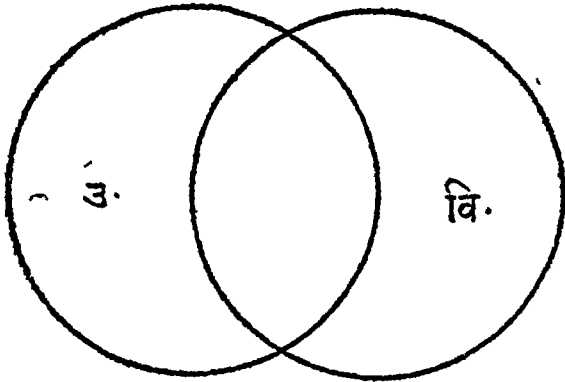
इस चित्र मे उद्देश का एक अश विधेय के एक अंश से मिला है। यही अंश वाक्य के निर्देश को सूचित करता है। यह चित्र इस प्रकार के वाक्यो का सूचक है—कुछ 'पजाबी' 'वीर लडाकू' है, कुछ 'भारतीय' 'गोरे' है। इन वाक्यो मे उद्देश 'उपजाति' है और विधेय 'जाति'।

(४) 'ओ' विशेष निषेध

(क) ई-नि-आ
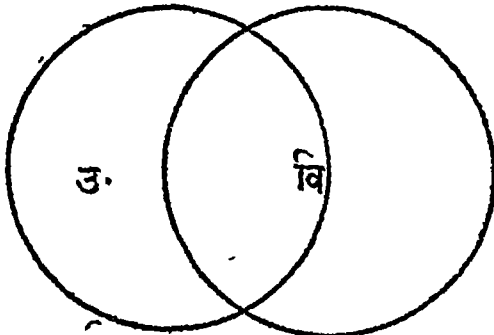
इस चित्र मे इस बात पर ध्यान देना है कि विधेय का चक्र उद्देश के भीतर एक ही अश.मे अन्तर्गत है। उद्देश का बचा हुआ अश विधेय की परिधि से एकदम बाहर है। यह वाक्य उद्देश के उसी बचे हुए अंश को निर्देश करता है जो विधेय के पूरे चक्र से बाहर है। यह चित्र इस प्रकार के वाक्यो का सूचक है—कुछ 'भारतीय' 'पजाबी' नही है; कुछ 'पशु' 'घोड़े' नही है।

§ ४—वाक्यों के चित्रीकरण की समीक्षा

हमने अभी देखा कि इस चित्रीकरण से वाक्य मे उद्देश तथा विधेय के विस्तार और उनके परस्पर सम्बन्ध को समझने मे आसानी होती है। किंतु फिर भी, यहां प्रश्न होता है कि क्या सभी वाक्यो के उद्देश और विधेय दोनो व्यक्तिबोध के ही सूचक होते है ?

सभी 'पजाबी' 'भारतीय' है, कोई 'घोड़ा' 'गाय' नहीं है—इन जैसे वाक्यो मे कह सकते है कि इनके दोनो पद अपने अपने व्यक्तिबोध मे ही समझे जाने चाहिए। इन वाक्यो को ऊपर की पद्धति से बड़ी आसानी से दिखा सकते है, क्योकि इनके दोनों पदो के विस्तार चक्र से चित्रित कर सकते है।

किंतु, 'आप की वात' 'सच' नही है; 'कपड़े का रग' 'गाढा' है—इन जैसे वाक्यो का चित्रीकरण बड़ा कठिन है; क्योकि इनके विधेय-पद को स्वभावबोध मे ही समझा जा सकता है, व्यक्तिबोध मे नही। इनके पदो मे व्याप्य-व्यापक का सम्बन्ध नही है, किंतु इनमे धर्मी और धर्म का सम्बन्ध है। इसे चित्र से नही प्रकट कर सकते।

§ ५—भेद-सूचक वर्ग[1]

वे दो वाक्य एक दूसरे के भिन्न कहे जाते है जिनके उद्देश-पद और

[1] The Square of Opposition.

विधेय-पद समान होते हुए भी उनके 'गुण', या 'अश', या दोनो समान न हो। 'आ', 'ए', 'ई' और 'ओ'—इन चार वाक्यो में, दो दो को ले कर देखे तो चार प्रकार के सम्बन्ध सिद्ध होगे।

(१) दो वाक्य ऐसे हो सकते है कि उनमे एक के सत्य होने से दूसरा झूठ, और एक के झूठ होने से दूसरा सत्य ठहरता हो। न तो दोनो का सत्य होना सम्भव हो, और न दोनो का झूठ होना। वाक्यो के परस्पर इस सम्बन्ध को अत्यन्त विरोध का भेद[1] कहते है। यह सम्बन्ध 'आ' और 'ओ' वाक्यो में, तथा 'ए' और 'ई' वाक्यो मे प्राप्त है।

जैसे, 'सभी मनुष्य मरणशील हैं', और 'कुछ मनुष्य मरणशील नही हैं'—इन दो वाक्यो मे यह सम्बन्ध है। ये दोनो सत्य भी नही हो सकते, और दोनो झूठ भी नही हो सकते। दोनो में एक अवश्य सत्य होगा, और एक अवश्य झूठ। इसी तरह, 'कोई मनुष्य मरणशील नही है,' और 'कुछ मनुष्य मरणशील हैं'—इन दो वाक्यो मे भी यही सम्बन्ध है।[2]

(२) दो वाक्य ऐसे है कि वे दोनो झूठ तो हो सकते है, किंतु दोनों सत्य नही हो सकते। वाक्यो के परस्पर इस सम्बन्ध को भेदकता का भेद[3] कहते है। वे वाक्य एक दूसरे के 'भेदक' कहे जाते है। यह सम्बन्ध 'आ' और 'ए' वाक्यो में प्राप्त है।

जैसे, 'सभी मनुष्य कवि है', और 'कोई मनुष्य कवि नही है'—इन दो वाक्यो में यही सम्बन्ध है। ये दोनो वाक्य झूठ तो हो सकते है, किंतु दोनो सत्य नही हो सकते।

---

[1] Contradictory Opposition. [2] देखो पृ० ९८

[3] Contrariety or Contrary Opposition.

(३) दो वाक्य ऐसे है कि वे दोनो सत्य तो हो सकते है, किंतु दोनो झूठ नही हो सकते। वाक्यों के परस्पर इस सम्बन्ध को उपभेदकता का भेद[1] कहते है। वे वाक्य एक दूसरे के 'उपभेदक' कहे जाते है। यह सम्बन्ध 'ई' और 'ओ' वाक्यों में प्राप्त है।

जैसे, 'कुछ मनुष्य कवि हैं', और 'कुछ मनुष्य कवि नही हैं'—इन दो वाक्यो में यही सम्बन्ध है। ये दोनो वाक्य सत्य हो सकते हैं, किंतु दोनों झूठ नही हो सकते।

(४) दो दो वाक्य ऐसे है कि उनमे पहले के सत्य होने से दूसरा भी सत्य, और दूसरे के झूठ होने से पहला भी झूठ ठहरता है। वाक्यो के परस्पर इस सम्बन्ध को समावेशता का भेद[2] कहते हैं। इनमें पहला वाक्य 'समावेशक', और दूसरा 'समाविष्ट' कहा जाता है। यह सम्बन्ध 'आ' और 'ई' वाक्यो में, तथा 'ए' और 'ओ' वाक्यो मे प्राप्त है।

जैसे, 'सभी मनुष्य कवि है' और 'कुछ मनुष्य कवि है'—इन दो वाक्यों में यही सम्बन्ध है। यदि पहला सत्य हो तो दूसरा अवश्य सत्य होगा। और, यदि दूसरा झूठ है तो पहला भी सत्य नहीं हो सकता। यही सम्बन्ध इन दो वाक्यो मे भी है—'कोई मनुष्य कवि नहीं है' और 'कुछ मनुष्य कवि नही है'।

इन चार सम्बन्धों को इस चित्र से सूचित करते है, जिसे भेद-सूचक वर्ग[3] कहते है—

---

[1] Sub-contrariety or Sub-Contrary Opposition.
[2] Sub-alternation.
[3] Square of opposition
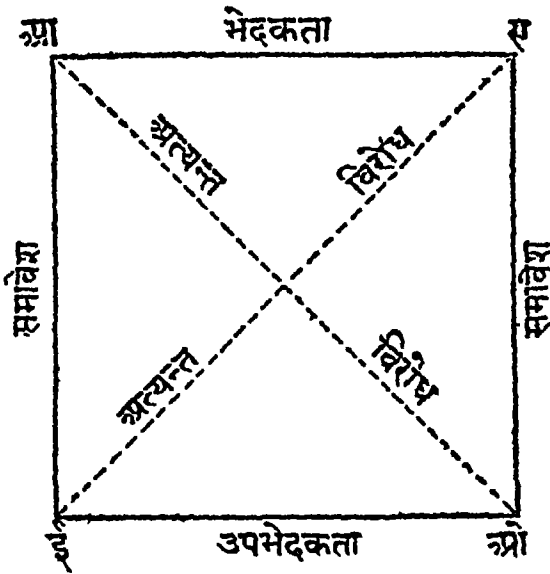
इस अध्ययन से दो लाभ हैं—(१) इससे किन्हीं दो वाक्यो के वीच का सम्वन्ध झट समझ मे आ जाता है; और(२) समान पदो वाले किन्हीं दो वाक्यो मे एक का सत्यासत्य जान कर दूसरे का भी सत्यासत्य निश्चय पूर्वक जान सकते हैं। दूसरी बात के लिए निम्न तालिका सहायक होगी—

	आ	ए	ई	ओ
(१)	स	झू	स	झू
(२)	झू	स	झू	स
(३)	सदिग्ध	झू	स	संदिग्ध
(४)	झू	सदिग्ध	सदिग्ध	स

'आ' वाक्य के सत्य होने से शेष तीन वाक्यो में कौन सत्य होगा और कौन झूठ यह पहली पक्ति (१) सूचित करता है; यह बात इससे प्रकट होती है कि बड़ा 'स' अक्षर 'आ' वाक्य के नीचे इसी पक्ति मे है। इसी तरह, जिस वाक्य के झूठ होने से शेष तीनों मे कौन सत्य और कौन झूठ होगा यह देखने के लिए उस पक्ति को देखना होगा जिसमे बड़ा अक्षर 'झ' है।

आठवाँ अध्याय

अनुमान प्रकरण

निगमन-विधि[1]

पहला भाग

अनन्तरानुमान[2]

§ १—प्राक्कथन

एक या अनेक वाक्यो के आधार पर उनके परामर्श से किसी निष्कर्ष-वाक्य पर पहुचने की प्रक्रिया को अनुमान करना कहते है। जिस वाक्य या वाक्यो के आधार पर अनुमान करते है उन्हें 'अधार-वाक्य'[3], और उनके परामर्श से जिस वाक्य पर पहुंचते हैं उसे निष्कर्ष-वाक्य[4] कहते है।

'कोई मनुष्य अमर नही है' और 'मै मनुष्य हूं', इन दो वाक्यो से क्या ध्वनित होता है ? यह कि, 'मै अमर नही हू'। इसी ध्वनि को परामर्श कहते हैं। अनुमान का आधार यही है। कभी कभी हम इसे ठीक न समझ सकने के कारण मिथ्या निष्कर्ष निकाल लेते हैं। 'सभी हिन्दू भारतीय हैं' और 'सभी मुसलमान भारतीय हैं'—इन दो वाक्यो से यदि यह परामर्श ग्रहण कर लें कि इसलिए 'सभी मुसलमान हिन्दू हैं', तो

---

[1] Deduction. [2] Immediate Inference.
[3] Premise. [4] Conclusion.

यह अनर्थ होगा। प्रस्तुत प्रकरण में हम यही सविस्तार अध्ययन करेंगे कि सच्चे परामर्श के स्वरूप क्या है, उनके नियम क्या क्या है, तथा किस तरह उन्हें ठीक न समझ सकने के कारण गलतियां हो जाती है।

ऊपर देख चुके है कि अनुमान[1] की विधियां दो है—निगमन-विधि[2] और व्याप्ति-विधि[3]। पहली विधि मे, व्यापक वाक्य या वाक्यों के आधार पर उतने ही या उतने से कम व्यापक निष्कर्ष निकालते है। 'सभी इङ्गलैण्ड-निवासी अंगरेज है', यह एक व्यापक वाक्य है। इससे यदि यह निष्कर्ष निकालें कि, इसलिए 'सभी अंगरेज इङ्गलैण्ड-निवासी है' तो देखेंगे कि दोनों वाक्यो की व्यापकता समान है। किंतु यदि 'सभी घोड़े पशु है' इस वाक्य से यह निष्कर्ष निकालें कि इसलिए 'कुछ पशु घोडे है' तो देखेंगे कि इस वाक्य की व्यापकता आधार-वाक्य की व्यापकता से कम है। निगमन विधि मे निष्कर्ष-वाक्य की व्यापकता आधार-वाक्य की व्यापकता से कम होती है, बराबर भी हो सकती है, किंतु किसी भी अवस्था में अधिक नहीं। यदि मुझे दस ही रुपये प्राप्त है, तो मै उससे कम ही खर्च करूंगा, पूरे का पूरा भी खर्च कर सकता हूं, किंतु उससे कुछ भी अधिक नही।

एक या अनेक बातो के आधार पर सामान्य का ज्ञान प्राप्त करने की विधि 'व्याप्ति-विधि' है। वैद्य अनेक रोगियों पर किसी नयें औषधि का प्रयोग करके सामान्य ज्ञान प्राप्त कर लेता है कि अमुक रोग से ग्रस्त सभी रोगियों को यह औषधि लाभ-प्रद है। इस विधि का अध्ययन पुस्तक के दूसरे खण्ड में करेंगे।

इस खण्ड के शेष भागो मे 'निगमन-विधि' के अनुमान पर ही विचार होगा। निगमन-विधि भी दो प्रकार के है—'अनन्तरानुमान'[4] और 'परंपरानुमान'[5]।

---

[1] Inference. [2] Deduction. [3] Induction.
[4] Immediate Inference. [5] Mediate Inference.

एक ही वाक्य के आधार पर निष्कर्ष निकालने की प्रक्रिया को अनन्तरानुमान कहते हैं। इस प्रक्रिया के निष्कर्ष-वाक्य में उद्देश और विधेय मे जो सम्बन्ध स्थापित किया जाता है उसका आधार आधार-वाक्य में उनका जो परस्पर सम्बन्ध है उसे छोड़ दूसरा कुछ नही है। 'सभी घोड़े पशु हैं', इस वाक्य से अनन्तरानुमान करते हैं कि—'कुछ पशु घोडे हैं' या 'कोई घोड़े अ-पशु नही हैं'। इन निष्कर्ष-वाक्यों[1] में 'घोडे' और 'पशु' मे जो सम्बन्ध स्थापित किया गया है उसका आधार आधार-वाक्य[2] मे उनका जो साक्षात् सम्बन्ध है वही है। यहा, आधार-वाक्य में ही निष्कर्ष-वाक्य के पदो के बीच सीधा कोई न कोई सम्बन्ध स्थापित रहता है। उसी सम्बन्ध के आधार पर उन्ही के बीच दूसरे सम्बन्ध का अनुमान किया जाता है।

दो, या अधिक वाक्यो के आधार पर निष्कर्ष निकालने की प्रक्रिया को 'परपरानुमान' कहते हैं। इस प्रक्रिया मे निष्कर्ष-वाक्य के पदो के बीच आधार-वाक्यो मे सीधा=अनन्तर सम्बन्ध स्थापित नही रहता। किंतु, उन दोनो का सीधा सम्बन्ध एक तीसरे पद से रहता है। इसी के आधार पर निष्कर्ष-वाक्य में उन पदो के बीच कोई सम्बन्ध स्थापित किया जाता है।

निष्कर्ष-वाक्य के उद्देश को 'उ', तथा विधेय को 'वि' संकेत से व्यक्त करते है। आधार-वाक्यो में उनका अलग अलग सीधा सम्बन्ध जिस तीसरे पद के साथ स्थापित रहता है उसे हेतु-पद[3] कहते है, क्योंकि निष्कर्ष-वाक्य में 'उ' और 'वि' के बीच सम्बन्ध स्थापित करने का वही 'हेतु' होता है। इसे 'उभय-सम्बद्ध पद' भी कहते हैं, क्योंकि इसका 'उ' और 'वि' दोनो से अलग अलग सीधा सम्बन्ध है। इसे 'माध्यम-

---

[1] Conclusion. [2] Premise.

[3] Middle Term.

पद' भी कहते हैं, क्योकि यही 'उ' और 'वि' में परस्पर सम्बन्ध स्थापित करने का माध्यम है। इसे 'घटक-पद', तथा 'परिचायकपद' भी कह सकते हैं, क्योकि यही 'उ' को 'वि' के साथ मिला देता है, उसका उससे परिचय करा देता है। जैसे—

सभी 'हे' 'वि' है,
सभी 'उ' 'हे' है,
∴ सभी 'उ' 'वि' है।[१]

वास्तविक उदाहरण मे—

सभी 'मनुष्य' 'मरणशील' है,
सभी 'योगी' 'मनुष्य' है,
∴ सभी 'योगी' 'मरणशील' है।

यहां, आधार-वाक्यों मे 'योगी' और 'मरणशील' पदों मे सीधा=अनन्तर सम्बन्ध नही है। उन दोनो का अलग अलग सीधा सम्बन्ध एक तीसरे पद 'मनुष्य' से है। उसी के आधार पर निष्कर्ष वाक्य में 'योगी' और 'मरणशील' के बीच सम्बन्ध सिद्ध हुआ है।

क्योंकि इस प्रक्रिया में 'उ' और 'वि' के बीच एक तीसरे पद—हेतु—के माध्यम से सम्बन्ध सिद्ध किया जाता है, इसलिए इसे परंपरानुमान[२] कहते हैं।

'तर्कशास्त्र' के लेखक श्री गुलाबराय ने अनन्तरानुमान को "अलैंगिक या अव्यवहित अनुमान", तथा परंपरानुमान को "लैंगिक या व्यवहित अनुमान" कहा है। यह ठीक नही है। लिंग—धूम्र—के दर्शन से

---

[१] All M is P.
All S is M.
All S is P.

[२] Mediate Inference.

अनुमान प्रारम्भ होता है, यह भारतीय न्यायशास्त्र की पद्धति है। पाश्चात्य तर्कशास्त्र की पद्धति भिन्न है। इसके अनुसार 'परपरानुमान' का 'हेतु-पद' लिङ्ग=सकेत मात्र नही है, किंतु यहा इसका सबसे महत्वपूर्ण स्थान है। इसमे वह शक्ति है जिससे वह 'उ' और 'वि' को मिला सकता है। 'परपरानुमान' को "व्यवहित अनुमान" कहना भी ठीक नही। यदि हेतु-पद व्यवधान=रुकावट का काम करता तो 'उ' और 'वि' कभी मिल ही नही सकते। इसके विरुद्ध, हेतु-पद तो दोनोंके बीच में रह कर दोनो को मिलाने वाला है।

कुछ विद्वानो के अनुसार 'परपरानुमान' को 'सहेतुकानुमान' और 'अनन्तरानुमान' को 'अहेतुकानुमान' कहना अच्छा होगा। परपरानुमान को तो सहेतुकानुमान मजे में कह सकते है; किंतु अनन्तरानुमान को अहेतुकानुमान कहना ठीक नहीं। बिना हेतु के कोई अनुमान हो ही नही सकता। अनन्तरानुमान मे कोई 'माध्यम-पद' हेतु नही है, किंतु यहा आधार-वाक्य में पदो के बीच जो सम्बन्ध है वही हेतु है, क्योकि इसी के आधार पर निष्कर्ष निकाला जाता है।

'अनन्तरानुमान' यह सूचित करता है कि इसके आधार-वाक्य में 'उ' और 'वि' पदो के बीच अनन्तर=सीधा सम्बन्ध है, किसी अन्यपद के माध्यम से नही। अगरेजी मे इसे Immediate Inference. कहते है, जिसका शाब्दिक अर्थ भी आनन्तर्य का है।

§ २—पद-व्यत्यय[1]

'पद-व्यत्यय' अनन्तरानुमान का वह रूप है जिसमें आधार-वाक्य के उद्देश और विधेय पदो का निष्कर्ष-वाक्य में विधिवत् व्यत्यय हो जाता है।

इस अनुमान के आधार-वाक्य को व्यत्येय,[2] और निष्कर्ष-वाक्य को व्यत्यस्त[3] कहते है।

---

[1] Conversion. [2] Convertend. [3] Converse.

'पद-व्यत्यय' करने के नियम ये हैं—

(१) व्यत्येय-वाक्य का उद्देश व्यत्यस्त-वाक्य मे विधेय, और उसका विधेय इसमे उद्देश हो जाता है।

(२) व्यत्यस्त-वाक्य का 'गुण' (=Quality) वही रहता है जो व्यत्येय-वाक्य का है।

(३) व्यत्यस्त-वाक्य मे ऐसा कोई पद सर्वांशी नही हो सकता जो व्यत्येय-वाक्य मे असर्वांशी है।

इन नियमो का प्रयोग करके देखे कि चार रूपो मे वाक्य के व्यत्यय किस प्रकार होंगे—

(क) 'आ' वाक्य का व्यत्यस्त 'ए' अथवा 'ओ' वाक्य नही हो सकता, क्योकि दूसरे नियम के अनुसार उसका व्यत्यस्त विधानात्मक वाक्य ही होगा। तब, यह या तो 'आ' होगा, या 'ई'। किंतु यह 'आ' नही हो सकता। क्यो ? यदि 'आ' वाक्य का व्यत्यस्त 'आ' माने, तो यह आपत्ति आती है कि व्यत्येय का विधेय असर्वांशी होते हुए भी व्यत्यस्त मे उद्देश बन कर सर्वांशी हो जाता है। यह तीसरे नियम का उल्लंघन हुआ। अत., 'आ' वाक्य का व्यत्यस्त 'ई' वाक्य ही होगा। इसमे कोई आपत्ति नही आती।

हा, 'आ' वाक्य यदि 'समव्याप्तिक' हो, तो उसका व्यत्यस्त 'आ' वाक्य ही हो सकता है। जैसे, 'सभी त्रिभुज तीन-भुजाओ के क्षेत्र हैं' इस वाक्य का व्यत्यस्त होगा—'सभी तीन-भुजाओ के क्षेत्र त्रिभुज है'। किंतु ऐसे समव्याप्तिक वाक्य के उदाहरण अत्यन्त ही बिरले है।

'आ' वाक्य के विधेय प्राय. असर्वांशी ही होते है। उनका व्यत्यस्त 'ई' वाक्य होगा। जैसे—

व्यत्येय—	सभी 'क' 'ख' हैं,	सभी 'भारतीय' 'मनुष्य' है
व्यत्यस्त—	∴ कुछ 'ख' 'क' है।	∴ कुछ 'मनुष्य' 'भारतीय' है।

(ख) 'ए' वाक्य का व्यत्यस्त, दूसरे नियम के अनुसार, निपेधात्मक ही होगा। 'ए' वाक्य के दोनो पद सर्वांशी है, अत इसके व्यत्यस्त मे तीसरे नियम के भङ्ग होने का कोई भय नही है। इसलिए, 'ए' वाक्य का व्यत्यस्त 'ए' वाक्य ही होगा। जैसे—

व्यत्येय— कोई 'क' 'ख' नही है, कोई 'मनुष्य 'अमर' नही है,
व्यत्यस्त–∴ कोई 'ख' 'क' नही है। ∴ कोई 'अमर' 'मनुष्य' नही है।

(ग) 'ई' वाक्य का व्यत्यस्त विधानात्मक वाक्य ही होना चाहिए। 'ई' वाक्य में कोई पद सर्वांशी नही है, इसलिए इसका व्यत्यस्त 'आ' नही हो सकता, क्योकि 'आ' वाक्य का उद्देश सर्वांगी होता है। तब, 'ई' वाक्य का व्यत्यस्त 'ई' वाक्य ही होगा। जैसे—

व्यत्येय— कुछ 'क' 'ख' है, कुछ 'धातु' 'वहुमूल्य' है,
व्यत्यस्त—∴ कुछ 'ख' 'क' है। ∴ कुछ 'वहुमूल्य (पदार्थ)' 'धातु' है।

हा, जिस अवस्था मे 'ई' वाक्य का विधेय सर्वांशी है उसमें इसका व्यत्यस्त 'आ' भी हो सकता है [पृ० १०६। 'ई-वि-आ']। जैसे—

व्यत्येय— कुछ पशु घोड़े है,
व्यत्यस्त—∴ सभी घोडे पशु हैं।

किंतु, अमुक 'ई' वाक्य का विधेय सर्वांशी है या नही यह निश्चय करने के लिए उस विषय का पूरा ज्ञान चाहिए, जिसका आश्वासन तर्कशास्त्र नही दे सकता। तर्कशास्त्र मे तो उसी रूप की स्थापना होगी जिसका कही व्यभिचार न हो। अत. 'ई' का व्यत्यस्त 'ई' ही होगा।

(घ) 'ओ' वाक्य का व्यत्यस्त निषेधात्मक वाक्य ही होना चाहिए। यह 'ए' वाक्य नही हो सकता, क्योकि 'ए' वाक्य में दोनो पद सर्वांशी होते है, और व्यत्येय 'ओ' वाक्य मे एक ही पद सर्वांशी है। तब, दूसरे पद को, व्यत्येय मे असर्वांशी होते हुए, व्यत्यस्त मे सर्वांशी होना पडेगा, जो तीसरे नियम के विरुद्ध है। 'ओ' वाक्य का व्यत्यस्त 'ओ' वाक्य भी नही

हो सकता। इसमें यह आपत्ति आएगी कि व्यत्येय का उद्देश असर्वशी होते हुए भी, व्यत्यस्त मे विधेय बन कर सर्वशी बन जायगा। यह तीसरे नियम का उल्लघन होगा।

अत', 'ओ' वाक्य का व्यत्यय किया ही नही जा सकता।

निचोड़ यह हुआ कि—'आ' का व्यत्यस्त 'ई', 'ए' का 'ए', और 'ई' का 'ई' होगा। किंतु, 'ओ' वाक्य का व्यत्यय होगा ही नही।

व्यत्यय के दो रूप

मालूम हुआ कि व्यत्यय के दो रूप है—एक वह जिसमें व्यत्येय और व्यत्यस्त के 'अश' समान रहते है, और दूसरा वह जिसमे सामान्य व्यत्येय का व्यत्यस्त विशेष हो जाता है। पहले रूप को **समव्यत्यय**[1], और दूसरे को **विषम-व्यत्यय**[2] कहते है। 'ए', 'ई', और समव्याप्तिक 'आ' वाक्यो के सम-व्यत्यय होते है; क्योकि उनके व्यत्यस्त के अश व्यत्येय से भिन्न नही होते। विषम-व्याप्तिक 'आ' वाक्य का व्यत्यस्त 'ई' वाक्य होता है; यही एक 'विषम-व्यत्यय' का उदाहरण है।

निषेधमुख से व्यत्यय[3]—ऊपर देख चुके है कि 'ओ' वाक्य का व्यत्यय हो ही नही सकता। कुछ तर्कशास्त्रियो ने निषेधमुख से इसका व्यत्यय करना शक्य बताया है। वे 'ओ' वाक्य के निषेध-सूचक शब्द 'न=नही=अ' को विधेय-पद से सयुक्त करके वाक्य को विधानात्मक रूप दे देते है। इस तरह, 'ओ' वाक्य 'ई' वाक्य मे परिणत हो जाता है। तब, उसका व्यत्यय मज़े में कर सकते है। जैसे—

'ओ' वाक्य

कुछ 'क' 'ख' नही है,

= कुछ 'क' 'ख-नही' है,

---

[1] Simple Conversion. [2] Conversion per accident. [3] Conversion by Negation.

∴ कुछ 'ख-नही' 'क' है।

वास्तविक उदाहरण में—

कुछ 'मनुष्य' 'ज्ञानी' नही है,
= कुछ 'मनुष्य' 'अज्ञानी' है,
∴ कुछ 'अज्ञानी' 'मनुष्य' है।

यथार्थ में यह व्यत्यय विधिपूर्वक नही है। इसमे व्यत्यय के दूसरे नियम का उल्लघन हो गया है। निषेधात्मक व्यत्येय का व्यत्यस्त विधानात्मक नही होना चाहिए था। फिर, यहा व्यत्यस्त का उद्देश व्यत्येय का विधेय न हो कर उसका 'विरुद्ध-पद' है।

सम्बन्ध-व्यत्यय[1]—यदि वाक्य के दोनो पद परस्पर सम्बद्ध हों, तो उसका व्यत्यय उसी सम्बन्ध के अनुकूल होगा। जैसे—

सोहन मोहन का पिता है,
∴ मोहन सोहन का पुत्र है।
'क' 'ख से छोटा' है
∴ 'ख' 'क से वडा' है।

तर्कशास्त्र के लिए ऐसे व्यत्यय का कोई महत्व नही है। इसकी सिद्धि के कोई रूप नही वनाए जा सकते। इनका आधार तो विषय का ज्ञान ही है।

§ ३—परिवर्तन[2]

'परिवर्तन' अनन्तरानुमान का वह रूप है जिसमें आधार-वाक्य के गुण[3] का परिवर्तन करके निष्कर्ष-वाक्य सिद्ध होता है।

---

[1] Inference by Converse Relation.
[2] Obversion. [3] Quality.

यदि आधार-वाक्य निषेधात्मक हो तो निष्कर्ष-वाक्य विधानात्मक, और यदि आधार-वाक्य विधानात्मक हो तो निष्कर्ष-वाक्य निषेधात्मक हो जाता है। यह अनुमान निम्न दो नियमो पर आश्रित है—

(१) किसी बात का विधान करना या उसके 'विरुद्ध' का निषेध करना, दोनों बराबर हैं। जैसे—

'क' 'ख' है='क' 'नही-ख' नही है।

'मनुष्य' 'ज्ञानी' है='मनुष्य' 'अज्ञानी' नही है।

'घोड़ा' 'पशु' है='घोडा' 'अ-पशु' नही है।

(२) किसी बात का निषेध करना या उस बात के 'विरुद्ध' का विधान करना, दोनों बराबर हैं। जैसे—

'क' 'ख' नही है='क' 'नही-ख' है।

'मनुष्य' 'ज्ञानी' नही है='मनुष्य' 'अज्ञानी' है।

'मनुष्य' 'घोडा' नही है='मनुष्य' 'अ-घोडा' है।

विधानात्मक वाक्य का 'परिवर्तनानुमान' पहले नियम, और निषेधात्मक वाक्य का दूसरे नियम के अनुसार होता है। इसके आधार-वाक्य को **परिवर्त्य**[1], और निष्कर्ष-वाक्य को **परिवर्तित**[2] कहते है। इस अनुमान के नियम ये है—

(१) 'परिवर्त्य' का जो उद्देश है वही 'परिवर्तित' का भी उद्देश होगा।

(२) 'परिवर्तित' का विधेय 'परिवर्त्य' के विधेय का 'विरुद्ध पद' होगा।

(३) 'परिवर्तित' का गुण 'परिवर्त्य' के गुण का ठीक उलटा होगा। अर्थात्, यदि परिवर्त्य विधानात्मक हो तो उसका परिवर्तित निषेधात्मक, और यदि परिवर्त्य निषेधात्मक हो तो उसका परिवर्तित विधानात्मक होगा।

---

[1] Obvertend. [2] Obverse.

(४) 'परिवर्त्य' का जो 'अंग' है वही परिवर्तित का भी होगा। अर्थात्, यदि परिवर्त्य सामान्य है तो परिवर्तित भी सामान्य, और यदि परिवर्त्य विशेष है तो परिवर्तित भी विशेष होगा।

प्रक्रिया—किसी वाक्य को परिवर्तित करने का सीधा तरीका यह है कि उसके विधेय का विरुद्ध-पद ले ले, और उसके 'सयोजक' का 'गुण' बदल दे। जैसे—

(क) 'आ' वाक्य का 'परिवर्तित' 'ए' वाक्य होता है। जैसे—

परिवर्त्य	परिवर्तित
सभी 'क' 'ख' है,	∴ कोई 'क' 'अ-ख' नहीं है।
सभी 'मनुष्य' 'मरने वाले' है,	∴ कोई 'मनुष्य' 'नही-मरने-वाला' नही है।
सभी 'घोडा' 'पशु' है,	∴ कोई 'घोडा' 'अ-पशु' नही है।

(ख) 'ए' वाक्य का परिवर्तित 'आ' वाक्य होता है। जैसे—

परिवर्त्य	परिवर्तित
कोई 'क' 'ख' नही है,	∴ सभी 'क' 'नही-ख' है।
कोई 'मनुष्य' 'ज्ञानी' नही है,	∴ सभी 'मनुष्य' 'अज्ञानी' है।
कोई 'मनुष्य' 'अमर' नही है,	∴ सभी 'मनुष्य' 'मरणशील' है।
कोई 'लडका' 'अक्ल वाला' नही है,	∴ सभी 'लडके' 'बे-अक्ल' है।

(ग) 'ई' वाक्य का परिवर्तित 'ओ' वाक्य होता है। जैसे—

परिवर्त्य	परिवर्तित
कुछ 'क' 'ख' है,	∴ कुछ 'क' 'नही-ख' नही है।
कुछ 'मनुष्य' 'ज्ञानी' है।	∴ कुछ 'मनुष्य' 'अज्ञानी' नही है।
कुछ 'लडके' 'अक्ल वाले' है।	∴ कुछ 'लडके' 'बेअक्ल' नही है।

(घ) 'ओ' वाक्य का परिवर्तित 'ई' वाक्य होता है। जैसे—

परिवर्त्य	परिवर्तित
कुछ 'क' 'ख' नही है,	∴ कुछ 'क' 'नही-ख' है ।
कुछ 'मनुष्य' 'ज्ञानी' नही है,	∴ कुछ 'मनुष्य' 'अज्ञानी' है ।

तव, सब को एक साथ कह सकते है कि—'आ' का परिवर्तित 'ए', 'ए' का 'आ', 'ई' का 'ओ', तथा 'ओ' का 'ई' होता है ।

वस्तुभूत परिवर्तन[1]—तर्कशास्त्री वेन इन रूपो के अलावे एक दूसरे प्रकार का 'परिवर्तन' वताता है, जो वस्तु की परीक्षा और अनुभूति से प्राप्त होता है । जैसे—

ठड सुखद है,	∴ गर्म दु:खद है ।
युद्ध अनर्थकारी है,	∴ शान्ति उन्नतिकारी है ।
ज्ञान प्रकाश-स्वरूप है,	∴ अज्ञान अधकार-स्वरूप है ।
मित्र प्रिय होता है,	∴ शत्रु अप्रिय होता है ।

वेन महाशय स्वय इस प्रकार के 'परिवर्तन' को ऊपर से सर्वथा भिन्न मानते है । यहा, 'परिवर्तन' के किसी भी नियम का पालन नही किया गया है । पहला नियम यह था कि, परिवर्तित का उद्देश वही रहता है जो परिवर्त्य का है । किंतु, यहा वह उसका विरुद्ध-पद है । फिर, एक मुख्य नियम यह था कि परिवर्तित का गुण परिवर्त्य से उलटा हो जाता है : किंतु यहा दोनो का गुण एक ही है । इन अनुमानो का आधार वस्तु-भूत की परीक्षा और अनुभूति है । उनके रूप निश्चय नही किए जा सकते । अत, वे तर्कशास्त्र के अनुमान की कोटि मे नही आते ।

§ ४—परिवर्तित-व्यत्यय[2]

'परिवर्तित-व्यत्यय' अनन्तरानुमान का वह रूप है जिसमें निष्कर्ष-वाक्य का उद्देश आधार-वाक्य के विधेय का विरुद्ध-पद हो ।

---

[1] Material Obversion. [2] Contraposition.

इस अनुमान के आधारवाक्य को 'परिवर्तितव्यत्येय'[1], और निष्कर्ष-वाक्य को 'परिवर्तितव्यत्यस्त'[2] कहते हैं।

इस अनुमान की प्रक्रिया के नियम ये हैं—

(१) निष्कर्ष-वाक्य का उद्देश आधार-वाक्य के विधेय का विरुद्ध-पद होता है।

(२) निष्कर्ष-वाक्य का विधेय आधार-वाक्य का उद्देश-पद होता है।

(३) निष्कर्ष-वाक्य का गुण[3] आधार-वाक्य के गुण का उलटा हो जाता है। अर्थात्, यदि आधार-वाक्य विधानात्मक हो तो निष्कर्ष-वाक्य निषेधात्मक, और यदि आधार-वाक्य निषेधात्मक हो तो निष्कर्ष-वाक्य विधानात्मक हो जाता है।

(४) जो पद आधार-वाक्य में असर्वांशी है वह निष्कर्ष-वाक्य में सर्वांशी नहीं हो सकता।

प्रक्रिया—'परिवर्तित-व्यत्यय' करने का सीधा तरीका यह है कि पहले वाक्य का 'परिवर्तन' करे, और फिर उस निष्कर्ष का 'व्यत्यय' कर ले। इस तरह, यह प्रक्रिया 'परिवर्तन' और 'व्यत्यय' दोनों का संयुक्त रूप है।

(क) 'आ' वाक्य का परिवर्तित-व्यत्यस्त 'ए' वाक्य होता है। जैसे—

क		सभी 'क' 'ख' हैं,	'आ
ख	=	कोई 'क' 'नहीं-ख' नहीं है,	'ए'
ग	=	कोई 'नहीं-ख' 'क' नहीं है।	'ए'

(क) आधार-वाक्य है, (ख) उसका 'परिवर्तित' रूप है, और (ग) उसका भी 'व्यत्यस्त' रूप है। यही तीसरा वाक्य 'परिवर्तित-व्यत्यस्त' हुआ, क्योंकि इसका उद्देश 'नहीं-ख' मूल आधार-वाक्य के विधेय का विरुद्ध-पद है।

---

[1] अंगरेजी में कोई नाम नहीं है

[2] Contiapositive. [3] Quality.

वास्तविक उदाहरण—

सभी 'मनुष्य' 'मरने वाले' है,
= कोई 'मनुष्य' 'अमर' नही है,
कोई 'अमर' 'मनुष्य' नही है।

(ख) 'ए' वाक्य का परिवर्तित-व्यत्यस्त 'ई' वाक्य होता है। जैसे—

कोई 'क' 'ख' नही है, 'ए'
= सभी 'क' 'नही- ख' है, 'आ'
∴ कुछ 'नही-ख' 'क' है। 'ई'

वास्तविक उदाहरण—

कोई 'मनुष्य' 'अमर' नही है,
= सभी 'मनुष्य' 'मरने वाले' है,
∴ कुछ 'मरने वाले' 'मनुष्य' है।

(ग) 'ई' वाक्य का 'परिवर्तित-व्यत्यय' नही होता। क्योकि, 'ई' वाक्य का 'परिवर्तित' रूप 'ओ' होता है, और 'ओ' वाक्य का व्यत्यय नही होता। अत., 'ई' वाक्य का 'परिवर्तित-व्यत्यय' नही हो सकता।

(घ) 'ओ' वाक्य का 'परिवर्तित-व्यत्यस्त' 'ई' वाक्य होता है। क्योकि, 'ओ' वाक्य का 'परिवर्तित' रूप 'ई' होता है, और उसका व्यत्यस्त 'ई' वाक्य होता है। जैसे—

कुछ 'क' 'ख' नही है,
= कुछ 'क' 'नही-ख' है,
∴ कुछ 'नही-ख' 'क' है।

इस तरह, 'आ' का परिवर्तित-व्यत्यस्त 'ए', 'ए' का 'ई', तथा 'ओ' का 'ई' होता है। और, 'ई' वाक्य का परिवर्तित-व्यत्यय होता ही नही।

परिवर्तित-व्यत्यय सीधा सम्भव नहीं

'परिवर्तितव्यत्यय' की प्रक्रिया में दो प्रक्रियाओं का संयोग है। 'परिवर्तन' और 'व्यत्यय', इन दोनों का बिना क्रमश प्रयोग किए, यदि हम इसके नियमों को सीधा लगा कर वाक्य से निष्कर्ष निकालना चाहें तो ठीक नहीं।

नियमों को सीधे लगा कर देखें—

'आ'—सभी 'मनुष्य' 'प्राणी' हैं,
कोई 'अ-प्राणी' 'मनुष्य' नहीं है।
'ओ'—कुछ 'मनुष्य' 'ज्ञानी' नहीं हैं,
कुछ 'अज्ञानी' 'मनुष्य' हैं।

इन दोनों का निष्कर्ष ठीक निकला। सभी नियमों का भी पालन हो गया। आधार-वाक्य के विधेय के विरुद्ध-पद को निष्कर्ष-वाक्य में उद्देश बनाया। आधार-वाक्य के उद्देश को निष्कर्ष-वाक्य में विधेय बनाया। उनके 'गुण' को भी बदल दिया। 'आ' वाक्य का विधेय-पद निष्कर्ष में आ कर सर्वांशी हो गया है, ऐसा संदेह भी नहीं होना चाहिए। क्योंकि, आधार-वाक्य का विधेय-पद 'प्राणी' निष्कर्ष वाक्य के उद्देश-पद 'अप्राणी' से भिन्न है। इस तरह, परिवर्तित-व्यत्यय के नियमों को सीधे लगा कर, पहले 'परिवर्तन' और फिर 'व्यत्यय' करने की लम्बी प्रक्रिया से बिना गुजरे, 'आ' और 'ओ' वाक्यों के 'परिवर्तित-व्यत्यस्त' निकाले जा सकते हैं। तब, क्या वह लम्बी प्रक्रिया निरर्थक है? नहीं, इस प्रक्रिया की तर्कशास्त्रीय आवश्यकता तब प्रगट होती है जब हम 'ए' वाक्य पर नियमों को सीधे लगा कर उसका 'परिवर्तित-व्यत्यस्त' निकालने का प्रयत्न करते हैं। जैसे—

'ए'—कोई 'कुत्ता' 'बिल्ली' नहीं है,
∴ सभी 'गैर-बिल्ली' 'कुत्ते' हैं।

इस उदाहरण मे 'ए' वाक्य पर सभी नियमो को सीधे लागू कर निष्कर्ष निकाला है। आधार-वाक्य के विधेय 'बिल्ली' के विरुद्ध-पद 'गैर-बिल्ली' को निष्कर्ष-वाक्य मे उद्देश बनाया। आधार-वाक्य के उद्देश 'कुत्ता' को निष्कर्ष-वाक्य मे विधेय बनाया। आधार-वाक्य निषेधात्मक था, अत· निष्कर्ष-वाक्य को विधानात्मक बनाया। आधार-वाक्य के किसी असर्वांशी पद के निष्कर्ष-वाक्य मे सर्वांशी होने का भी दोष नही है।

सब नियमो का पालन होने पर भी निष्कर्ष ठीक नही निकला। "सभी गैर-बिल्ली" कुत्ते नही हैं। मनुष्य, गाय, घोडा सभी 'गैर-बिल्ली' है। इसलिए, कुछ ही 'गैर-बिल्ली' कुत्ते हो सकते है, सभी नही।

'परिवर्तन' और 'व्यत्यय' की सयुक्त प्रक्रिया से ही निष्कर्ष निश्चय-पूर्वक ठीक होता है। जैसे—

ए—कोई 'कुत्ता' 'बिल्ली' नहीं है,
= सभी 'कुत्ता' 'गैर-बिल्ली' है,
∴ कुछ 'गैर-बिल्ली' 'कुत्ता' है।

अत, 'परिवर्तित-व्यत्यय' अनन्तरानुमान का कोई शुद्ध रूप नही, किंतु 'परिवर्तन' और 'व्यत्यय' का मिश्र रूप ही है।

§ ५—विपर्यय[1]

'विपर्यय' अनन्तरानुमान का वह रूप है जिसमें निष्कर्ष-वाक्य का उद्देश आधार-वाक्य के उद्देश का विरुद्ध-पद होता है।

इसके आधार-वाक्य को **विपर्येय**[2], और निष्कर्ष-वाक्य को **विपर्यस्त**[3] कहते है। 'विपर्यय' दो प्रकार का होता है—**'पूर्ण-विपर्यय'**[4] और **'अपूर्ण-विपर्यय'**[5]। 'पूर्ण-विपर्यय' मे 'विपर्यस्त' का विधेय भी 'विपर्येय' के विधेय

---

[1] Inversion [2] Invertend [3] Inverse
[4] Complete Inversion. [5] Partial Inversion.

का विरुद्ध-पद होता है। किंतु, 'अपूर्ण-विपर्यय' में 'विपर्यय' का विधेय उसी रूप में 'विपर्यस्त' का भी विधेय होता है।

विपर्यय के नियम ये है—

(१) विपर्यस्त का उद्देश विपर्यय के उद्देश का विरुद्ध-पद होता है।

(२) 'पूर्ण-विपर्यय' में विपर्यस्त का विधेय भी विपर्यय के विधेय का विरुद्ध-पद होता है। किंतु, 'अपूर्ण-विपर्यय' में विपर्यस्त का विधेय वही होता है जो 'विपर्यय' का विधेय हो।

(३) 'विपर्यय' अनुमान केवल सामान्य-वाक्य का होता है, विशेष-वाक्य का नहीं। और, उसका 'विपर्यस्त' बराबर विशेष-वाक्य होता है, सामान्य नहीं।

(४) 'पूर्ण-विपर्यय' में विपर्यस्त का 'गुण' विपर्यय के गुण के समान ही होता है। अपूर्ण-विपर्यय में विपर्यस्त का गुण विपर्यय के गुण का उलटा होता है।

प्रक्रिया

'परिवर्तित-व्यत्यय' की तरह, 'विपर्यय' भी 'परिवर्तन' और 'व्यत्यय' का मिश्र रूप है। इसकी प्रक्रिया यह है कि, किसी एक से प्रारम्भ कर, 'परिवर्तन' और 'व्यत्यय' से लगातार वाक्य का निष्कर्ष निकालते जाय जब तक कि निष्कर्ष-वाक्य का उद्देश आधार-वाक्य के उद्देश का विरुद्ध-पद न हो जाय।

(क) 'आ' वाक्य—'परिवर्तन' से प्रारम्भ कर इस प्रकार अपेक्षित निष्कर्ष प्राप्त किया जा सकता है—

विपर्यय— सभी 'क' 'ख' है,
(उसका परिवर्तित) = कोई 'क' 'नही-ख' नही है,
(उसका व्यत्यस्त) = कोई 'नही-ख' 'क' नही है,
(उसका परिवर्तित) = सभी 'नही-ख' 'नही-क' है,
(उसका व्यत्यस्त) . . कुछ 'नही-क' 'नही-ख' है, पूर्ण-विपर्यस्त

(उसका परिवर्तित)   . कुछ 'नही-क' 'ख' नही है। अपूर्ण-विपर्यस्त

यदि इस प्रक्रिया को 'व्यत्यय' से प्रारम्भ करे तो 'विपर्यस्त' प्राप्त होने के पूर्व ही रुक जाना पडेगा।

जैसे—

सभी 'क' 'ख' है   —'आ'

कुछ 'ख' 'क' है   —'ई'

= कुछ 'ख' 'नही-क' नही है —ओ

अब, इसका व्यत्यय नही हो सकता, क्योकि यह 'ओ' वाक्य है।

अत, 'आ' वाक्य का विपर्यस्त निकालने के लिए प्रक्रिया को 'परिवर्तन' से प्रारम्भ करना होगा। उसका पूर्ण-विपर्यस्त 'ई' वाक्य, और अपूर्ण-विपर्यस्त 'ओ' वाक्य होता है।

(ख) **'ए' वाक्य** का विपर्यस्त निकालने के लिए प्रक्रिया को 'व्यत्यय' से प्रारम्भ करना होगा। 'परिवर्तन' से प्रारम्भ करने से अपेक्षित निष्कर्ष प्राप्त करने के पूर्व ही रुक जाना पड़ता है, क्योकि, 'ए' का परिवर्तित 'आ' हुआ, उसका व्यत्यस्त 'ई' हुआ, और उसका परिवर्तित 'ओ' हुआ, जिसका व्यत्यय नही हो सकता।

प्रक्रिया को व्यत्यय से प्रारम्भ कर 'ए' वाक्य का विपर्यस्त इस प्रकार निकाला जा सकता है—

विपर्यय—		कोई 'क' 'ख' नही है,	'ए'
(उसका व्यत्यस्त)	=	कोई 'ख' 'क' नही है,	'ए'
(उसका परिवर्तित)	=	सभी 'ख' 'नही-क' है,	'आ'
(उसका व्यत्यस्त)	. .	कुछ 'नही-क' 'ख' है, **अपूर्ण विपर्यस्त**	'ई'
पूर्ण विपर्यस्त	.	कुछ 'नही-क' 'नही-ख' नही है, **(उसका परिवर्तित)**	'ओ'

अत, 'ए' वाक्य का विपर्यस्त निकालने के लिए प्रक्रिया को 'व्यत्यय'

से प्रारम्भ करना होगा। उसका पूर्ण-विपर्यस्त 'ओ' वाक्य, और अपूर्ण-विपर्यस्त 'ई' वाक्य होता है।

'ई' तथा 'ओ', इन विशेष-वाक्यो का 'विपर्यय' नही होता, यह तो इस अनुमान के नियमो मे ही कहा जा चुका है। फिर भी, प्रक्रिया को उन पर लागू करके देख ले कि किस तरह अपेक्षित निष्कर्ष प्राप्त होने के पूर्व ही 'ओ' वाक्य के व्यत्यय की बात से बीच ही मे रुक जाना पडता है—

(ग) 'ई' वाक्य—

'व्यत्यय' से प्रारम्भ कर

	विपर्यय—कुछ 'क' 'ख' है,	'ई'
(उसका व्यत्यस्त)	= कुछ 'ख' 'क' है,	'ई'
(उसका परिर्वातत)	= कुछ 'ख' 'नही-क' नही है,	'ओ'

अब, इसका व्यत्यय नही हो सकता।

'परिवर्तन' से प्रारम्भ कर

	विपर्यय—कुछ 'क' 'ख' है,	'ई'
(उसका परिर्वातत)	= कुछ 'क' 'नही-ख' नही है,	'ओ'

अब, इसका व्यत्यय नही हो सकता।

(घ) 'ओ' वाक्य

'ओ' वाक्य का 'व्यत्यय' होता ही नही, इसलिए 'परिवर्तन' से प्रक्रिया को प्रारम्भ करके देखें—

	विपर्यय—कुछ 'क' 'ख' नही है,	'ओ'
(उसका परिर्वातत)	= कुछ 'क' 'नही-ख' है,	'ई'
(उसका व्यत्यस्त)	= कुछ 'नही-ख' 'क' है,	'ई'
(उसका परिर्वातत)	= कुछ 'नही-ख' 'नही-क' नही है,	'ओ'

अब, इसका व्यत्यय नही हो सकता।

तब, कह सकते हैं कि—

(१) विशेष-वाक्यो का विपर्यय हो ही नही सकता।

(२) सामान्य-वाक्यो के पूर्ण-विपर्यस्त के 'गुण' अपने विपयय के समान होगे, और उनके अपूर्ण-विपर्यस्त के 'गुण' अपने विपर्येय से ठीक उलटे होगे . क्योकि, 'आ' का पूर्ण विपर्यस्त 'ई', तथा 'ए' का 'ओ' है : और 'आ' का अपूर्ण-विपर्यस्त 'ओ', तथा 'ए' का 'ई' है।

अनन्तरानुमान के यही चार—व्यत्यय, परिवर्तन, परिवर्तित-व्यत्यय, और विपर्यय—रूप मुख्य है। चारो के एक साथ तुलनात्मक अध्ययन करने के लिए निम्न तालिका दी जाती है—

'आ' वाक्य

आधार वाक्य	सभी 'क' 'ख' है	सभी 'पंजाबी' 'भारतीय' हैं
१. व्यत्यय	कुछ 'ख' 'क' है	कुछ 'भारतीय' 'पजाबी' है
२. परिवर्तन	कोई 'क' 'नही-ख' नही है	कोई 'पजाबी' 'अभारतीय' नही है
३. परिवर्तित-व्यत्यय	कोई 'नही-ख' 'क' नही है	कोई 'अभारतीय 'पजाबी' नही है
४. विपर्यय	कुछ 'नही-क' 'नही-ख' है अथवा कुछ 'नही-क' 'ख' नही है	कुछ 'अपजाबी' 'अभारतीय है अथवा कुछ 'अपजाबी' 'भारतीय' नही है

चारो वाक्यो के निष्कर्ष इन चारो अनुमानो मे किस प्रकार होते है सो निम्न तालिका से प्रकट होगा—

आधार-वाक्य	व्यत्यस्त	परिवर्तित	परिवर्तित-व्यत्यस्त	विपर्यस्त पूर्ण अपूर्ण
'आ'	'ई'	'ए'	'ए'	'ई', 'ओ'
'ए'	'ए'	'आ'	'ई'	'ओ', 'ई'
'ई'	'ई'	'ओ'		
'ओ'		'ई'	'ई'	

§ ६—वाक्य के वलावल पर अनुमान[1]

'वलावल' की दृष्टि से वाक्य तीन प्रकार के है—निश्चित, प्रतिज्ञात और सदिग्ध। इनमे एक प्रकार के आधार पर दूसरे प्रकार का अनुमान किया जा सकता है। इसे 'वाक्य के वलावल पर अनुमान' कहते है। यह भी अनन्तरानुमान का एक रूप है। इसके नियम ये है—

पहला नियम—किसी अधिक 'वल' वाले वाक्य के सत्य होने से उससे कम वल वाले वाक्य भी अवश्य सत्य होगे, किंतु इसका प्रतिलोम नहीं।

यदि कोई 'निश्चित वाक्य' सत्य हो तो उसके 'प्रतिज्ञात' तथा 'सदिग्ध' रूप अवश्य सत्य होगे। जैसे, 'क' 'ख' अवश्य है, यदि यह वाक्य सत्य हो तो 'क' 'ख' है, और कदाचित् 'क' 'ख' है, अवश्य सत्य होगे।

---

[1] Modal Consequence.

उसी तरह, यदि 'क' 'ख' है, यह वाक्य सत्य हो तो उसका 'सदिग्ध-रूप' कदाचित् 'क' 'ख' है अवश्य सत्य होगा। किंतु इस नियम का प्रतिलोभ ठीक नही उतरता। 'सदिग्ध' वाक्य के सत्य होने से 'प्रतिज्ञात' या 'निश्चित' वाक्य की सत्यता सिद्ध नही हो सकती।

दूसरा नियम—किसी कम 'बल' वाले वाक्य के असत्य होने से उससे अधिक बल वाले वाक्य भी असत्य होंगे, किंतु इसका प्रतिलोम नही।

यदि कोई 'सदिग्ध वाक्य' असत्य हो तो उसके 'प्रतिज्ञात' तथा 'निश्चित' रूप भी अवश्य असत्य होगे। अथवा, यदि कोई 'प्रतिज्ञात वाक्य' असत्य हो तो उसका 'निश्चित' रूप भी अवश्य असत्य होगा। जैसे, कदाचित् 'क' 'ख' है, इस वाक्य मे सत्यता यदि नही है तो 'क' 'ख' है या 'क' 'ख' अवश्य है, इन वाक्यो का असत्य होना जरूर है। उसी तरह, यदि 'क' 'ख' है, यह वाक्य असत्य है तो 'क' 'ख' अवश्य है यह वाक्य भी अवश्य असत्य होगा। किंतु, इस नियम का प्रतिलोम ठीक नही उतरता। 'निश्चित' वाक्य की असत्यता से 'प्रतिज्ञात' या 'सदिग्ध' की, अथवा 'प्रतिज्ञात' की असत्यता से 'सदिग्ध' की असत्यता सिद्ध नही होगी।

§ ७—वाक्य के सम्बन्ध का परस्पर रूपान्तर[1]

ऊपर देख चुके है कि सम्बन्ध की दृष्टि से वाक्य तीन प्रकार के होते है—निरपेक्ष, हेतुफलाश्रित और वैकल्पिक। इनमे एक प्रकार के वाक्य को दूसरे प्रकार के वाक्य मे रूपान्तर किया जा सकता है। इसे **'वाक्य के सम्बन्ध का परस्पर रूपान्तर'** कहते है। यह भी अनन्तरानुमान का एक रूप है।

वाक्य के सम्बन्ध का परस्पर रूपान्तर चार प्रकार से हो सकता है—

(१) निरपेक्ष वाक्य को हेतुफलाश्रित वाक्य बनाना।

(२) हेतुफलाश्रित वाक्य को निरपेक्ष वाक्य बनाना।

(३) वैकल्पिक वाक्य के कई हेतुफलाश्रित वाक्य बनाना।

---

[1] Change of Relation.

(४) कई हेतुफलाश्रित वाक्यो से एक वैकल्पिक वाक्य बनाना।

* * * *

निरपेक्ष और हेतुफलाश्रित वाक्यो को परस्पर रूपान्तर करने के लिए इन बातो को ख्याल रखना जरूरी है—

(क) हेतुफलाश्रित वाक्य मे 'हेतु' का स्थान वही है जो निरपेक्ष वाक्य मे उद्देश्य का है।

(ख) हेतुफलाश्रित वाक्य मे 'फल' का स्थान वही है जो निरपेक्ष वाक्य में विधेय का है।

(ग) हेतुफलाश्रित वाक्य का 'अंश' वही समझा जायगा जो उसके 'हेतु' मे व्यक्त हुआ है।

(घ) हेतुफलाश्रित वाक्य का 'गुण' वही समझा जायगा जो उसके 'फल' मे व्यक्त हुआ है।

(१) निरपेक्ष से हेतुफलाश्रित

निरपेक्ष	हेतुफलाश्रित
'आ'—सभी 'क' 'ख' है	= यदि 'क' है, तो 'ख' है
सभी मनुष्य मरणशील है	= यदि मनुष्य है, तो मरणशील है
'ए'—कोई 'क' 'ख' नही है	= यदि 'क' है, तो 'ख' नही है
कोई मनुष्य अमर नही है	= यदि मनुष्य है, तो अमर नहीं है
'ई'—कुछ 'क' 'ख' है	= यदि कुछ अवस्थाओ मे 'क' है, तो 'ख' है
कुछ मनुष्य पण्डित है	= यदि कुछ अवस्थाओ मे मनुष्य है, तो पण्डित है।
'ओ'—कुछ 'क' 'ख' नही है	= यदि कुछ अवस्थाओ मे 'क' है, तो 'ख' नही है
कुछ मनुष्य पण्डित नही है	= यदि कुछ अवस्थाओ मे मनुष्य है, तो पण्डित नही है।

(२) हेतुफलाश्रित से निरपेक्ष

हेतुफलाश्रित		निरपेक्ष
'आ'—यदि 'क' 'ख' है, तो 'ग' 'घ' है	=	सभी 'क के ख होने की अवस्थाये' 'ग के घ होने की अवस्थाये' है।
यदि अमुक प्रकार का मच्छर काटे, तो मलेरिया हो	=	सभी 'अमुक प्रकार के मच्छर के काटने की अवस्थाये' 'मलेरिया होने की अवस्थाये' है।
'ए'—यदि 'क' 'ख' है, तो 'ग' 'घ' नही है	=	कोई 'क के ख होने की अवस्था' 'ग के घ होने की अवस्था' नही है।
यदि पानी बरसे, तो जमीन सूखी न रहे	=	कोई 'पानी बरसने की अवस्था' 'जमीन सूखी रहने की अवस्था' नही है।
'ई'—यदि कुछ अवस्थाओ मे 'क' 'ख' है, तो 'ग' 'घ' है	=	कुछ 'क के ख होने की अवस्थाये' 'ग के घ होने की अवस्थाये' है।
यदि कुछ अवस्थाओ मे बीज बोया जाता है, तो वृक्ष होता है	=	कुछ 'बीज बोने की अवस्थाये' 'वृक्ष होने की अवस्थाये' है।
'ओ'—यदि कुछ अवस्थाओ मे 'क' 'ख' है, तो 'ग' 'घ' नही है	=	कुछ 'क के ख होने की अवस्थाये' 'ग के घ होने की अवस्थायें' नही है।

यदि कुछ अवस्थाओं मे बीज
बोया जाता है, तो वृक्ष
नही होता है = कुछ 'बीज बोने की अवस्थायें'
'वृक्ष होने की अवस्थायें' नही है ।

(३) वैकल्पिक से हेतुफलाश्रित

वैकल्पिक वाक्य के दोनो विकल्पो में परस्पर क्या सम्बन्ध है इस विषय पर मिल और युबर्वेग दो तर्कशास्त्रियो मे मतभेद है । मिल के मतानुसार वे परस्पर 'उप-भेदक'[1] है, जिससे उनमे एक के झूठ होने से दूसरा सत्य ठहरता है, किंतु इसका प्रतिलोम नही । तब, किसी 'वैकल्पिक' वाक्य से दो ही हेतुफलाश्रित वाक्य सिद्ध हो सकेंगे ।

युबर्वेग के मतानुसार वे परस्पर 'विरुद्ध'[2] है, जिससे उनमे एक के सत्य होने से दूसरा झूठ, और एक के झूठ होने से दूसरा सत्य ठहरता है । तब, किसी वैकल्पिक वाक्य से चार हेतुफलाश्रित वाक्य सिद्ध हो सकेंगे ।

[सविस्तार व्याख्या के लिए देखिए पृ० ९४, ९५]

(४) हेतुफलाश्रित से वैकल्पिक

मिल और युबर्वेग के जिन सिद्धान्तो से वैकल्पिक वाक्य से हेतुफलाश्रित वाक्यो के निकालने की विधि ऊपर हमने देखी, उन्हीं के प्रतिलोम प्रयोग से हेतुफलाश्रित वाक्यो से किसी वैकल्पिक वाक्य की रचना हो सकती है । मिल के अनुसार, जैसा हम देख चुके है, दो हेतुफलाश्रित वाक्यो के आधार पर ही किसी वैकल्पिक वाक्य की रचना हो सकती है । किंतु, युबर्वेग के अनुसार एक वैकल्पिक वाक्य की रचना के लिए चार हेतुफलाश्रित वाक्यो की आवश्यकता है ।

---

[1] Sub-contrary [2] Contradictory

§ ८—विशेषण संयोगानुमान[1]

विशेषण संयोगानुमान अनन्तरानुमान का वह रूप है जिसमें किसी वाक्य के दोनों पदो के साथ समान विशेषण लगा कर निष्कर्ष निकाला जाय। जैसे—

भारतीय मनुष्य है, ∴ ईमानदार भारतीय ईमानदार मनुष्य है।

लोहा धातु है, ∴ गरम लोहा गरम धातु है।

टेवल एक सामान है, ∴ सुन्दर टेवल एक सुन्दर सामान है।

ऐसे अनुमान के लिए यह आवश्यक है कि जो विशेषण दोनो पदो के साथ लगाया जाय वह दोनो के विस्तार को समान रूप से ही सीमित करे। विशेषण के शब्द समान रहने पर भी, बहुधा वे दोनो पदो को विषम रूप से सीमित करते है, और निष्कर्ष ठीक नही होता। जैसे, 'चीटी एक जीव है', इस वाक्य से ऐसा निष्कर्ष नही निकाल सकते कि, 'एक बडी चीटी एक बडा जीव है'। चीटी कितनी भी बडी क्यो न हो, 'बडा जीव' नही हो सकती। एक ही शब्द 'बडा' चीटी के साथ कुछ दूसरा अर्थ रखता है, और जीव के साथ कुछ दूसरा, क्योकि यह एक सापेक्ष शब्द है जो अपने अर्थ उसी के अनुपात मे निर्धारित करता है जिसके साथ उसका प्रयोग हुआ हो। ऐसी अवस्थाओ मे, इस विधि से प्राप्त निष्कर्ष असत्य ही नही, बडे हास्यास्पद होगे। जैसे—

गवैया आदमी है,
∴ बुरा गवैया बुरा आदमी है।
चोर आदमी है,
∴ अच्छा चोर अच्छा आदमी है। इत्यादि,

---

[1] Inference by Added Determinants.

§ ९—मिश्रप्रत्ययानुमान[1]

'मिश्रप्रत्ययानुमान' अनन्तरानुमान का वह रूप है जिसमें वाक्य के दोनों पदो को समान रूप से मिश्र बना कर निष्कर्ष निकाला जाय।

जैसे—

'घोडा' एक पशु' है,
'घोडे का चित्र' 'एक पशु का चित्र' है।

यहा, निष्कर्ष-वाक्य के पद आधार-वाक्य के पदो से बिलकुल भिन्न हैं। 'घोडा' और 'घोडे का चित्र' दो चीजे है। दोनो मे समानता केवल इतनी है कि 'घोडा' शब्द का प्रयोग दोनो मे हुआ है। किंतु, पहला एक ही 'प्रत्यय' है, और दूसरा, उसके साथ एक और मिल कर, एक 'मिश्र-प्रत्यय' है।

विशेषणसयोगानुमान और मिश्रप्रत्ययानुमान में भेद यह है कि पहले में पदो के साथ कोई समान विशेषण युक्त होता है, जो उसके विस्तार को सकीर्ण तो कर देता है, किंतु उन्हे भिन्न अर्थ का बोधक नही बनाता, किंतु दूसरे में पद समान प्रत्यय के साथ मिल कर भिन्न अर्थ के बोधक हो जाते है।

इस अनुमान मे भी, नये सयुक्त होने वाले अग यदि दोनो पदों में ममान रूप से प्रयुक्त न हो तो निष्कर्ष ठीक नही होता। जैसे—

'जुलाहे' 'मनुष्य' है,
'अधिकाश जुलाहे' 'अधिकाश मनुष्य' है।

यह अनुमान ठीक नही है, क्योकि जुलाहो की अपेक्षा सभी मनुष्यो की सख्या अत्यन्त अधिक है। चाहे कितने भी अधिक जुलाहे क्यो न हो, मनुष्य की सख्या के अनुपात मे बहुत थोडे ही होगे।

---

[1] Inference by Complex Conception.

नवाँ अध्याय

अनुमान-प्रकरण

निगमन विधि

(दूसरा भाग)

परंपरानुमान[1]

न्यायवाक्य[2]

(क. शुद्ध[3])

§ १—न्याय-वाक्य क्या है?

'अनन्तरानुमान' की परीक्षा कर लेने के बाद, अब 'परपरानुमान' के रूपो का अध्ययन करेगे। ऊपर देख चुके है कि इसे 'परपरानुमान' इस कारण कहते है कि इस प्रक्रिया मे 'उ'[4] और 'वि'[5] के साथ निष्कर्ष मे जो सम्बन्ध स्थापित करते है, उसका आधार दोनो का पृथक् पृथक् एक तीसरे पद के साथ सम्बन्ध का होना है।* यह तीसरा पद 'हेतु'[6] कहा जाता है, जिसे बराबर 'हे' सकेत से प्रकट करेगे। इस तरह, 'परपरा-

---

[1] Mediate Inference [2] Syllogism. [3] Pure.
[4] S=Subject-of-the-Conclusion=Minor Ter. (पक्ष)
[5] P=Predicate-of-the-Conclusion=Major Term. (साध्य) [6] M=Middle Term. *पृ० १२०-२४

नुमान' में तीन वाक्य होते हैं—पहला वाक्य 'हे' का 'वि' के साथ सम्बन्ध दिखाता है, दूसरा वाक्य यह दिखाता है कि 'उ' भी 'हे' के साथ सम्बद्ध है, और इन दोनो के आधार पर तीसरा वाक्य निष्कर्ष दिखाता है कि 'उ' का 'वि' के साथ सम्बन्ध है। जैसे—

सभी 'हे' 'वि' है,
सभी 'उ' 'हे' है,
सभी 'उ' 'वि' है।
सभी 'मनुष्य' 'मरणशील' है,
'राम' 'मनुष्य' है,
'राम' 'मरणशील' है।

'परपरानुमान' के ये वाक्य यथार्थ मे तीन नही है, किंतु सभी मिल कर एक ही 'महावाक्य' की रचना करते हैं। तीन अवयवो वाले इस महावाक्य को 'न्याय वाक्य' कहते है। हमें स्मरण रखना चाहिए कि 'न्यायवाक्य' अनुमान की निगमन-विधि के परपरानुमान का रूप है, जिसमे अधिक व्यापक आधार से कम व्यापकता का निष्कर्ष निकाला जाता है।

§ २—न्यायवाक्य का स्वरूप

'न्यायवाक्य' का स्वरूप समझने के लिए फिर भी इन तीन बातो को स्पष्ट कर लेना अच्छा होगा—

(१) न्यायवाक्य के तीन अवयव होते हैं। पहले अवयव मे निष्कर्ष के विधेय-पद (='वि') के साथ 'हेतु' (='हे') का सम्बन्ध रहता है, इसलिए इसे विधेय-वाक्य[1] कहते है। दूसरे अवयव मे निष्कर्ष के उद्देश-पद (='उ') के साथ हेतु का सम्बन्ध रहता है, इसलिए इसे उद्देश-वाक्य[2] कहते है। इन दोनो को 'आधार' वाक्य[3] कहते है, क्योकि इन्ही के

---

[1] Major Premise [2] Minor Premise [3] Premise

सयुक्त आधार पर निष्कर्ष निकाला जाता है। तीसरा अवयव 'निष्कर्ष-वाक्य'[1] है, जो दोनो आधार-वाक्यो के सयुक्त परामर्श से सिद्ध होता है।

अगरेजी मे निष्कर्ष-वाक्य के उद्देश को Minor term (=व्याप्य पद) और विधेय को Major term (=व्यापक पद) कहते है। न्याय-वाक्य का निष्कर्ष यदि 'आ' वाक्य हो तो यह बडा सत्य है। 'आ' वाक्य का विधेय व्यापक और उद्देश व्याप्य होता है। 'सभी घोड़े पशु है', यहा 'पशु' व्यापक है और 'घोडा' व्याप्य, क्योकि पहले का विस्तार अधिक है जिसमे दूसरा अन्तर्गत है।

(२) जैसा ऊपर देख चुके है, 'न्यायवाक्य' निगमनविधि का एक रूप है। अधिक सामान्य बात के आधार पर उससे कम सामान्य बात के विषय मे अनुमान करना ही निगमन-विधि है। अत, 'न्यायवाक्य' मे निष्कर्ष-वाक्य अपने आधार-वाक्यो से अधिक विस्तार का कभी नही हो सकता। सभी मनुष्यो के विषय मे किसी जानकारी के आधार पर सभी प्राणियो के विषय मे कुछ अनुमान नही कर सकते, किंतु सभी प्राणियो के विषय मे किसी जानकारी के आधार पर सभी मनुष्यो के विषय मे कुछ अलवत्ता अनुमान कर सकते है, क्योकि सभी प्राणियो मे सभी मनुष्य अन्तर्गत है, सभी मनुष्यो मे सभी प्राणी नही।

(३) न्यायवाक्य की प्रामाणिकता[2] इसी मे है कि उसके निष्कर्ष-वाक्य और आधार-वाक्यो मे परस्पर पूरी सगति हो। न्यायवाक्य का निष्कर्ष इस बात का आश्वासन नही देता कि उससे वस्तु के साथ भी सवाद है। ऊपर देख चुके है कि इसी कारण तर्कशास्त्र को रूपविषयक सत्यता[3] का उत्तरदायी माना है, विषयविषयक सत्यता[4]

---

[1] Conclusion.
[2] Validity
[3] Formal Truth
[4] Material Truth.

का नही। किंतु हा, यदि न्यायवाक्य के आधार-वाक्यो की विषयविषयक सत्यता मे पूरी दृढता हो, तो निष्कर्ष-वाक्य की भी विषयविषयक सत्यता अवश्य होगी, क्योंकि यह तो उन्ही से सिद्ध हुआ है। इसलिए, न्यायवाक्य का प्रामाण्य उसके आधार-वाक्यो के प्रामाण्य पर निर्भर करता है, उसके निष्कर्ष-वाक्य के प्रामाण्य पर नही।

निष्कर्ष के वास्तविक असत्य होने से उसके आधार-वाक्य की असत्यता तो सिद्ध होती है, किंतु आधार-वाक्यो के असत्य होने मे उसके निष्कर्ष की असत्यता सिद्ध नही होती।

सभी मनुष्य चौपाये है,
मभी घोडे मनुष्य है,
सभी घोडे चौपाये है।

इस न्यायवाक्य में निष्कर्ष वास्तविक सत्य है, किंतु इसके आधार-वाक्य वास्तविक सत्य नही है। इससे यह सिद्ध हुआ कि (१) आधार-वाक्यो के वास्तविक सत्य होने से निष्कर्ष भी अवश्य वास्तविक सत्य होगा, किंतु (२) निष्कर्ष के वास्तविक सत्य होने से आधार-वाक्यो की वास्तविक सत्यता सिद्ध नही होती।

ऊपर देख चुके है कि हेतुफलाश्रित वाक्य के 'हेतु' और 'फल' में ठीक यही सम्बन्ध है। 'हेतु' के सत्य होने से 'फल' सत्य होता है, किंतु इसका प्रतिलोम नही। और, 'फल' के असत्य होने से 'हेतु' असत्य होता है, किंतु इसका प्रतिलोम नही।

जो हो, हमे तो यहाँ न्यायवाक्य के वास्तविक सत्यासत्य से कोई मतलब नही। हमे यहा केवल यही अध्ययन करना है कि जो भी आधार-वाक्य प्राप्त है उनके सयुक्त परामर्श से निष्कर्ष कैसे निकाला जा सकता है। न्यायवाक्य के तीनो अवयवो मे परस्पर असगति न हो यहा यही हमारा लक्ष्य है।

§ ३—प्राच्य और पाश्चात्य पद्धतियों में न्यायवाक्य

भारतीय न्यायशास्त्र के अनुसार न्याय-वाक्य पाच अवयवो मे पूर्ण होता है, जैसे—

(१) प्रतिज्ञा— पर्वत अग्निमान् है,
(२) हेतु— क्योकि, पर्वत धूम्रवान् है,
(३) उदाहरण— जहा जहा धूम्र है वहा वहा अग्नि है, जैसे रसोई घर मे,
(४) उपनय— वैसे ही, यहा भी धूम्र है,
(५) निगमन— . . यहा भी अग्नि है।

जिस बात को सिद्ध करना है उसे सब से पहले कह दिया, इसे 'प्रतिज्ञा' कहते है। 'प्रतिज्ञा' के उद्देश को 'पक्ष' कहते है, जिसके विषय मे कुछ (यहा, अग्नि का होना) सिद्ध करना है। और, 'प्रतिज्ञा' के विधेय को 'साध्य' कहते है, जो 'पक्ष' के विषय मे सिद्ध किया जाता है। इस तरह, प्राच्य-पद्धति मे निष्कर्ष-वाक्य को सब से पहले ही कह देते है कि इसे सिद्ध करना है, और अन्त मे उसी बात का फिर भी कथन कर देते है कि यह सिद्ध हो गया। यहाँ 'प्रतिज्ञा' और 'निगमन' दोनो के रूप वही है जो पाश्चात्य पद्धति मे 'निष्कर्ष-वाक्य' (=Conclusion) का है। और, 'पक्ष' तथा 'साध्य' वही है जिन्हे हमने ऊपर 'उ' तथा 'वि' सकेतो से पुकारा है, जो अगरेजी मे Minor Term तथा Major Term कहे जाते है।

कोई प्रश्न कर सकता है कि, प्राच्य पद्धति मे निष्कर्ष को ही सब मे पहले कथन करने का क्या प्रयोजन है? इसका उत्तर यह है—तर्कशास्त्र 'प्रमाण-शास्त्र' (=Science of Proof) है, जिसका मुख्य काम किसी बात को युक्ति दे कर सिद्ध करना है। यह प्रकट करता है कि तर्कशास्त्र का अनुमान प्रधानत. निष्कर्ष से युक्ति की ओर जाता है, और तब यह

आवश्यक है कि उसका पहले कथन हो जाना चाहिए जिसे सिद्ध करना है, सिद्ध हो जाने पर फिर भी उसका कथन कर दिया जाय कि यह सिद्ध हो गया। रेखागणित में ठीक इसी प्रकार पहले प्रतिज्ञा होती है कि क्या सिद्ध करना है, फिर उसे सिद्ध करने की उपपत्ति देते है, और अन्त मे सिद्ध हो जाने पर फिर भी दिखा देते है कि साध्य उपपन्न हुआ।

पाश्चात्य तर्कशास्त्री कार्भेथ रीड इसे स्पष्ट करते हुए लिखता है[1]—" 'अनुमान' शब्द दो भिन्न भिन्न अर्थो मे प्रयुक्त होता है, जो बहुधा एक दूसरे का भ्रम उत्पन्न कर देता है। उन्हे साफ साफ समझ लेना चाहिए। पहला अर्थ उस विचार के क्रम से है जिससे कुछ जान या सुन कर हम कुछ अन्दाजा लगाते है। यह जानी या सुनी बात अत्यन्त अपर्याप्त तथा अस्पष्ट हो सकती है, जिससे कोई आशका भर उत्पन्न हो। जैसे, आकाश की ओर देख कर किसी खास तरह के मौसिम होने की आशका कर लेते है। अथवा, वह बात बडी प्रबल और पर्याप्त हो सकती है, उन पद-चिह्नो की तरह जिन्हे देख कर क्रूसो नरभक्षी जगलियो का वहा होना जान कर भयभीत हो गया था। ये उदाहरण अनुमान करने की क्रिया के क्रम के है। 'अनुमान' शब्द के इस अर्थ से तर्कशास्त्र का कोई मतलब नही। यह तो मानसशास्त्र का अध्येय विषय है कि मन एक बात से दूसरी बात का कैसे अनुमान करता है, हम कैसे किसी बात का अन्दाजा लगा लेते है और उस पर कैसे मेरा विश्वास भी हो जाता है।

" 'अनुमान' शब्द का दूसरा अर्थ इस मानसिक प्रक्रिया से नही है, किंतु उस प्रक्रिया द्वारा प्राप्त फल से है। उस प्रक्रिया द्वारा फलित निष्कर्ष से है। इसी दूसरे अर्थ मे 'अनुमान' तर्कशास्त्र का विषय है। तर्कशास्त्र का अध्येय विषय वस्तुस्थिति सम्बन्धी वह निष्कर्ष है जो वाक्य

---

[1] देखिए Carveth Read, Logic, p 69

मे व्यक्त किया गया हो, जिसकी परीक्षा उस युक्ति के सम्बन्ध मे करनी है जो उसे सिद्ध करने के लिए दी गई हो। तर्कशास्त्र यह बताता है कि कैसी युक्ति ठीक है। मानसशास्त्र इसकी व्याख्या करता है कि जानी या सुनी बात के आधार पर मन किस क्रम से निष्कर्ष पर पहुंचता है; किंतु तर्कशास्त्र निष्कर्ष को ले कर इसका पता लगाता है कि किस तरह यह सिद्ध हुआ है. . ।[1]"

इस विचार से प्राच्यन्यायवाक्य की पद्धति अत्यन्त शास्त्रीय ठहरती है कि उसमे सबसे पहले 'प्रतिज्ञा' का अवयव है जो इसका कथन कर देता है कि क्या सिद्ध करना है।

दूसरा अवयव 'हेतु' है जो उस बात का कथन करता है जो 'पक्ष' मे रह 'प्रतिज्ञा' की सिद्धि का आधार है। इस अवयव का वही स्थान है जो पाश्चात्य पद्धति मे 'उद्देश-वाक्य' (=Minor Premise) का है, जिसमे निष्कर्ष के उद्देश के साथ हेतु का सम्बन्ध दिखाया रहता है।

तीसरा अवयव 'उदाहरण' है, जिसमे 'साध्य' का 'हेतु' के साथ सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। इसका वही स्थान है जो पाश्चात्य पद्धति मे 'विधेय-वाक्य' (Major Premise) का है, जो निष्कर्ष के विधेय के साथ हेतु का सम्बन्ध बताता है।

इस तरह, 'पक्ष' (='उ'=Minor Term) और 'साध्य' (='वि'=Major Term) क्रमश. दूसरे और तीसरे अवयवो मे

---

[1] Whilst Psychology explains how the mind goes forward from data to conclusions, Logic takes a conclusion and goes back to the data, inquiring whether those data, together with any other evidence that can be collected, are of a nature to warrant the conclusion

'हेतु' (='हे'=Middle Term) के साथ पृथक् पृथक् सम्बद्ध हो कर परपरानुमान से निष्कर्ष में परस्पर सम्बद्ध सिद्ध होते है।

दूसरे और तीसरे अवयवो मे युक्ति का देना पूरा हो जाता है। अब, इस युक्ति को प्रस्तुत प्रसग में लागू करके निष्कर्ष सिद्ध हो गया यह दिखा देने का कार्य चौथे और पाचवे अवयवो से पूर्ण होता है। चौथा अवयव दूसरे का, और पाचवा अवयव पहले का पुन कथन मात्र है।

प्राच्य पद्धति के पाचो अवयवो मे पाश्चात्य पद्धति के समान ही केवल तीन पद है—१ 'पक्ष'=निष्कर्ष-वाक्य का उद्देश, जिसे 'उ' सकेत से व्यक्त करते है=Minor Term (ऊपर के उदाहरण में 'पर्वत',) (२) हेतु, जिसे 'हे' सकेत से व्यक्त करते है=Middle Term, (ऊपर के उदाहरण में 'धूम्र'), और (३) 'साध्य'=निष्कर्ष-वाक्य का विधेय, जिसे 'वि' सकेत से व्यक्त करते हैं=Major Term (ऊपर के उदाहरण मे 'अग्नि')। और, पाश्चात्य पद्धति के परपरानुमान के समान ही प्राच्य पद्धति मे भी 'हेतु' के माध्यम से निष्कर्ष में 'पक्ष' के साथ 'साध्य' का सम्बन्ध स्थापित हुआ है।

प्राच्य पद्धति का तीसरा अवयव, 'उदाहरण' (ऊपर के उदाहरण में, जहा जहा धूम्र है वहा वहा अग्नि है) पाश्चात्य-पद्धति का विधेयवाक्य Major Premise है, और इसका दूसरा या चौथा अवयव (यहा, पर्वत मे धूम्र है) उसका उद्देशवाक्य=Minor Premise है।

पाश्चात्य पद्धति का न्यायवाक्य है—

सभी मनुष्य मरणशील है,
सभी बादशाह मनुष्य है,
सभी बादशाह मरणशील है।

इसी का प्राच्य न्यायवाक्य मे रूप होगा—

प्रतिज्ञा— सभी बादशाह मरणशील है,

हेतु— क्योकि सभी बादशाह मनुष्य है,
उदाहरण— सभी मनुष्य मरणशील है,
उपनय— और, सभी बादशाह मनुष्य है,
निगमन— ∴ सभी बादशाह मरणशील है।

इन्ही दोनो पद्धतियो को अपने सकेतो मे इस प्रकार रख सकते है—

पाश्चात्य—

विधेय-वाक्य—	सभी 'हे' 'वि' है,	व्याप्ति
उद्देश-वाक्य—	सभी 'उ' 'हे' है,	पक्षधर्मता
निष्कर्ष-वाक्य—	∴ सभी 'उ' 'वि' है।	निगमन

प्राच्य— सभी 'उ' 'वि' है,
क्योकि सभी 'उ' 'हे' है,
सभी 'हे' 'वि' है,
और सभी 'उ' 'हे' है,
∴ सभी 'उ' 'वि' है।

स्मरण रखना है कि प्राच्य पद्धति मे 'उ'=पक्ष, 'वि'=साध्य, और 'हे =हेतु है।

§ ४—न्यायवाक्य के प्रकार

यह देख चुके है कि सम्बन्ध की दृष्टि से वाक्य तीन प्रकार के होते है—निरपेक्ष, हेतुफलाश्रित, और वैकल्पिक। न्यायवाक्य में इन तीनो का प्रयोग हो सकता है। यदि न्यायवाक्य के तीनो अवयव एक ही प्रकार के वाक्य हो तो उसे शुद्धन्यायवाक्य[1] कहते है। यदि तीनो अवयव 'निरपेक्ष' हो, तो उसे 'शुद्धनिरपेक्षन्यायवाक्य'[2] कहते है। जैसे—

---

[1] Pure Syllogism.
[2] Pure Categorical Syllogism.

सभी मनुष्य मरणशील हैं,
सभी बादशाह मनुष्य हैं,
सभी बादशाह मरणशील है,

यदि तीनो अवयव 'हेतुफलाश्रित' हो, तो उसे 'शुद्ध-हेतुफलाश्रित-न्यायवाक्य'[1] कहते है। जैसे—

यदि वृष्टि हो, तो धान हो,
यदि धान हो, तो लोग सुखी हो,
यदि वृष्टि हो, तो लोग सुखी हो।

यदि न्यायवाक्य के अवयव भिन्न प्रकार के हो तो उसे मिश्र-न्यायवाक्य[2] कहते है। 'मिश्र न्यायवाक्य' तीन प्रकार के होते है—हेतुफलाश्रित-निरपेक्ष, वैकल्पिक-निरपेक्ष और मेण्डक-प्रयोग। 'हेतुफलाश्रित-निरपेक्ष-न्यायवाक्य'[3] वह है जिसका विधेय-वाक्य हेतुफलाश्रित हो, और उद्देश-वाक्य तथा निष्कर्ष-वाक्य निरपेक्ष हो। जैसे—

यदि 'क' 'ख' है, तो 'क' 'ग' है,
'क' 'ख' है,
∴ 'क' 'ग' है।
यदि राम धनी है, तो वह सुखी है,
राम धनी है
∴ राम सुखी है।

'वैकल्पिक-निरपेक्ष-न्यायवाक्य'[4] वह है जिसका विधेय-वाक्य वैकल्पिक हो, और शेष दोनो निरपेक्ष हो। जैसे—

---

[1] Pure Hypothetical Syllogism [2] Mixed Syllogism [3] Hypothetical-Categorical Syllogism [4] Disjunctive-Categorical Syllogism.

'क' या तो 'ख' है, या 'ग',
'क' 'ख' नहीं है,
∴ 'क' 'ग' है।

मेण्डक-प्रयोग[1] मिश्रन्यायवाक्य का वह रूप है जिसके विधेय-वाक्य मे दो हेतुफलाश्रित वाक्य सयुक्त हो, उद्देग-वाक्य वैकल्पिक हो, और निष्कर्ष-वाक्य निरपेक्ष हो या हेतुफलाश्रित हो। जैसे—

साकेतिक— यदि 'क' 'ख' है, तो 'ग' 'घ' है, और यदि 'च' 'छ' है, तो 'ग' 'घ' है,
या तो 'क' 'ख' है, या 'च' 'छ' है,
∴ 'ग' 'घ' है।

वास्तविक— यदि उसका भाई व्यापारी है, तो राम धनी है, और यदि उसका पिता जमींदार है, तो भी वह धनी है,
या तो उसका भाई व्यापारी है, या पिता जमीदार है,
∴ राम धनी है।

इस तरह, न्यायवाक्य पाच प्रकार के हुए—

शुद्ध	मिश्र
(१) शुद्ध-निरपेक्ष	(३) हेतुफलाश्रित-निरपेक्ष
(२) शुद्ध-हेतुफलाश्रित	(४) वैकल्पिक-निरपेक्ष
	(५) मेण्डक-प्रयोग

§ ५—न्याय-वाक्य में चार क्रम[2]

न्यायवाक्य का विधेय-वाक्य 'वि' और 'हे' मे, तथा उद्देगवाक्य 'उ'

---

[1] Dilemma [देखो पृ० २४०]
[2] Four Figures of Syllogism.

और 'हे' मे कोई न कोई सम्बन्ध व्यक्त करता है। उन मे उद्देश-विधेय का भी सम्बन्ध हो सकता है, और विधेय-उद्देश का भी। अत, दोनो आधार-वाक्यो के प्रबन्ध मे चार क्रम हो सकते है—

(१) पहला क्रम—'हे' विधेय-वाक्य मे उद्देश हो, और उद्देश-वाक्य मे विधेय। जैसे—

सभी 'हे' 'वि' है,
सभी 'उ' 'हे' है,
∴ सभी 'उ' 'वि' है।
सभी 'मनुष्य' 'मरणशील' है,
सभी 'बादशाह' मनुष्य है,
∴ सभी बादशाह 'मरणशील' है।

(२) दूसरा क्रम—'हे' दोनो आधार-वाक्यो मे विधेय हो। जैसे—

कोई 'वि' 'हे' नही है,
सभी 'उ' 'हे' है,
∴ कोई 'उ' 'वि' नही है।
कोई 'मनुष्य' 'चौपाया' नही है,
सभी 'घोडे 'चौपाये' है,
कोई 'घोडा' 'मनुष्य' नही है।

(३) तीसरा क्रम—'हे' दोनो आधार-वाक्यो मे उद्देश हो। जैसे—

सभी 'हे' 'वि' है,
सभी 'हे' 'उ' है,
कुछ 'उ' 'वि' है।
सभी 'हबशी' 'काले' है,

सभी 'हब्शी' 'मनुष्य' है,
∴ कुछ 'मनुष्य' 'काले' है।

(४) चौथा क्रम—'हे' विधेय-वाक्य मे विधेय, और उद्देश-वाक्य में उद्देश हो।

जैसे—

सभी 'वि' 'हे' है,
सभी 'हे' 'उ' है,
कुछ 'उ' 'वि' है।
सभी 'अगरेज' 'युरोपियन' है,
सभी 'युरोपियन' 'गोरे' है,
कुछ 'गोरे' 'अगरेज' है।

इन चार क्रमो को नीचे के चार चित्रो से व्यक्त कर सकते है—
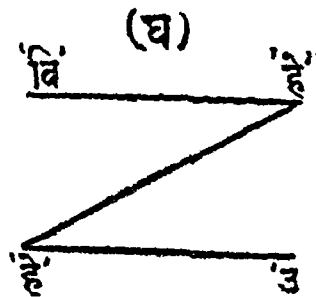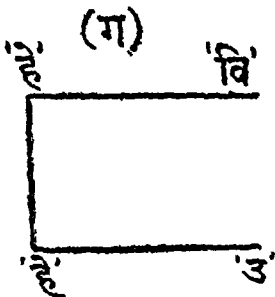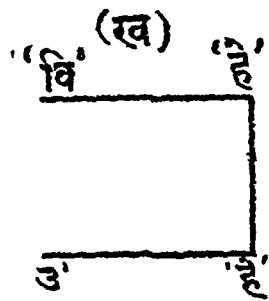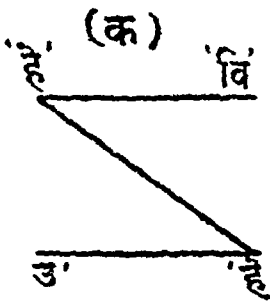
§ ६—आधार वाक्यो के सम्भव सयोग[१]

न्यायवाक्य के दोनो आधार-वाक्य 'गुण' तथा 'अश' के भेद मे किन्ही भी चार प्रकार के हो सकते हैं।

सभी 'भारतीय' 'स्वतत्र' है,
सभी 'वगाली' 'भारतीय' है,
सभी 'वगाली' 'स्वतत्र' है।

इस न्यायवाक्य मे आधार-वाक्य 'आ'—'आ' है। किन्तु,

सभी 'भारतीय' 'स्वतत्र' है,
कुछ 'मुसल्मान' 'भारतीय' है,
कुछ 'मुसल्मान' 'स्वतत्र'. है।

इस न्यायवाक्य मे आधार-वाक्य 'आ'–'ई' है। इसी तरह, वाक्य के चार रूपो मे आधार-वाक्यो को उलट-पलट कर रखे तो कुल १६ सयोग बनते है। जैसे—

'आ'-'आ'	'ए'-'आ'	'ई'-'आ'	'ओ'-'आ'
'आ'-'ए'	'ए'-'ए'	'ई'-'ए'	'ओ'-'ए'
'आ'-'ई'	'ए'-'ई'	'ई'-'ई'	'ओ'-'ई'
'आ'-'ओ'	'ए'-'ओ'	'ई'-ओ'	'ओ'-'ओ'

इन सोलह सयोगो मे कुछ तो ऐसे है जिनसे कोई निष्कर्ष नही निकाला जा सकता। जैसे—

कुछ 'भारतीय' 'हिन्दू' है,
कुछ 'ईसाई' 'भारतीय' है,

इन आधार-वाक्यो के सयोग से कोई परामर्श नही होता, जिससे कुछ निष्कर्ष निकाला जा सके। तव, इन सोलह सयोगो मे किन किन के परा-

[१] Moods of Syllogism

मर्श से निष्कर्ष निकल सकते है इसकी परीक्षा करनी होगी । इसके लिए सबसे पहले न्यायवाक्य के उन साधारण नियमो का अध्ययन करना होगा जिनकी पूर्ति होना इस बात के लिए आवश्यक है कि उससे कोई सगत निष्कर्ष निकाला जा सके । जिन सयोगो से निष्कर्ष निकाला जा सकता है उन्हें सिद्ध-संयोग[1], और जिनसे नही निकाला जा सकता है उन्हे असिद्ध-संयोग[2] कहते है ।

§ ७—न्यायवाक्य के साधारण नियम

न्यायवाक्य के साधारण नियम दस है । इन नियमो मे से किसी का भी जिस संयोग मे विरोध हो वह 'सिद्ध' नही हो सकता । वे दस नियम है—

पहला नियम—**न्यायवाक्य में तीन ही पदो का प्रयोग होता है ।**[3] न्यायवाक्य परंपरानुमान का वह रूप है, जिसमे किसी एक पद से सम्बद्ध दो पदो के बीच किसी सम्बन्ध का अनुमान किया जाता है । अत, यदि तीन पद न हो तो इस का रूप ही खडा नही हो सकता । न्यायवाक्य मे यदि चार पद हो तो भी अनुमान नही बनता, क्योकि तब उनमे कोई माध्यम 'हेतु-पद' ही नही होगा जिसके द्वारा 'उ' और 'वि' मे सम्बन्ध स्थापित हो । जैसे—

सभी 'मनुष्य' 'मरणशील' है,
सभी 'घोडे' 'पशु' है,

इनसे भला क्या निष्कर्ष निकलेगा ?

यहा, यह ध्यान देना आवश्यक है कि दोनो आधार-वाक्यो मे हेतुपद एक ही अर्थ मे प्रयुक्त हो । यदि कोई अनेकार्थक पद भिन्न अर्थों में

---

[1] Valid Moods.   [2] Invalid Moods

[3] Every syllogism must contain three, and only three, terms.

प्रयुक्त हो कर आधार-वाक्यो में हेतु हो, तो भी अनुमान नहीं बनता। जैसे—

'सैंधव' 'घोडा' है,
'नमक' सैंधव' है,
∴ 'नमक' 'घोडा' है।

'जड' 'पेड का एक अङ्ग' है,
'यह विद्यार्थी' 'जड' है,
∴ 'यह विद्यार्थी' 'पेड का एक अङ्ग' है।

यहा 'सैंधव' या 'जड' शब्द आधार-वाक्यो मे हेतु होने का भ्रम उत्पन्न करते है, इसीसे ऐसे अनर्थ निष्कर्ष निकले। वास्तव में यहा कोई 'हेतु' ही नही है, क्योकि 'सैंधव' तथा 'जड' शब्द दोनो जगह भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुए है। तर्कशास्त्र के लिए पद का अर्थ प्रधान है, न कि उसका बाह्य रूप। अत, इस न्यायवाक्य में यथार्थत चार पद है, तीन नही। इन आधार-वाक्यो से कोई निष्कर्ष नही निकलता। न्यायवाक्य के इस दोष को 'भ्रामक-हेतु दोष'[1] या 'चतुष्पदी दोष'[2] कहते है।

दूसरा नियम—प्रत्येक न्यायवाक्य में तीन ही वाक्य रहेंगे।[3] न्यायवाक्य का कार्य यह है कि, इस आधार पर कि [१] 'वि' का भी और [२] 'उ' का भी 'हे' के साथ पृथक् पृथक् सम्बन्ध है, वह निष्कर्ष मे [३] 'उ' और 'वि' के बीच सम्बन्ध स्थापित करे। इस कार्य की सिद्धि न तो तीन वाक्यो से कम में होगी, और न अधिक में।

तीसरा नियम—हेतु-पद कम से कम एक बार अवश्य सर्वांशी होना

---

[1] Equivocation. [2] Fallacy of Four Terms.

[3] A syllogism must consist of three, and only three, propositions

चाहिए ।[1] यदि हेतु-पद कम से कम एक बार भी सर्वांशी न हो तो वह 'उ' और 'वि' के सम्बन्ध का आश्वासन नही दे सकता । यदि हेतुपद दोनो आधार-वाक्यो मे असर्वांशी हो, तो हो सकता है कि 'वि' उसके एक अंश से सम्बद्ध हो, और 'उ' दूसरे अंश से । वैसी हालत मे 'उ' और 'वि' के बीच कोई माध्यम नही रहेगा, जिसके द्वारा उनमे कोई सम्बन्ध हो सके । जैसे—

सभी 'हिन्दू' 'भारतीय' है,
सभी 'ईसाई' 'भारतीय' है,

इनके आधार पर 'ईसाई' और 'हिन्दू' मे कोई सम्बन्ध स्थापित नही हो सकता, क्योकि, यहा हेतु-पद 'भारतीय' दोनो वाक्यो मे असर्वांशी है । 'हिन्दू' 'भारतीय' के एक अंश से सम्बद्ध है, और 'ईसाई' दूसरे अंश से । इसे इस चित्र से प्रकट कर सकते है ।
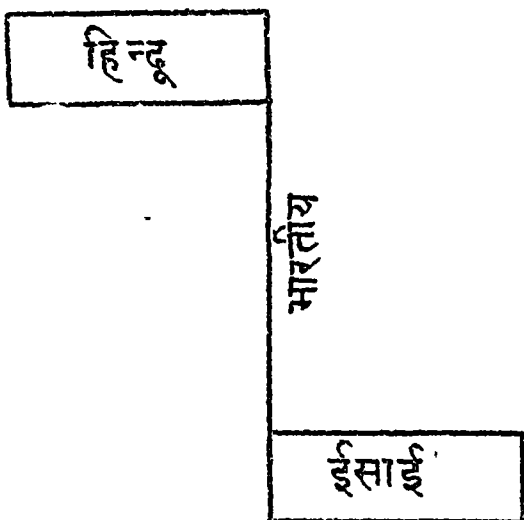
[1] The Middle-term must be distributed at least once in the premises.

इस दोष को 'असर्वांशी-हेतु दोष'[1] कहते हैं।

चौथा नियम—जो पद आधार-वाक्य में असर्वांशी है वह निष्कर्ष-वाक्य में सर्वांशी कभी नही हो सकता[2]। ऊपर देख चुके हैं कि अनुमान की निगमन विधि मे यही पहली बात है कि यह अधिक व्यापक आधार से कम व्यापक निष्कर्ष निकालने की प्रक्रिया है। यह भी देख चुके हैं कि समव्याप्तिक आधार से उतना ही व्यापक निष्कर्ष भी निकाला जा सकता है। किंतु, किसी भी अवस्था मे, निष्कर्ष आधार से अधिक व्यापक नही हो सकता। प्रस्तुत नियम निगमन-विधि के इसी प्राथमिक सिद्धान्त पर आश्रित है। यह नियम तो अत्यन्त स्पष्ट है कि पद के किसी अनिश्चित अश के विषय मे कुछ जान कर, उसके पूरे अश के विषय मे कुछ कैसे कहा जा सकता है! 'कुछ मनुष्य ऐसे हैं', इसके आधार पर कैसे कह सकते हैं कि इसलिए 'सभी मनुष्य ऐसे हैं'? इसलिए, निष्कर्ष-वाक्य मे उद्देश या विधेय तब तक सर्वांशी नही हो सकता जब तक वह पहले आधारवाक्य मे वैसा न हो ले।

इस नियम के उल्लङ्घन को 'अनुचित रीति'[3] दोष कहते हैं। यदि आधार-वाक्य मे बिना सर्वांशी हुए निष्कर्ष-वाक्य मे उद्देश-पद सर्वांशी हो गया हो तो वह न्यायवाक्य 'असिद्ध' ठहरता है। इस दोष को अनुचित-उद्देश दोष[4] कहते हैं। निष्कर्ष-वाक्य के विधेय-पद के साथ भी यही दोष उपस्थित हो सकता है। उसे अनुचित-विधेय दोष[5] कहते हैं। जैसे—

---

[1] Fallacy of Undistributed Middle.

[2] No term can be distributed in the conclusion, unless it is distributed in the premise.

[3] Illicit process.

[4] Fallacy of Illicit Minor.

[5] Fallacy of Illicit Major.

अनुचित-उद्देश

सभी 'भारतीय' 'एसीयाई' है,
कुछ 'ईसाई' 'भारतीय' है,
∴ सभी 'ईसाई' 'एसीयाई' है।

अनुचित-विधेय

कुछ 'भारतीय' 'काले' है,
कोई 'हबशी' 'भारतीय' नही है,
∴ कोई 'हबशी' 'काला' नही है।

पहले उदाहरण के निष्कर्ष का उद्देश 'ईसाई' सर्वांशी है, किंतु आधार-वाक्य मे वह असर्वांशी ही है, अत· यह न्यायवाक्य 'असिद्ध' ठहरा। उसी तरह, दूसरे उदाहरण मे निष्कर्ष का विधेय 'काला' सर्वांशी है, (क्योकि वह 'ए' वाक्य का विधेय है), किंतु आधार-वाक्य मे वह असर्वांशी ही है; अत', यह न्यायवाक्य भी 'असिद्ध' ठहरता है।

इस सम्बन्ध मे यह भी ख्याल कर लेना है कि इस नियम का प्रतिलोम सत्य नही होता। ऐसा नही समझना चाहिए कि यदि कोई पद निष्कर्ष मे असर्वांशी हो तो आधार मे भी असर्वांशी ही होगा, अथवा यह कि यदि कोई पद आधार मे सर्वांशी हो तो निष्कर्ष मे भी सर्वांशी ही होगा। स्मरण रहे कि अनुमान की निगमनविधि मे आधार से निष्कर्ष के कम होने में कोई दोष नही है। दोष है आधार से निष्कर्ष के अधिक होने में।

पाँचवाँ नियम—**यदि दोनों आधार-वाक्य निषेधात्मक हों, तो कोई निष्कर्ष नहीं निकलता।**[1] निषेधात्मक वाक्य सूचित करता है कि उसके दोनो पद एक दूसरे से सर्वथा पृथक् है। यदि दोनो आधारवाक्य निषेधात्मक हो, तो इसका यह अर्थ होता है कि माध्यम 'हेतु-पद' से न

[1] From two negative premises, no conclusion can be drawn.

तो 'उ' सम्वद्ध है और न 'वि'। तव, वे किसी निष्कर्ष का परामर्श कैसे देगे ? जैसे—

कोई 'मनुष्य' 'राक्षस' नही है,
कोई 'पेड' 'मनुष्य' नही है,

इनके आधार पर 'पेड़' और 'राक्षस' मे विधानात्मक या निषेधात्मक कोई सम्वन्ध स्थापित नही किया जा सकता।

अत, दो आधार-वाक्यो मे कम से कम एक का विधानात्मक होना आवश्यक है।

छठा नियम—यदि आधार वाक्यों में एक भी निषेधात्मक हो, तो निष्कर्ष अवश्य निषेधात्मक होगा।[1] पाँचवें नियम के अनुसार, यदि एक आधार-वाक्य निषेधात्मक हो तो दूसरे को अवश्य विधानात्मक होना चाहिए। यह विधानात्मक वाक्य माध्यम 'हेतु' के साथ दोनो में से किसी एक पद का सम्वद्ध होना वताता है; और, दूसरा निषेधात्मक वाक्य वताता है कि दूसरा पद उस से सर्वथा अलग है। इस तरह, माध्यम से एक के सम्वद्ध होने और दूसरे के सर्वथा पृथक् होने से उन दोनो के परस्पर सम्वद्ध होने का अनुमान नही किया जा सकता। अर्थात्, उनसे विधानात्मक निष्कर्ष नही निकाल सकते। यदि निष्कर्ष निकलेगा तो वह निषेधात्मक ही होगा।

यहा यह देख लेना है कि इस नियम का प्रतिलोम भी ठीक है। यह कि, यदि निष्कर्ष निषेधात्मक हो, तो उसके आधार वाक्यो में एक अवश्य निषेधात्मक होगा[1]। निषेधात्मक निष्कर्ष का यह अर्थ है कि 'उ' से 'वि' सर्वथा पृथक् है। यदि 'उ' और 'वि' दोनो 'हे' से सम्वद्ध होते, तो उससे यह निष्कर्ष नही निकाला जा सकता। एक के सम्वद्ध होने और एक

---

[1] If one premise be negative, the conclusion must be negative and vice versa.

के पृथक् होने से ही यह निष्कर्ष सम्भव है। अर्थात्, निषेधात्मक निष्कर्ष के दोनो आधार-वाक्य विधानात्मक नही हो सकते, एक का निषेधात्मक होना आवश्यक है।

सातवॉ नियम—यदि दोनों आधार-वाक्य विधानात्मक हों, तो उनका निष्कर्ष भी विधानात्मक ही होगा।[1] यदि दोनो आधार-वाक्य विधानात्मक हो, तो इसका यह अर्थ हुआ कि 'उ' और 'वि' दोनो 'हे' से सम्बद्ध है। इसके आधार पर यह कभी नही कहा जा सकता कि 'उ' और 'वि' परस्पर असम्बद्ध है। अर्थात्, इससे निषेधात्मक निष्कर्ष कभी नही निकल सकता। यदि कोई निष्कर्ष निकलेगा तो वह अवश्य विधानात्मक ही होगा।

इस नियम का प्रतिलोम भी ठीक है। यह कि, यदि निष्कर्ष विधानात्मक हो, तो उसके दोनों आधार-वाक्य भी अवश्य विधानात्मक होंगे।[1] ऊपर देख चुके है कि आधार-वाक्यो मे एक के भी निषेधात्मक होने से निष्कर्ष अवश्य निषेधात्मक होगा। अत, विधानात्मक निष्कर्ष के दोनों आधार-वाक्य अवश्य विधानात्मक होगे।

आठवॉ नियम—यदि दोनों आधार-वाक्य 'विशेष' हों तो कोई निष्कर्ष नही निकलता।[2] यदि दोनो आधार-वाक्य 'विशेष' हो तो उनके सम्भव सयोग चार होगे—'ई'-'ई', 'ई'-'ओ', 'ओ'-'ई', और 'ओ'-'ओ'। इन सयोगो मे पहला अक्षर 'उद्देश-वाक्य' के, और दूसरा अक्षर 'विधेय-वाक्य' के रूप का सूचक है। इन चार सभव सयोगो की परीक्षा करके देखें कि क्या किसी से निष्कर्ष निकल सकता है।

---

[1] If both the premises be affirmative, the conclusion is affirmative; and vice versa.

[2] If both the premises be particular, nothing can be inferred.

'ई'-'ई', इस सयोग में कोई भी पद सर्वांशी नही है, क्योकि 'ई' वाक्य के दोनो पद असर्वांशी होते है। इसलिए, इन वाक्यो मे हेतु-पद को एक बार भी सर्वांशी होने का अवसर प्राप्त नही है। और ऊपर देख चुके हैं कि यदि आधार-वाक्यो मे हेतु-पद कमसे कम एक बार भी सर्वांशी न हुआ हो तो उनसे कोई निष्कर्ष नही निकलता [३रा नियम]।

'ओ'-'ओ', इस सयोग से भी कोई निष्कर्ष नही निकल सकता, क्योकि ये दोनो वाक्य निषेधात्मक है, और, दो निषेधात्मक वाक्यो के आधार से कोई निष्कर्ष नही निकलता [पांचवाँ नियम]।

'ई'-'ओ' तथा 'ओ'-'ई'—इन दोनो सयोगो में एक वाक्य निषेधात्मक है। इसलिए, इनसे यदि कोई निष्कर्ष निकलेगा तो वह अवश्य निषेधात्मक होगा [छठा नियम]। और तब, निषेधात्मक होने के कारण, उसका विधेय(='वि')सर्वांशी होगा। निष्कर्ष-वाक्य में 'वि' के सर्वांशी होने के लिए पहले इसे आधार-वाक्य में सर्वांशी होना आवश्यक है।

इस तरह, इन आधार-वाक्यो के प्रत्येक सयोग मे कम से कम दो पद सर्वांशी होने चाहिए, एक तो 'वि' और कम से कम एक बार 'हे'। किंतु, इन सयोगो मे केवल एक ही पद, 'ओ' वाक्य का विधेय, सर्वांशी है। यदि वह पद 'वि' हो तो 'हे' असर्वांशी रह जाता है, और यदि वह पद 'हे' हो तो 'वि' असर्वांशी रह जाता है। अत, इनसे निष्कर्ष निकालने मे या तो 'असर्वांशी-हेतु' का या 'अनुचित-विधेय' का दोष लगा ही रहेगा। इससे यह पता चला कि ये दोनो सयोग 'असिद्ध' है, और इनसे कोई निष्कर्ष नही निकल सकता।

विशेष-वाक्यो के चारो सम्भव सयोगो की परीक्षा करके देखा कि वे सभी 'असिद्ध' है। आधार-वाक्यो का कोई सयोग तब तक 'सिद्ध'[1] नही हो सकता जब तक उनमे कम से कम एक सामान्य न हो।

[1] Valid

इस सम्वन्ध में यह उल्लेख किया जा सकता है कि यदि उसका हेतु-पद दोनो वाक्यो मे अधिकाश (=आधे से अधिक) का बोध करे, तो दो विशेष-वाक्यो के आधार पर भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है। जैसे—

अधिकांश मनुष्य लोभी है,
अधिकाश मनुष्य आरामपसंद है,
∴ कुछ आरामपसंद लोग लोभी है।

'मनुष्य' के विस्तार के आधे से अधिक अंश से 'लोभी' और 'आराम-पसद' के पृथक् पृथक् सम्वद्ध होने से उसका कुछ अश ऐसा अवश्य रह जायगा जिसमे दोनो पद समान हो। इसे नीचे के चित्र से व्यक्त कर सकते है—
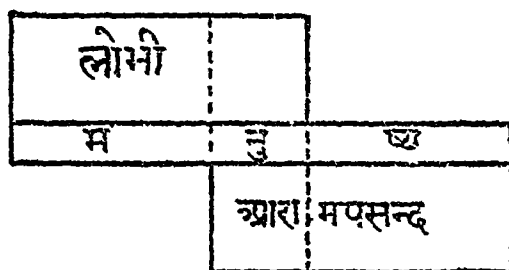
नवाँ नियम—यदि दो आधारवाक्यों में एक 'विशेष' हो, तो निष्कर्ष भी अवश्य विशेष होगा।[1] यदि एक आधार-वाक्य विशेष हो, तो दूसरा अवश्य सामान्य होगा; क्योकि दो विशेष वाक्यो से कोई निष्कर्ष नही निकलता। एक विशेष और एक सामान्य वाक्य के कुल इतने संभव संयोग हो सकते है—

'आ'-'ई', 'आ'-'ओ', 'ए'-'ई' और 'ए'-'ओ', सीधे या उलटे।

---

[1] If one premise be particular, so is the conclusion.

सीधे या उलटे 'ए'-'ओ' सयोग तो 'असिद्ध' है, क्योकि दोनो निषेधात्मक है।

सीधे या उलटे 'आ'-'ई' सयोग में केवल एक पद—'आ' का उद्देश—सर्वांशी है। वह पद अवश्य 'हेतु' होना चाहिए, क्योकि विना हेतु के सर्वांशी हुए कोई निष्कर्ष नही निकलता। आधार-वाक्यो में और किसी पद के सर्वांशी न होने के कारण निष्कर्ष के दोनो पद असर्वांशी ही रहेगे। यह केवल 'ई' वाक्य मे होता है। अत. इस सयोग से 'ई' निष्कर्ष निकलेगा, जो विशेष है।

'आ'-'ओ' तथा 'ए'-'ई', इन दोनो सयोगो मे, सीधे या उलटे, केवल दो ही पद सर्वांशी है : पहले मे 'आ' का उद्देश तथा 'ओ' का विधेय, और दूसरे में 'ए' के दोनो। दोनो सयोगो मे एक वाक्य निषेधात्मक है, इससे उनका निष्कर्ष भी निषेधात्मक होगा। निषेधात्मक निष्कर्ष मे विधेय-पद सर्वांशी होगा। तब, आधार-वाक्यो में कम से कम दो पद सर्वांशी अवश्य होने चाहिए—एक तो 'वि', और कम से कम एक बार 'हे'। इन सयोगो मे जो दो पद सर्वांशी है वे यही दोनो होगे। तव, आधार-वाक्य मे 'उ' असर्वांशी ही रहा। निष्कर्ष मे भी यह असर्वांशी ही रहेगा, सर्वांशी नही हो सकता। इसका अर्थ यह हुआ कि निष्कर्ष 'विशेष' ही रहेगा; सामान्य नही हो सकता। इससे यह नियम सिद्ध हुआ कि एक 'विशेष' और एक 'सामान्य' वाक्य के जितने सयोग होगे उनसे यदि निष्कर्ष निकलेगा तो वह विशेष ही हो सकता है, सामान्य नही।

इस सम्बन्ध में यह देख लेना चाहिए कि इस नियम का प्रतिलोम ठीक नही ठहरता। निष्कर्ष के 'विशेष' होने पर ऐंसा नही कह सकते कि इसके आधारवाक्यो में भी एक अवश्य विशेष होगा। दो सामान्य वाक्यो के आधार पर भी विशेष निष्कर्ष निकलता है। आधार-वाक्य मे 'उ' के सर्वांशी होने पर भी निष्कर्ष में वह असर्वांश में लिया जा

सकता है। ऊपर देख चुके है कि सर्वांश से असर्वांश निकालने में कोई दोष नही है; किंतु दोष तो है असर्वांश से सर्वांग निकालने मे।

इससे यह वात स्पष्ट है कि यदि निष्कर्ष सामान्य हो तो दोनों आधार-वाक्य अवश्य सामान्य होंगे, क्योकि यदि एक भी आधार-वाक्य विशेष होता तो निष्कर्ष भी विशेष हो जाता। इस नियम की सिद्धि स्वतंत्र रूप से भी इस तरह की जा सकती है—

यदि निष्कर्ष सामान्य है तो वह या तो 'आ' होगा या 'ए'। यदि वह 'आ' है, तो विधानात्मक होने के कारण, इसके दोनो आधार-वाक्य भी अवश्य विधानात्मक होगे। क्योकि इसका 'उ' सर्वांशी है इसलिए, आधार-वाक्यो मे कम से कम दो पद अवश्य सर्वांशी होगे—एक तो 'उ' और एक 'हे'। यह तभी हो सकता है जब इसके दोनो आधार-वाक्य सामान्य हों, अर्थात् उनका संयोग 'आ'-'आ' हो। इनमे पहले वाक्य (=विधेय-वाक्य) का उद्देश 'हे', और दूसरे (=उद्देश- वाक्य) का उद्देश 'उ' होगा। यदि आधारवाक्यो मे कोई भी 'ई' होता तो, क्योकि इसके दोनो पद असर्वांशी है, या तो 'असर्वांशी-हेतु' का दोष हो जाता, या 'अनुचित उद्देश' का।

और, यदि निष्कर्ष-वाक्य 'ए' हो तो, इसके निषेधात्मक होने के कारण, इसके आधार-वाक्यो मे एक अवश्य निषेधात्मक होगा। फिर, क्योकि इसके दोनो पद सर्वांशी है, उन्हे आधार-वाक्यों में भी सर्वांशी होना चाहिए। इस तरह, आधार-वाक्यो मे कम से कम तीन पद सर्वांगी होगे—'उ', 'वि' और एक वार 'हे'। यह केवल इन संयोगो में सम्भव है—'ए'-'ए', 'ए'-'ओ', और 'ए'-'आ' सीधे या उलटे। इनमे पहले दो संयोग तो, दोनो निषेधात्मक होने के कारण, 'असिद्ध' है। अतः, 'ए' निष्कर्ष के आधार-वाक्यो का संयोग 'ए'-'आ' ही सीधे या उलटे हो सकता है। यह दोनो सामान्य-वाक्य है।

तब, यह नियम सिद्ध हुआ कि निष्कर्ष-वाक्य यदि सामान्य हो तो उसके दोनो आधार-वाक्य भी अवश्य सामान्य होगे।

दसवाँ नियम—यदि विधेय-वाक्य विशेष, और उद्देश-वाक्य निषेधात्मक हो, तो उनसे कोई निष्कर्ष नहीं निकल सकता।[१] यदि उद्देशवाक्य निषेधात्मक हो तो विधेयवाक्य अवश्य विधानात्मक होगा, क्योकि दो निषेधात्मक-वाक्यो के आधार पर कोई निष्कर्ष नही निकलता। तब, विधेय-वाक्य के विशेष-विधानात्मक (='ई' वाक्य) होने के कारण उसका कोई पद सर्वांशी नही होगा।

इधर, एक आधारवाक्य निषेधात्मक होने के कारण निष्कर्ष भी अवश्य निषेधात्मक होगा, और तब 'वि' सर्वांशी होगा, जो आधारवाक्य मे वैसा नही है। इस तरह, यहा 'अनुचित विधेय' का दोष हो जाता है। इससे सिद्ध हुआ कि विधेयवाक्य के विशेष, और उद्देशवाक्य के निषेधात्मक होने से कोई निष्कर्ष नही निकलता।

* * * *

न्यायवाक्य के इन दस साधारण नियमो को देखने से पता चलता है कि पहले दो नियम न्यायवाक्य की बनावट के विषय में हैं, दूसरे दो नियम पदो के विस्तार के विषय मे हैं, और शेष छ तीनो अवयव-वाक्यो के गुण या अश के विषय मे है। इन नियमो मे पहले छ मुख्य हैं, शेष चार गौण है, जो उन्ही मुख्य नियमो से निकले है।

इन छ मुख्य नियमो को याद रखने के लिए निम्न श्लोक उपयोगी होगे—

---

[१] From a particular major and a negative minor, no conclusion follows.

पदानि चैव वाक्यानि
त्रीणि भवन्ति नित्यशः।
एकत्र क्वापि सर्वांशी
हेतुर्ध्रुवतया मतः ॥१॥
एकांशिपदमाधारे
निष्कर्षे नान्यथा भवेत्।
निष्कर्षो नैव प्राप्येत
आधारयोर्निषेधयोः ॥२॥
निषेधात्मनि चैकस्मिन्
आधारद्वयमध्यतः ।
निषेध एव निष्कर्षे
भवति नात्र संशयः ॥३॥

पहले श्लोक मे तीन नियम कहे गए है—(१-२) पद और वाक्य नित्य तीन होते है। (३) हेतु एक जगह कही भी ध्रुव रूप से सर्वांशी होगा।

दूसरे श्लोक मे दो नियम कहे गए है—(४) आधार मे जो एकांशि पद (=असर्वांशी) है वह निष्कर्ष मे अन्यथा (=सर्वांशी) नही हो सकता। (५) दो निषेधात्मक आधारो से निष्कर्ष प्राप्त नही होता।

तीसरे श्लोक मे केवल एक नियम कहा गया है—(६) दो आधार-वाक्यो के मध्य एक के निषेधात्मक होने से निष्कर्ष भी निषेधवाक्य ही होता है।

§ ८—साधारण नियमों से सिद्धसंयोग[1]

न्यायवाक्य के उक्त दस साधारण नियमो को दृष्टि मे रख कर देखें कि आधार-वाक्यो के सोलह सम्भव 'सयोगो' मे कौन सिद्ध ठहरते है और कौन असिद्ध— [पृ० १६०]

वे सोलह सम्भव 'सयोग' है—

(१) 'आ'-'आ' (२) 'आ'-'ए' (३) 'आ'-'ई' (४) 'आ-''ओ'
(५) 'ए'-'आ' (६) 'ए'-'ए' (७) 'ए'-'ई' (८) 'ए'-'ओ'
(९) 'ई'-'आ' (१०) 'ई'-'ए' (११) 'ई'-'ई' (१२) 'ई'-'ओ'
(१३) 'ओ'-'आ' (१४) 'ओ'-'ए' (१५) 'ओ'-'ई' (१६) 'ओ'-'ओ'

इनमे (६) 'ए'-'ए', (८) 'ए'-'ओ', (१४) 'ओ'-'ए' और (१६) 'ओ'-'ओ', ये चार 'सयोग' इस कारण असिद्ध है, क्योकि इनके दोनो वाक्य निषेधात्मक है (पाँचवाँ नियम)।

(११) 'ई'-'ई', (१२) 'ई'-'ओ', (१५) 'ओ'-'ई'—ये तीन सयोग इस कारण असिद्ध है, क्योकि इनके दोनो वाक्य विशेष है (आठवाँ नियम)।

(१०) 'ई'-'ए', यह सयोग इस कारण असिद्ध है, क्योकि इसका विधेय वाक्य विशेष, और उद्देश-वाक्य निषेधात्मक है (दसवाँ नियम)।

शेष आठ 'सयोगो' मे साधारण नियमो का कोई विरोध नही पडता। न्यायवाक्य के चार क्रमो मे किसी न किसी एक मे वे अवश्य सिद्ध होगे।

अब, इन आठ 'सयोगो' को प्रत्येक 'क्रम' मे परीक्षा करके देखें कि चारो भिन्न भिन्न 'क्रमो' मे कौन कौन सयोग सिद्ध ठहरते है।

§ ९—पहले क्रम के सिद्ध 'संयोग'[२]

हमने अभी देखा कि न्याय-वाक्य के दस साधारण नियमो की दृष्टि से परीक्षा करने पर आधार-वाक्यो के सोलह सम्भव 'सयोगो' मे आठ ऐसे है जिनसे कोई निष्कर्ष नही निकाला जा सकता। शेष आठ 'सयोगो'

---

[१] Determination of Valid Moods.

[२] Valid Moods of the First Figure.

से निष्कर्ष निकाला जा सकता है। वे हैं—'आ'-'आ', 'आ'-'ए', 'आ'-'ई', 'आ'-'ओ', 'ए'-'आ', 'ए'-'ई', 'ई'-'आ', और 'ओ'-'आ'। एक एक करके इनकी परीक्षा करनी चाहिए कि पहले 'क्रम' मे किन से निष्कर्ष निकल सकता है और किन से नही।

याद रहे कि आधार-वाक्यो मे हेतु के स्थान पहले क्रम में इस प्रकार रहते है—

'हे'—'वि'
'उ'—'हे'
∴ 'उ'—'वि'

(१) 'आ'-'आ' सयोग का पहले 'क्रम' मे यह रूप होगा—

'आ'—सभी 'हे' 'वि' है,		सभी 'मनुष्य' 'मरणशील' है,
'आ'—सभी 'उ' 'हे' है,		सभी 'राजा' 'मनुष्य' है,
∴ सभी 'उ' 'वि' है।	∴	सभी 'राजा' 'मरणशील' है।

इस न्यायवाक्य मे हेतुपद विधेयवाक्य मे सर्वांशी है, क्योकि वह यहां 'आ' वाक्य का उद्देश है। फिर, दोनो आधार-वाक्यो के विधानात्मक होने के कारण निष्कर्ष भी विधानात्मक है। निष्कर्ष के 'आ' वाक्य होने मे कोई दोष नही है। यहा जो 'उ' सर्वांशी है वह आधार-वाक्य मे भी सर्वांशी ही है, अतः 'अनुचित उद्देश' के दोष का भी भय नही है। इसलिए, आधार-वाक्यो का यह संयोग सिद्ध ठहरा। न्यायवाक्य के इस रूप का साकेतिक नाम बार्बारा[1] है। इसके तीनो स्वर 'आ-आ-आ' सूचित करते है कि इस न्यायवाक्य के तीनो अवयव 'आ' वाक्य हैं।

[इसी तरह, आगे भी जिन सिद्ध सयोगो के साकेतिक नाम दिए जायेंगे उनमे तीन स्वर रहेगे जो न्यायवाक्य के तीनो अवयवो के रूप

---

[1] Barbara.

का बोध करेंगे। उनमे प्रयुक्त व्यञ्जनाक्षरो के निर्देश क्या है यह आगे चल कर देखेंगे]

(२) 'आ'-'ए' सयोग का पहले 'क्रम' मे यह रूप होगा—

'आ'—सभी 'हे' 'वि' है,	सभी 'घोड़े' 'चौपाये' है,
'ए'—कोई 'उ' 'हे' नही है,	कोई 'ऊट' 'घोडा' नही है,
कोई निष्कर्ष नही।	कोई निष्कर्ष नही।

यहा, एक आधारवाक्य निषेधात्मक है, इससे इनका निष्कर्ष निषेधात्मक ही होता। और तब निष्कर्ष-वाक्य मे 'वि' सर्वांशी होता। इसके लिए उसे पहले आधारवाक्य में सर्वांशी होना चाहिए था। किंतु, यहा तो आधारवाक्य में 'वि' सर्वांशी नही है। ऐसी अवस्था में इस सयोग से यदि कोई भी निष्कर्ष निकालने का प्रयत्न करे तो 'अनुचित विधेय' के दोष से बच नही सकते। इसलिए यह सयोग असिद्ध ठहरा, इससे कोई निष्कर्ष नही निकल सकता।

(३) 'आ'-'ई' सयोग का पहले 'क्रम' में यह रूप होगा—

'आ'—सभी 'हे' 'वि' है,	सभी 'मनुष्य' 'द्विपद' है,
'ई'—कुछ 'उ' 'हे' है,	कुछ 'प्राणी' 'मनुष्य' है,
कुछ 'उ' 'वि' है।	कुछ 'प्राणी' 'द्विपद' है।

यहा, दोनो आधार-वाक्यो के विधानात्मक होने के कारण निष्कर्ष भी विधानात्मक होना चाहिए। और, एक आधारवाक्य के विशेषात्मक होने के कारण निष्कर्ष भी विशेषात्मक होना चाहिए। अत, निष्कर्ष 'ई' वाक्य होगा। इसके विधेय-वाक्य मे हेतु-पद सर्वांशी हो चुका है। और, निष्कर्षवाक्य मे किसी पद के सर्वांशी न होने के कारण, किसी 'अनुचित' दोष का भी भय नही है। अत, यह सयोग सिद्ध ठहरा। इस न्यायवाक्य का साकेतिक नाम है दारीई।[1] इसके अवयव है—'आ'-'ई'-'ई'।

---

[1] Darii.

(४) 'आ'-'ओ' सयोग का पहले 'क्रम' मे यह रूप होगा—

'आ'—सभी 'हे' 'वि' है,   सभी 'चिड़ियाँ' 'अण्डज' है,
'ओ'—कुछ 'उ' 'हे' नही है,   कुछ 'प्राणी' 'चिडिया' नही है,
कोई निष्कर्ष नही।   कोई निष्कर्ष नही।

यहा, एक आधारवाक्य निषेधात्मक है, इससे इनका निष्कर्ष निषेधात्मक ही होता। और तव, निष्कर्ष-वाक्य मे 'वि' सर्वांशी होता। इसके लिए उसे पहले आधारवाक्य मे सर्वांशी होना चाहिए था। किंतु, यहा तो आधारवाक्य मे 'वि' सर्वांशी नही है। ऐसी अवस्था मे इस सयोग से यदि कोई भी निष्कर्ष निकालने का प्रयत्न करे तो 'अनुचित विधेय' के दोष से वच नही सकते। इसलिए, पहले क्रम मे यह सयोग असिद्ध ठहरा। इससे कोई निष्कर्ष नही निकल सकता।

(५) 'ए'-'आ' सयोग का पहले 'क्रम' मे यह रूप होगा—

'ए'— कोई 'हे' 'वि' नही है,   कोई 'प्राणी' 'अमर' नही है,
'आ'— सभी 'उ' 'हे' है,   सभी 'मनुष्य' 'प्राणी' है,
∴ कोई 'उ' 'वि' नही है।   कोई 'मनुष्य' 'अमर' नही है।

यहा हेतु-पद विधेय-वाक्य मे सर्वांशी है। एक आधार-वाक्य के निषेधात्मक होने के कारण निष्कर्ष भी निषेधात्मक होगा। दोनो आधार-वाक्यो के सामान्य होने के कारण निष्कर्ष भी सामान्य हो सकता है। इसलिए, निष्कर्ष 'ए' वाक्य हुआ। निष्कर्ष मे दोनो पद सर्वांशी है, वे आधारवाक्यो मे भी सर्वांशी ही है। इसलिए यहा किसी 'अनुचित' दोष की भी सम्भावना नही है। अत पहले क्रम मे यह सयोग सिद्ध ठहरा। इस सिद्ध न्यायवाक्य का साकेतिक नाम केलारेण्ट[1] है। 'ए'-'आ'-'ए'।

(६) 'ए-'ई' सयोग का पहले 'क्रम' मे यह रूप होगा—

'ए'— कोई 'हे' 'वि' नही है,   कोई 'मनुष्य' 'अमर' नही है,

---

[1] Celarent

'ई'	कुछ 'उ' 'हे' है,	कुछ 'प्राणी' 'मनुष्य' है,
∴	कुछ 'उ' 'वि' नही है।	कुछ 'प्राणी' 'अमर' नही है।

यहा, हेतु-पद विधेय-वाक्य मे सर्वांशी है। एक आधारवाक्य के निषेधात्मक होने के कारण निष्कर्ष भी निषेधात्मक होना चाहिए। एक आधारवाक्य के विशेष होने के कारण निष्कर्ष भी विशेष होना चाहिए। अर्थात्, निष्कर्ष 'ओ' वाक्य होगा। निषेधात्मक होने के कारण निष्कर्ष-वाक्य मे 'वि' सर्वांशी है, वह आधार-वाक्य मे भी सर्वांशी है। अत, पहले 'क्रम' में यह सयोग सिद्ध ठहरा। इस सिद्ध न्यायवाक्य का साकेतिक नाम है फेरीओ[1]। 'ए'-'ई''ओ'।

(७) 'ई'-'आ' सयोग का पहले 'क्रम' में यह रूप होगा—

'ई'—	कुछ 'हे' 'वि' है,	कुछ 'मनुष्य' 'पण्डित' है,
'आ'—	सभी 'उ' 'हे' है,	सभी 'भारतीय' मनुष्य' है,
	कोई निष्कर्ष नही	कोई निष्कर्ष नही।

यहा आधारवाक्यो में हेतुपद एक बार भी सर्वांशी नही है, अत इनसे कोई निष्कर्ष नही निकल सकता। पहले क्रम में यह सयोग असिद्ध ठहरा।

(८) 'ओ'-'आ' सयोग मे इसका रूप होगा—

'ओ'—	कुछ 'हे' 'वि' नही है,	कुछ 'मनुष्य' 'पण्डित' नही है,
'आ'	सभी 'उ' 'हे' है,	सभी 'भारतीय' 'मनुष्य' है,
	कोई निष्कर्ष नही	कोई निष्कर्ष नही

ऊपर ही की तरह, इन आधारवाक्यो मे भी हेतुपद एक बार भी सर्वांशी नही है। अत, इनसे कोई निष्कर्ष नही निकल सकता। पहले क्रम मे यह सयोग असिद्ध ठहरा।

---

[1] Ferio.

§ १०—पहले क्रम के अपने नियम

आधार-वाक्यो के आठ सभव सिद्ध सयोगो की परीक्षा करके देखा कि उनमे केवल चार ऐसे है जो पहले क्रम मे सिद्ध होते है । उनके निष्कर्ष के साथ पूरे न्यायवाक्य के अपने अपने साकेतिक नाम भी दे दिए गए है—वार्बारा, केलारेण्ट, दारीई, फेरीओ । पहले क्रम मे इन सिद्ध न्यायवाक्यो को प्रथम-क्रम-सिद्ध-संयोग कहते है । इन सयोगो को एक साथ रख कर देखे कि उनमे क्या समानताये है—

'आ'—'आ'—'आ'
'ए—'आ'—'ए'
'आ'—'ई'—'ई'
'ए'—'ई'—'ओ'

इन सयोगो मे पहली समानता तो यह है कि सभी के विधेय-वाक्य सामान्य है; और दूसरी यह कि सभी के उद्देशवाक्य विधानात्मक है। पहले 'क्रम' के यही दो अपने असाधारण नियम है । न्यायवाक्य के 'साधारण नियमों' का प्रयोग करके भी इन दो 'असाधारण नियमो' की सत्यता दिखाई जा सकती है । जैसे—

(१) पहले क्रम में विधेय-वाक्य अवश्य सामान्य होगा ।[1]

इस नियम की सत्यता प्रतिलोम-विधि से प्रामाणित की जा सकती है । यदि विधेयवाक्य सामान्य नही हो तो विशेष होगा । तब, उसमे हेतुपद सर्वांशी नही होगा । न्यायवाक्य मे 'असर्वांशी हेतु' का दोष न हो इसलिए हेतुपद को उद्देशवाक्य मे सर्वांशी होना आवश्यक होगा । पहले क्रम मे उद्देशवाक्य मे हेतुपद विधेय रहता है । उसके सर्वांशी होने का अर्थ है कि वह वाक्य अवश्य निषेधात्मक होगा ।

---

[1] In the first figure, the major premise must be universal.

उद्देशवाक्य निषेधात्मक होने का मतलब है कि विधेयवाक्य अवश्य विधानात्मक (क्योकि दो निषेधात्मक वाक्यो के आधार पर कोई निष्कर्ष नही निकलता) और निष्कर्ष निषेधात्मक होगा। निष्कर्ष के निषेधात्मक होने से उसमे 'वि' सर्वाशी होगा। किंतु वह यहा विधानात्मक आधारवाक्य के विधेय होने के कारण सर्वाशी नही होगा। इस तरह, पहले क्रम मे न्यायवाक्य के विधेयवाक्य को यदि सामान्य न मान कर विशेष माने तो जा कर 'अनुचित विधेय'[1] का दोष आ जाता है।

(२) पहले क्रम में उद्देश-वाक्य अवश्य विधानात्मक होगा।[2]

यदि उद्देशवाक्य विधानात्मक न हो कर निषेधात्मक हो तो कोई निष्कर्ष नही निकलेगा। कैसे ? इसके निषेधात्मक होने से विधेयवाक्य अवश्य विधानात्मक, और निष्कर्ष निषेधात्मक होगे। निष्कर्ष के निषेधात्मक होने से उसमे 'वि' सर्वाशी होगा। किंतु वह यहा विधानात्मक आधारवाक्य के विधेय होने के कारण सर्वाशी नही होगा। इस तरह, पहले क्रम मे न्यायवाक्य के उद्देशवाक्य को विधानात्मक न मान कर निषेधात्मक माने तो 'अनुचित विधेय' का दोष आ जाता है। अत, यह प्रामाणित हुआ कि इसका उद्देशवाक्य अवश्य विधानात्मक होगा।

* * *

पहले क्रम के इन दो 'असाधारण नियमो' को आधारवाक्यो के सोलह सभव सयोगो पर सीधे लागू करके भी देख सकते है कि यहा यही चार सयोग सिद्ध ठहरेगे। वे सोलह सभव सयोग है—

'आ'-'आ'	'ए'-'आ'	'ई'-'आ'	'ओ'-'आ'
'आ'-'ए'	'ए'-'ए'	'ई'-'ए'	'ओ'-'ए'

---

[1] Illicit Major [2] In the first figure, the minor premise must be affirmative

'आ'-'ई'	'ए'-'ई'	'ई'-'ई'	'ओ'-'ई'
'आ'-'ओ'	'ए'-'ओ'	'ई'-'ओ'	'ओ'-'ओ'

पहले नियम के अनुसार अन्तिम आठ सयोग असिद्ध है, क्योकि उनके विधेयवाक्य सामान्य नही है। दूसरे नियम के अनुसार 'आ'-'ए', 'ए'-'ए', 'आ'-'ओ', तथा 'ए'-'ओ' भी असिद्ध है, क्योकि उनके उद्देश-वाक्य विधानात्मक नही है। शेष चार ही सयोग पहले क्रम मे सिद्ध है, जो हम ऊपर देख चुके है।

§ ११—दूसरे क्रम के सिद्ध संयोग[1]

आधार-वाक्यो मे हेतु के स्थान दूसरे क्रम मे इस प्रकार रहते है—

'वि'—'हे'
'उ'—'हे'

दूसरे क्रम मे भी उन्ही आठ सभव सिद्ध सयोगो की परीक्षा करके देखे कि उनमे कौन सिद्ध ठहरते है और कौन असिद्ध—

(१) 'आ'-'आ' सयोग का दूसरे 'क्रम' मे यह रूप होगा—

'आ'—	सभी 'वि' 'हे' है,	सभी 'प्राणी' 'मरणशील' है,
'आ'—	सभी 'उ' 'हे' है,	सभी 'मनुष्य' 'मरणशील' है
	कोई निष्कर्ष नही	कोई निष्कर्ष नही

यहा हेतुपद दोनो वाक्यो मे असर्वागी ही है। अत, इनके आधार पर कोई निष्कर्ष नही निकलता। दूसरे क्रम मे यह सयोग असिद्ध ठहरा।

(२) 'आ'-'ए' सयोग का दूसरे 'क्रम' मे यह रूप होगा—

आ—	सभी 'वि' 'हे' है,	सभी 'मनुष्य' 'द्विपद' है,
'ए'—	कोई 'उ' 'हे' नही है,	कोई 'घोड़ा' 'द्विपद' नही है,

---

[1] Valid Moods of the Second Figure.

कोई 'उ' 'वि' नही है। ∴ कोई 'घोडा' 'मनुष्य' नही है।

यहां, हेतुपद उद्देशवाक्य मे सर्वांशी है। एक आधारवाक्य के निषेधात्मक होने के कारण निष्कर्ष निषेधात्मक होगा। दोनो आधारवाक्यो के सामान्य होने के कारण उनका निष्कर्ष भी सामान्य हो सकता है। अर्थात् निष्कर्ष 'ए' वाक्य होगा। आधारवाक्यो मे 'वि' और 'उ' दोनो के सर्वांशी होने के कारण किसी 'अनुचित दोष' की भी आशका नही है। इस तरह, यह सयोग सिद्ध ठहरा। न्यायवाक्य के इस रूप का साकेतिक नाम कामेस्ट्रेस्[1] है।

(३) 'आ'-'ई' सयोग का दूसरे 'क्रम' मे यह रूप होगा—

'आ'—	सभी 'वि' 'हे' है,	सभी 'मनुष्य' 'द्विपद' है,
'ई'—	कुछ 'उ' 'हे' है,	कुछ 'प्राणी' 'द्विपद है,
	कोई निष्कर्ष नही	कोई निष्कर्ष नही

यहा, हेतुपद किसी भी आधारवाक्य मे सर्वांशी नही है, इसलिए कोई निष्कर्ष नही निकल सकता। दूसरे क्रम मे यह सयोग असिद्ध ठहरा।

(४) 'आ'-'ओ' सयोग का दूसरे 'क्रम' में यह रूप होगा—

'आ'—	सभी 'वि' 'हे' है,	सभी 'मनुष्य' 'द्विपद' है,
'ओ'—	कुछ 'उ' 'हे' नही है,	कुछ 'प्राणी' 'द्विपद' नही है,
	कुछ 'उ' 'वि' नही है।	कुछ 'प्राणी' 'मनुष्य' नही है।

यहा, हेतुपद उद्देशवाक्य में सर्वांशी है। एक आधारवाक्य के निषेधात्मक और विशेष होने के कारण निष्कर्ष भी अवश्य निषेधात्मक और विशेष होगा। निषेधात्मक निष्कर्ष मे 'वि' सर्वांशी होगा। वह आधार वाक्य में भी सर्वांशी है। अत, 'अनुचित विधेय' दोष की आशका नही है। इस तरह, दूसरे क्रम मे यह संयोग सिद्ध ठहरा। इसका साकेतिक नाम है बारोको[2]।

---

[1] Camestres [2] Baroco

(५) 'ए'-'आ' सयोग का दूसरे 'क्रम' मे यह रूप होगा—

'ए'— कोई 'वि' 'हे' नही है, कोई 'मनुष्य' 'चतुष्पद' नही है,
'आ'— सभी 'उ' 'हे' है, सभी 'घोडे' 'चतुष्पद' है,
∴ कोई 'उ' 'वि' नही है। कोई 'घोडा' 'मनुष्य' नही है।

यहा, हेतुपद विधेयवाक्य मे सर्वाशी है। एक आधारवाक्य के निषेधात्मक होने के कारण निष्कर्ष निषेधात्मक होगा। दोनो आधार-वाक्यो के सामान्य होने के कारण निष्कर्ष भी सामान्यहो सकता है। अत, निष्कर्ष 'ए' वाक्य हो सकता है। ऐसा होने मे किसी 'अनुचित दोष' की भी आशका नही है, क्योकि आधारवाक्यो मे 'उ' और 'वि' दोनो सर्वाशी है। निष्कर्ष मे वे मजे मे सर्वाशी हो सकते है। अत., दूसरे क्रम मे यह सयोग सिद्ध ठहरा। इस न्यायवाक्य का साकेतिक नाम है—केसारे[1]।

(६) 'ए'-'ई' संयोग का दूसरे 'क्रम' मे यह रूप होगा—

'ए'— कोई 'वि' 'हे' नही है, कोई 'सिंह' 'डरपोक' नही है,
'ई'— कुछ 'उ' 'हे' है, कुछ 'जानवर' 'डरपोक' है,
∴ कुछ 'उ' 'वि' नही है। कुछ 'जानवर' 'सिंह' नही है।

यहा, हेतुपद विधेयवाक्य मे सर्वांशी है। एक आधारवाक्य के निषेधात्मक होने के कारण निष्कर्ष निषेधात्मक होगा। और, एक आधार-वाक्य के विशेष होने के कारण निष्कर्ष भी विशेष होगा। अर्थात्, निष्कर्ष 'ओ' वाक्य होगा। निषेधात्मक निष्कर्ष मे 'वि' सर्वाशी होगा। वह आधारवाक्य मे भी सर्वाशी है, इससे 'अनुचित विधेय' का दोप नही हो सकता। अत., दूसरे क्रम मे यह सयोग सिद्ध ठहरा। इस न्याय-वाक्य का साकेतिक नाम है—फेस्टीनो[2]।

(७) 'ई'-'आ' सयोग का दूसरे 'क्रम' मे यह रूप होगा—

'ई'— कुछ 'वि' 'हे' है, कुछ 'प्राणी' 'अण्डज' है,

---

[1] Cesare. [2] Festino.

'आ'—	सभी 'उ' 'हे' है,	सभी 'कबूतर' 'अण्डज' है,
	कोई निष्कर्ष नही	कोई निष्कर्ष नही

यहा, हेतुपद किसी भी आधारवाक्य मे सर्वांशी नही है। अत, कोई निष्कर्ष नही निकल सकता। दूसरे क्रम मे यह सयोग असिद्ध ठहरा।

(८) 'ओ'-'आ' सयोगका दूसरे 'क्रम' मे यह रूप होगा—

'ओ'—	कुछ 'वि' 'हे' नही है,	कुछ 'मनुष्य' 'ज्ञानी' नही है,
'आ'—	सभी 'उ' 'हे' है,	सभी 'योगी' 'ज्ञानी' है,
	कोई निष्कर्ष नही	कोई निष्कर्ष नही

यहा, हेतुपद विधेयवाक्य मे सर्वांशी है, अत 'असर्वांशी हेतु' का दोष नही है। एक आधारवाक्य के निषेधात्मक होने के कारण निष्कर्ष निषेधात्मक होता। तब, उसमे 'वि' सर्वांशी होता। किंतु आधारवाक्य मे वह असर्वांशी ही है। अत इनके आधार पर निष्कर्ष निकालने मे 'अनुचित विधेय' का दोष हो जायगा। दूसरे क्रम मे यह सयोग असिद्ध ठहरा।

§ १२—दूसरे क्रम के अपने नियम[1]

दूसरे क्रम मे आधारवाक्यो के आठ सभव सिद्ध सयोगो की परीक्षा करके देखा कि उनमे केवल चार सिद्ध ठहरते है। निष्कर्ष के साथ इन सिद्ध न्यायवाक्यो को **द्वितीय-क्रम-सिद्ध-सयोग** कहते है। उन्हें एक साथ रख कर देखे कि उनमे क्या समानताये है—

'ए'–'आ'–'ए'	केसारे
'आ'–'ए'–'ए'	कामेस्ट्रेस
'ए'–'ई'–'ओ'	फेस्टीनो
'आ'–'ओ'–'ओ'	बारोको

[1] The Special Rules of the Second Figure

इनमे तीन समानतायें हैं—(१) सभी मे विधेयवाक्य सामान्य है, (२) सभी मे एक आधारवाक्य अवश्य निषेधात्मक है, और (३) सभी मे निष्कर्ष निषेधात्म है। दूसरे क्रम के यही तीन अपने असाधारण नियम है। न्यायवाक्य के साधारण नियमो का भी प्रयोग करके इनकी सत्यता प्रामाणित कर सकते हैं। जैसे—

(१) दूसरे क्रम में विधेयवाक्य अवश्य सामान्य होगा।[1]

यदि विधेयवाक्य सामान्य नही हो तो विशेष होगा। तब, उसका उद्देश 'वि' सर्वांशी नही होगा। निष्कर्ष मे भी वह सर्वांशी नही हो सकता। निष्कर्ष मे 'वि' के सर्वांशी न होने का अर्थ हुआ कि वह विधानात्मक होगा, क्योकि निषेधात्मक वाक्य का विधेय अवश्य सर्वांशी होता है। फिर, निष्कर्ष के विधानात्मक होने का अर्थ है कि दोनो आधारवाक्य अवश्य विधानात्मक होंगे, क्योकि उनमे एक के भी निषेधात्मक होने से निष्कर्ष वैसा न हो सकता। यदि दोनो आधारवाक्य विधानात्मक हुए तो उनमे हेतुपद के एक बार भी सर्वांशी होने का अवसर नही होगा, क्योकि दूसरे क्रम मे हेतुपद दोनो आधारवाक्यो मे विधेय होते है।

इस तरह, यहा विधेयवाक्य के विशेष होने से जा कर 'असर्वांशी हेतु' का दोष उपस्थित होता है। इससे प्रामाणित हुआ कि दूसरे क्रम मे विधेयवाक्य विशेष नही किन्तु सामान्य ही होगा।

(२) दूसरे क्रम में एक आधारवाक्य अवश्य निषेधात्मक होगा।[2]

दूसरे क्रम मे हेतुपद दोनो आधार वाक्यो मे विधेय होता है। अत. उसे एक बार सर्वांशी होने के लिए एक आधारवाक्य को अवश्य निषेधात्मक होना होगा क्योकि निषेधात्मक वाक्य का ही विधेय सर्वांशी होता

---

[1] In the Second Figure, the major premise must be universal [2] In the Second Figure, one of the premises must be negative.

है । यदि दोनो आधारवाक्य विधानात्मक हुए तो हेतुपद के एक बार भी सर्वांशी न होने के कारण 'असर्वांशी हेतु' का दोष हो जायगा । इससे प्रामाणित हुआ कि दूसरे क्रम में एक आधारवाक्य अवश्य निषेधात्मक होगा ।

(३) दूसरे क्रम में निष्कर्ष अवश्य निषेधात्मक होगा ।[1]

यदि निष्कर्ष निषेधात्मक न हुआ तो विधानात्मक होगा । तब, दोनो आधारवाक्य भी विधानात्मक होगे । वैसी दशा मे, जैसा ऊपर देख चुके है, हेतुपद के एक बार भी सर्वांशी होने का अवसर न होगा । इस तरह, निष्कर्ष को विधानात्मक मानने से जा कर, 'असर्वांशी हेतु' का दोष उपस्थित होता है । इससे यह नियम प्रामाणित हुआ कि दूसरे क्रम मे निष्कर्ष अवश्य निषेधात्मक होगा ।

इन तीन 'असाधारण नियमो' को उन सोलह सभव सयोगो पर लागू कर निश्चित कर सकते है कि दूसरे क्रम मे कौन सिद्ध होगे, और कौन नही । पहले नियम से अन्तिम आठ सयोग असिद्ध होते है, क्योकि उनका विधेय वाक्य सामान्य नही है । दूसरे नियम के अनुसार 'आ'–'आ', और 'आ'–'ई' असिद्ध है, क्योकि इनमे एक भी निषेधात्मक नही है । इसी नियम के अनुसार 'ए'–'ए' और 'ए'–'ओ' भी असिद्ध है, क्योकि ये दोनो निषेधात्मक है । शेष चार सयोग ही सिद्ध है, जिनके सांकेतिक नाम है— केसारे, कामेस्ट्रेस्, फेस्टीनो और बारोको ।

§ १३—तीसरे क्रम के सिद्ध संयोग[2]

तीसरे क्रम मे हेतुपद के स्थान आधारवाक्यो मे इस प्रकार होते है—

---

[1] In the Second Figure, the conclusion must be negative [2] Valid Moods of the Third Figure.

'हे'—'वि'
'हे'—'उ'

इस क्रम मे भी आठ सभव सिद्ध संयोगो की परीक्षा करके देखे कि उनमे कौन सिद्ध ठहरते है और कौन असिद्ध ।

(१) 'आ'-'आ' संयोग का तीसरे 'क्रम' मे यह रूप होगा—

'आ'—	सभी 'हे' 'वि' है,	सभी 'भारतीय' 'स्वतत्र' है,
'आ'—	सभी 'हे' 'उ' है,	सभी 'भारतीय' 'देशभक्त' है,
∴	कुछ 'उ' 'वि' है ।	∴ कुछ 'देशभक्त' 'स्वतंत्र' है ।

यहा हेतुपद दोनो आधारवाक्यो मे सर्वांशी है । दोनो आधारवाक्यो के विधानात्मक होने के कारण उनका निष्कर्ष भी विधानात्मक होगा । दोनो आधारवाक्यो के सामान्य होने के कारण निष्कर्ष भी सामान्य हो सकता था; किंतु आधारवाक्य मे 'उ' के सर्वांशी न होने के कारण निष्कर्ष मे वह असर्वांशी ही रहेगा । अतः, निष्कर्ष सामान्य न हो कर विशेष ही होगा । अर्थात्, वह 'ई' वाक्य होगा । 'ई' वाक्य मे कोई पद सर्वांशी नही होता; अत. किसी 'अनुचित दोष' के होने की भी सभावना नही है । तब, यह सयोग तीसरे क्रम मे सिद्ध ठहरा । इस न्यायवाक्य का साकेतिक नाम दाराप्ती[1] है ।

(२) 'आ-'ए' सयोग का तीसरे 'क्रम' मे यह रूप होगा—

'आ'—	सभी 'हे' 'वि' है,	सभी 'मनुष्य' 'द्विपद' है,
'ए'—	कोई 'हे' 'उ' नही है,	कोई 'मनुष्य' 'चतुष्पद' नही है,
	कोई निष्कर्ष नही	कोई निष्कर्ष नही

यहा, हेतुपद दोनो आधारवाक्यो मे सर्वांशी है । एक आधारवाक्य

---

[1] Darapti.

के निषेधात्मक होने के कारण निष्कर्ष भी निषेधात्मक होगा, और तब उसमे 'वि' सर्वाशी होगा। किंतु आधारवाक्य मे 'वि' सर्वाशी नही है। अत, 'अनुचित विधेय' दोष हो जाने के कारण यह सयोग असिद्ध ठहरा। इससे कोई निष्कर्ष नही निकल सकता।

(३) 'आ'-'ई' सयोग का तीसरे क्रम मे रूप होगा—

'आ'— सभी 'हे' 'वि' है, सभी 'मनुष्य' 'द्विपद' है,
'ई'— कुछ 'हे' 'उ' है, कुछ 'मनुष्य' 'गोरे' है,
कुछ 'उ' 'वि' है। कुछ 'गोरे' 'द्विपद' है।

यहा, हेतुपद विधेयवाक्य मे सर्वाशी है। दोनो आधारवाक्यो के विधानात्मक होने के कारण निष्कर्ष भी विधानात्मक होगा। एक आधार-वाक्य के विशेष होने के कारण निष्कर्ष भी विशेष होगा। अर्थात् वह 'ई' वाक्य होगा। 'ई' वाक्य में कोई पद सर्वाशी नही है, अत किसी 'अनुचित दोष' की आशंका भी नही है। इस तरह, तीसरे क्रम मे यह सयोग सिद्ध ठहरा। इसका साकेतिक नाम है दातीसी[1]।

(४) 'आ'-'ओ' संयोग का तीसरे 'क्रम' में यह रूप होगा—

'आ'— सभी 'हे' 'वि' है, सभी 'वृक्ष' 'हरे' है,
'ओ'— कुछ 'हे' 'उ' नही है, कुछ 'वृक्ष' 'बडे' नही है,
कोई निष्कर्ष नही कोई निष्कर्ष नही

यहा, हेतुपद विधेयवाक्य मे सर्वाशी है। एक आधारवाक्य के निषेधात्मक होने के कारण निष्कर्ष भी निषेधात्मक होता। और तब उसमें 'वि' सर्वाशी होता। किंतु आधारवाक्य मे 'वि' सर्वाशी नही है। अत, 'अनुचित विधेय' दोष उत्पन्न होने के कारण कोई निष्कर्ष नही निकल सकता। तीसरे क्रम मे यह सयोग असिद्ध ठहरा।

(५) 'ए'-'आ' सयोग का तीसरे 'क्रम' मे यह रूप होगा—

---

[1] Datisi

'ए'— कोई 'हे' 'वि' नही है,   कोई 'चोर' 'सत्यवादी' नही है,
'आ'— सभी 'हे' 'उ' है,   सभी 'चोर' 'हिसक' है,
∴ कुछ 'उ' 'वि' नही है।   ∴ कुछ 'हिसक' 'सत्यवादी' नही है।

यहा, हेतुपद दोनो आधारवाक्यो मे सर्वाशी है। एक आधारवाक्य के निषेधात्मक होने के कारण निष्कर्ष भी निषेधात्मक होगा। दोनो आधारवाक्यो के सामान्य होने के कारण निष्कर्ष सामान्य हो सकता था। किंतु, आधारवाक्य मे 'उ' असर्वाशी होने के कारण वह निष्कर्ष मे सर्वाशी नही हो सकता। अर्थात्, निष्कर्ष सामान्य नही होगा; 'ओ' होगा। इस तरह, यह सयोग तीसरे क्रम मे सिद्ध ठहरा। इसका साकेतिक नाम है फेलाप्तोन्[1]।

(६) 'ए'-'ई' सयोग का तीसरे 'क्रम' मे यह रूप होगा—
'ए'— कोई 'हे' 'वि' नही है,   कोई 'मनुष्य' 'चतुष्पद' नही है,
'ई'— कुछ 'हे' 'उ' है,   कुछ 'मनुष्य' 'काने' है,
∴ कुछ 'उ' 'वि' नही हे।   ∴ कुछ 'काने' 'चतुष्पद' नही है।

यहा, हेतुपद विधेयवाक्य मे सर्वाशी है। एक आधारवाक्य के निषेधात्मक होने के कारण निष्कर्ष भी निषेधात्मक होगा। और, एक आधारवाक्य के विशेष होने से निष्कर्ष भी विशेष होगा। अर्थात्, वह 'ओ' वाक्य होगा। निष्कर्ष के निषेधात्मक होने के कारण उसमे 'वि' सर्वांशी होगा। वह यहा आधारवाक्य में भी सर्वाशी है, अत 'अनुचित विधेय' का दोष नही हो सकता। इस तरह, तीसरे क्रम मे यह सयोग सिद्ध ठहरा। इस न्यायवाक्य का साकेतिक नाम है फेरीसोन्[2]।

(७) 'ई'-'आ' सयोग का तीसरे 'क्रम' मे यह रूप होगा—
'ई'— कुछ 'हे' 'वि' है,   कुछ 'पजाबी' 'वीर' है,
'आ'— सभी 'हे' 'उ' है,   सभी 'पजाबी' 'भारतीय' है,

---

[1] Felapton.   [2] Ferison.

∴ कुछ 'उ' 'वि' है। ∴ कुछ 'भारतीय' 'वीर' है।

यहा, हेतुपद उद्देशवाक्य में सर्वांशी है। दोनो आधारवाक्यो के विधानात्मक होने के कारण निष्कर्ष भी विधानात्मक होगा। एक आधारवाक्य के विशेष होने के कारण निष्कर्ष भी विशेष होगा। अर्थात् वह 'ई' वाक्य होगा। 'ई' वाक्य मे कोई पद सर्वांशी नही होता, अत. किसी 'अनुचित दोष' की सभावना नही है। इस तरह, यह सयोग तीसरे क्रम मे सिद्ध ठहरा। इस न्यायवाक्य का साकेतिक नाम है **दीसामीस्**[1]।

(८) 'ओ'-'आ' सयोग का तीसरे 'क्रम' मे यह रूप होगा—

'ओ'— कुछ 'हे' 'वि' नही है, कुछ 'आम' 'मीठे' नही है,
'आ'— सभी 'हे' 'उ' है, सभी 'आम' फल' है
∴ कुछ 'उ' 'वि' नही है। ∴ कुछ 'फल' 'मीठे' नही है।

यहा, हेतुपद उद्देशवाक्य में सर्वांशी है। एक आधारवाक्य के विशेष और निषेधात्मक होने के कारण निष्कर्ष भी वैसा ही होगा। अर्थात् वह 'ओ' वाक्य होगा। निष्कर्ष के निषेधात्मक होने के कारण उसमे 'वि' सर्वांशी होगा। वह आधारवाक्य में भी सर्वांशी है, अत 'अनुचित दोष' नही हो सकता। इस तरह, तीसरे क्रम में यह संयोग सिद्ध ठहरा। इस न्यायवाक्य का साकेतिक नाम है **बोकार्डो**[2]।

§ १४—तीसरे क्रम के अपने नियम[3]

तीसरे क्रम मे भी आधारवाक्यो के आठ सभव सिद्ध सयोगो की परीक्षा करके देखा कि उनमे केवल दो को छोड शेष छ सिद्ध ठहरते है। निष्कर्ष के साथ इन सिद्ध न्यायवाक्यो को तृतीय-क्रम-सिद्ध-सयोग कहते है। उन्हें एक साथ रख कर देखे कि उनमे क्या समानतायें है—

---

[1] Disamis [2] Bocardo

[3] The Special Rules of the Third Figure

'आ'—'आ'—'ई' दाराप्ती
'आ'—'ई'—'ई' दातीसो
'ए'—'आ'—'ओ' फेलाप्तो
'ए'—'ई'—'ओ' फेरीसीन्
'ई'—'आ'—'ई' दीसामीस्
'ओ'—'आ'—'ओ' बोकार्डो

इनमे दो समानताये हैं—(१) सभी के उद्देशवाक्य विधानात्मक हैं, (२) सभी मे निष्कर्ष विशेष है। तीसरे क्रम के यही अपने असाधारण नियम हैं। न्यायवाक्य के साधारण नियमो का प्रयोग करके भी तीसरे क्रम के इन आसाधारण नियमो की प्रामाणिकता दिखाई जा सकती है। जैसे—

(१) तीसरे क्रम में उद्देशवाक्य विधानात्मक ही होगा।[1]

यदि उद्देशवाक्य विधानात्मक न हुआ तो निषेधात्मक होगा। तब विधेयवाक्य विधानात्मक होगा, क्योकि दो निषेधात्मक वाक्यो के आधार पर कोई निष्कर्ष नही निकलता। और, एक आधार वाक्य के निषेधात्मक होने के कारण निष्कर्ष भी निषेधात्मक होगा। निष्कर्ष के निषेधात्मक होने से उसमे 'वि' सर्वांशी होगा। किंतु वह विधानात्मक विधेयवाक्य में विधेय होने के कारण सर्वांगी नही हो सकता। अतः, उद्देशवाक्य को निषेधात्मक मानने से जा कर 'अनुचित विधेय' का दोष हो जायगा। इससे यह नियम प्रामाणित हुआ कि तीसरे क्रम मे उद्देशवाक्य विधानात्मक ही होगा।

(२) तीसरे क्रम में निष्कर्ष विशेष ही होगा।[2]

---

[1] In the third figure, the minor premise must be affirmative. [2] In the third figure, the conclusion must be particular.

यदि निष्कर्ष विशेष नही हो तो सामान्य होगा। निष्कर्ष के सामान्य होने का अर्थ है कि उसमे 'उ' सर्वांशी है। निष्कर्ष मे 'उ' के सर्वांशी होने से उसे आधारवाक्य मे भी सर्वांशी होना चाहिए। तीसरे क्रम मे उद्देशवाक्य मे 'उ' विधेय होता है, अत उसके सर्वांशी होने का अर्थ है कि वह निषेधात्मक वाक्य होगा, क्योकि विधानात्मक वाक्य का विधेय कभी सर्वांशी नही होता। उद्देशवाक्य के निषेधात्मक होने से विधेयवाक्य विधानात्मक और निष्कर्ष निषेधात्मक होगा। निष्कर्ष के निषेधात्मक होने से उसमे 'वि' सर्वांशी होगा, और तव उसे विधेय वाक्य मे भी सर्वांशी होना चाहिए। किंतु अभी देख चुके है कि विधेयवाक्य विधानात्मक होगा, और इस कारण इस क्रम मे उसमे 'वि' सर्वांशी नही होगा। अत, निष्कर्ष को सामान्य मान लेने से जा कर 'अनुचित विधेय दोष' उत्पन्न हो जाता है। इससे यह नियम प्रामाणित हुआ कि तीसरे क्रम मे निष्कर्ष अवश्य विशेष होगा।

अव, इन असाधारण नियमो को उन सोलह सभव सयोगो पर लागू कर निश्चित कर सकते है कि तीसरे क्रम मे कौन सिद्ध होगे और कौन नही। पहले नियम से ये सयोग असिद्ध ठहरते है—'आ'-'ए', 'आ'-'ओ', 'ए'-'ए', 'ए'-'ओ', 'ई'-'ए', 'ई'-'ओ', 'ओ'-'ए', और 'ओ'-'ओ', क्योकि इनके उद्देशवाक्य विधानात्मक नही है।

'ई'-'ई' और 'ई'-'ओ', इन दो सयोगो को इस साधारण नियम से असिद्ध ठहरा सकते है कि दो विशेष-वाक्यो के आधार पर कोई निष्कर्ष नही निकलता (नियम ५)। इन्हे असाधारण नियम से असिद्ध ठहराने के लिए कुछ पुस्तको मे तीसरे क्रम का एक और असाधारण नियम स्वीकार किया गया है, कि दोनो आधारवाक्यो मे एक अवश्य सामान्य होगा। और इसे साधारण नियमो से इस प्रकार प्रामाणित करते है कि—

तीसरे क्रम में हेतुपद दोनो आधारवाक्यो मे उद्देश होता है, अत उसे कम से कम एक वार सर्वांशी होने के लिए एक को अवश्य सामान्य होना होगा।

किंतु, यथार्थ मे यह नियम तो न्यायवाक्य का ८ वा साधारण नियम ही है। तब, इस क्रम के सिद्ध सयोग हुए—दाराप्ती, दीसामीस, दातीसी, फेलाप्तोन्, बोकार्डो, और फेरीसोन्।

§ १५—चौथे क्रम के सिद्ध संयोग[1]

चौथे क्रम मे हेतुपद के स्थान आधारवाक्यो मे इस प्रकार होते हैं—

'वि'—'हे'

'हे'—'उ'

इस क्रम मे भी आठ सम्भव सिद्ध सयोगो की परीक्षा करके देखें कि उनमे कौन सिद्ध ठहरते हैं और कौन असिद्ध—

(१) 'आ'-'आ' सयोग का चौथे 'क्रम' मे यह रूप होगा—

'आ'—सभी 'वि' 'हे' है,		सभी 'तिवारी' 'ब्राह्मण' है	
'आ'—सभी 'हे' 'उ' है,		सभी 'ब्राह्मण' 'हिन्दू' है,	
कुछ 'उ' 'वि' है।	∴	कुछ 'हिन्दू' 'तिवारी' है।	

यहा, हेतुपद उद्देशवाक्य मे सर्वांशी है। दोनो आधारवाक्यो के विधानात्मक होने के कारण निष्कर्ष भी विधानात्मक होगा। आधारवाक्य मे 'उ' असर्वांशी होने के कारण निष्कर्ष मे भी वैसा ही होगा। अर्थात् निष्कर्ष विशेष विधानात्मक (='ई') होगा। 'ई' वाक्य मे कोई पद सर्वांशी नही होता; अत, किसी 'अनुचित दोष' की आशका नही है। इस तरह, यह सयोग चौथे क्रम मे सिद्ध ठहरा। इस न्यायवाक्य का सांकेतिक नाम है ब्रामान्तीप्।[2]

(२) 'आ'-'ए' सयोग का चौथे 'क्रम' मे यह रूप होगा—

'आ'—सभी 'वि' 'हे' है,   सभी 'ब्राह्मण' 'हिन्दू' है,

---

[1] Valid moods of the Fourth Figure.

[2] Bramantip.

'ए'— कोई 'हे' 'उ' नही है, कोई 'हिन्दू' 'मुसल्मान' नही है,
. . कोई 'उ' 'वि' नही है। कोई 'मुसल्मान' 'ब्राह्मण' नही है।

यहा, हेतुपद उद्देशवाक्य मे सर्वांशी है। एक आधारवाक्य के निषेधात्मक होने के कारण निष्कर्ष निषेधात्मक होगा। दोनो आधारवाक्यो के सामान्य होने के कारण निष्कर्ष भी सामान्य हो सकता है। अर्थात् यह 'ए' वाक्य होगा। आधारवाक्यो में 'उ' और 'वि' दोनो सर्वांशी है; अत निष्कर्ष मे उनके सर्वांशी होने से कोई दोष नही। इस तरह, यह सयोग चौथे क्रम मे सिद्ध ठहरा। इस न्यायवाक्य का सांकेतिक नाम है कामेनेस्[1]।

(३) 'आ'-'ई' सयोग का चौथे 'क्रम' में यह रूप होगा—
'आ'—सभी 'वि' 'हे' है, सभी 'आम' 'फल' है,
'ई'— कुछ 'हे' 'उ' है, कुछ 'फल' 'कटीले' है,
कोई निष्कर्ष नही। कोई निष्कर्ष नही।

यहा, हेतुपद किसी भी आधारवाक्य मे सर्वांशी नही है। अत इनसे कोई निष्कर्ष नही निकल सकता। यह सयोग चौथे क्रम में असिद्ध ठहरा।

(४) 'आ'-'ओ' सयोग का चौथे 'क्रम' में यह रूप होगा—
'आ'—सभी 'वि' 'हे' है, सभी 'गाय' 'चतुष्पद' है,
'ओ'—कुछ 'हे' 'उ' नही है, कुछ 'चतुष्पद' 'घोडे' नही है,
कोई निष्कर्ष नही। कोई निष्कर्ष नही।

यहा भी ऊपर ही की तरह हेतुपद आधारवाक्यो में एक बार भी सर्वांशी नही है। अत. इनसे कोई निष्कर्ष नही निकल सकता। यह सयोग चौथे क्रम में असिद्ध ठहरा।

(५) 'ए-'आ' सयोग का चौथे 'क्रम' मे यह रूप होगा—

---

[1] Camenes.

'ए'— कोई 'वि' 'हे' नही है,　　　कोई 'निर्धन' 'सेठ' नही है,
'आ'—सभी 'हे' 'उ' है,　　　सभी 'सेठ' 'दानी' है,
∴ कुछ 'उ' 'वि' नही है।　　∴ कुछ 'दानी' 'निर्धन' नहीं है।

यहा, हेतुपद दोनो आधारवाक्यो मे सर्वांशी है। एक आधारवाक्य के निषेधात्मक होने के कारण निष्कर्ष निषेधात्मक होगा। दोनो आधारवाक्यो के सामान्य होने के कारण निष्कर्ष भी सामान्य हो सकता था। किंतु आधारवाक्य मे 'उ' असर्वांशी होने के कारण निष्कर्ष मे सर्वांशी नहीं हो सकता। अर्थात् निष्कर्ष सामान्य नही हो सकता; वह विशेष ही ('ओ') रहेगा। निष्कर्ष मे 'वि' सर्वांशी है, वह आधारवाक्य मे भी सर्वांशी है। इस तरह, यह संयोग चौथे क्रम मे सिद्ध ठहरा। इस न्यायवाक्य का सांकेतिक नाम है **फेसापो**[1]।

(६) 'ए'-'ई' सयोग का चौथे 'क्रम' मे यह रूप होगा—
'ए'— कोई 'वि' 'हे' नही है,　　　कोई 'पण्डित' 'मूर्ख' नही है,
'ई'— कुछ 'हे' 'उ' है,　　　कुछ 'मूर्ख' 'चमार' है,
∴ कुछ 'उ' 'वि' नही है।　　∴ कुछ 'चमार' 'पण्डित' नही है।

यहा, हेतुपद विधेयवाक्य मे सर्वांशी है। एक आधारवाक्य के निषेधात्मक होने के कारण निष्कर्ष भी निषेधात्मक होगा। एक आधारवाक्य के विशेष होने के कारण निष्कर्ष भी विशेष होगा। अर्थात् वह 'ओ' वाक्य होगा। निष्कर्ष के निषेधात्मक होने से उसमे 'वि' सर्वांशी होगा; वह आधारवाक्य में भी सर्वांशी है, अतः 'अनुचित विधेय' का दोष नही आ सकता। इस तरह, यह संयोग चौथे क्रम मे सिद्ध ठहरा। इस न्यायवाक्य का सांकेतिक नाम है **फ़ेसीसोन्**[2]।

(७) 'ई'-'आ' सयोग का चौथे 'क्रम' मे यह रूप होगा—
'ई'— कुछ 'वि' 'हे' है,　　　कुछ 'भारतीय' 'ब्राह्मण' है,

---

[1] Fesapo.　　[2] Fresison.

'आ'—सभी 'हे' 'उ' है,	सभी 'ब्राह्मण' 'हिन्दू' है,
कुछ 'उ' 'वि' है।	कुछ 'हिन्दू' 'भारतीय' है।

यहा, हेतुपद उद्देशवाक्य में सर्वांशी है। दोनो आधारवाक्यो के विधानात्मक होने के कारण निष्कर्ष भी विधानात्मक होगा। एक आधारवाक्य के विशेष होने के कारण निष्कर्ष भी विशेष होगा। अर्थात् वह 'ई' वाक्य होगा। 'ई' वाक्य में कोई पद सर्वांशी नही होता, अत. किसी 'अनुचित दोष' की आशका नही है। इस तरह, यह सयोग चौथे क्रम में सिद्ध ठहरा। इस न्यायवाक्य का साकेतिक नाम है दीमारीस्[1]।

(८) 'ओ'-'आ' सयोग का चौथे 'क्रम' मे यह रूप होगा—

'ओ'——कुछ 'वि' 'हे' नही है,	कुछ 'अफ्रीकी' 'हवशी' नही है,
'आ'—सभी 'हे' 'उ' है,	सभी 'हवशी' 'काले' है,
कोई निष्कर्ष नही।	कोई निष्कर्ष नही।

यहा, हेतुपद दोनो आधारवाक्यो मे सर्वांशी है। एक आधारवाक्य के निषेधात्मक होने के कारण निष्कर्ष भी निषेधात्मक होगा। तव, इसमे 'वि' सर्वांशी होगा। किंतु यहाँ आधारवाक्य मे 'वि' सर्वांशी नही है। अत 'अनुचित विधेय' का दोष उपस्थित हो जायगा। इस तरह, यह सयोग चौथे क्रम में असिद्ध ठहरा।

§ १६—चौथे क्रम के अपने नियम[2]

चौथे क्रम में भी आधारवाक्यो के आठ सम्भव सिद्ध सयोगो की परीक्षा करके देखा कि उनमे तीन को छोड शेष पाँच सिद्ध ठहरते है। निष्कर्ष के साथ इन सिद्ध न्यायवाक्यो को 'चतुर्थ-क्रम-सिद्ध-सयोग' कहते है। उन्हे एक साथ रख कर उनकी परीक्षा करे—

---

[1] Dimaris

[2] The Special Rules of the Fourth Figure.

'आ'-'आ'-'ई' ब्रामान्तीप्
'आ'-'ए'-'ए' कामेनेस्
'ए'-'आ'-'ओ' फेसापो
'ए'-'ई'-'ओ' फ्रेसीसोन्
'ई'-'आ'-'ई' दीमारीस्

इन्हे देखने से इनमे ये नियम निकलते है—

(१) यदि विधेयवाक्य विधानात्मक हो, तो उद्देशवाक्य सामान्य होगा।

(२) यदि उद्देशवाक्य विधानात्मक हो, तो निष्कर्ष विशेष होगा।

(३) यदि कोई भी आधारवाक्य निषेधात्मक हो, तो विधेयवाक्य सामान्य होगा।[1]

न्यायवाक्य के साधारण नियमो को भी लागू करके इन असाधारण नियमो की प्रामाणिकता दिखाई जा सकती है। जैसे—

(१) यदि विधेयवाक्य विधानात्मक हो तो इसमे हेतुपद सर्वांशी नही हो सकता। अत इसे उद्देशवाक्य मे सर्वांशी होना अवश्य चाहिए। इस क्रम मे हेतुपद उद्देशवाक्य मे उद्देश होता है। उसके सर्वांशी होने का अर्थ है कि वाक्य सामान्य होगा।

---

[1] (१) If the major premise be affimative, the minor must be universal.

(२) If the minor premise be affirmative, the conclusion must be particular.

(३) If either premise be negative, the major must be universal.

(२) यदि उद्देशवाक्य विधानात्मक हो, तो इसमें उद्देशपद सर्वांशी नही होगा। अत यह निष्कर्ष मे भी सर्वांशी नही हो सकता। निष्कर्ष मे उद्देश के असर्वांशी होने का अर्थ है कि वह वाक्य विशेष होगा।

(३) यदि कोई भी आधारवाक्य निषेधात्मक होगा तो निष्कर्ष भी निषेधात्मक होगा। तब, उसका विधेय सर्वांशी होगा। 'अनुचित विधेय' के दोष से बचने के लिए उसे विधेयवाक्य मे भी सर्वांशी होना होगा। और, इस क्रम में विधेयवाक्य मे 'वि' उद्देश होता है। उसके सर्वांशी होने का अर्थ है कि वह वाक्य सामान्य होगा।

§ १७—संक्षेप

आधारवाक्यो के कुल सोलह सभव-संयोग है। न्यायवाक्य के 'साधारण नियमो' को लागू करने पर उनमें केवल आठ संभव-सिद्ध-संयोग निकले।

आधारवाक्यो के इन आठ 'सभव-सिद्ध-सयोगों' को चारो क्रमो में जाँच कर देखा कि प्रथम क्रम मे चार, द्वितीय मे चार, तृतीय मे छ, और चतुर्थ में पाँच ऐसे है जिनसे कोई निष्कर्ष निकलता है। आधारवाक्यो के साथ उनके निष्कर्ष-वाक्यो को भी युक्त कर जो ये १९ सिद्ध न्यायवाक्य बनते है उन्हें सिद्ध-न्यायवाक्य-सयोग कहते है।

'आ'-'आ'	'ए'-'आ'	'ई'-'आ'	'ओ'-'आ'
'आ'-'ए'	'ए'-'ए' ×	'ई'-'ए' ×	'ओ'-'ए' ×
'आ'-'ई'	'ए'-'ई'	'ई'-'ई' ×	'ओ'-'ई' ×
'आ'-'ओ'	'ए'-'ओ' ×	'ई'-'ओ' ×	'ओ'-'ओ' ×

आधारवाक्यो के ये सोलह 'सभव-सयोग' है। × चिह्नित को छोड़ शेष ८ 'सभव-सिद्ध-सयोग' है। चार क्रमो में उनके आधार पर इस प्रकार १९ 'सिद्ध-न्यायवाक्य-सयोग' बनते है—

सम्भव-सिद्ध संयोग	पहला क्रम	दूसरा क्रम	तीसरा क्रम	चौथा क्रम
'आ'-'आ'	'आ'-'आ'-'आ'		'आ'-'आ'-'ई'	'आ'-'आ'-'ई'
'आ'-'ए'		'आ'-'ए'-'ए'		'आ'-'ए'-'ए'
'आ'-'ई'	'आ'-'ई'-'ई'		'आ'-'ई'-'ई'	
'आ'-'ओ'		'आ'-'ओ'-'ओ'		
'ए'-'आ'	'ए'-'आ'-'ए'	'ए'-'आ'-'ए'	'ए'-'आ'-'ओ'	'ए'-'आ'-'ओ'
'ए'-'ई'	'ए'-'ई'-'ओ'	'ए'-'ई'-'ओ'	'ए'-'ई'-'ओ'	'ए'-'ई'-'ओ'
'ई'-'आ'			'ई'-'आ'-'ई'	'ई'-'आ'-'ई'
'ओ'-'आ'			ओ'-'आ'-'ओ'	

इन सिद्ध-न्यायवाक्य-सयोगो के संकेत-सूत्र[1] इस प्रकार है—

बार्बारा, (Barbara) केलारेण्ट्, (Celarent) दारीई, (Darii) फेरीओ; (Ferio)

केसारे, (Cesare) कामेस्ट्रेस्, (Camestres) फेस्टीनो, (Festino) बारोको; (Baroco)

दाराप्ती, (Darapti) दीसामीस्, (Disamis) दातीसी, (Datisi) फेलाप्तोन्; (Felapton)

बोकार्डो, (Bocardo) फेरीसोन्; (Ferison)

ब्रामान्तीप्, (Bramantip) कामेनेस्, (Camenes) दीमारीस्, (Dimaris) फेसापो (Fesapo)

फ्रेसीसोन्। (Fresison)

[1] The Mnemonic Lines. इन्हें कण्ठ कर लेना चाहिए।

§ १८—सिद्ध-न्यायवाक्य-संयोगों का परस्पर रूपान्तर

पाश्चात्य तर्कशास्त्र का आदि प्रणेता युनानी दार्शनिक अरस्तू ने एक सिद्धान्त बताया जिसे उसने सभी न्यायवाक्य की सिद्धि का आधार माना। वह सिद्धान्त युनानी भाषा में है—डिक्टम् डि ओम्नि एट् नल्लो। इसका शाब्दिक अर्थ है—वह कथन जो सभी के विषय मे हो और जो किसी के भी विषय में न हो। इसका तात्पर्य यह है कि—**जो बात किसी पूरे वर्ग के साथ सत्य हो, वह बात उसी तरह उस के साथ भी सत्य होगी जो उस वर्ग में अन्तर्गत है।** तर्कशास्त्री वेट्‌ले इस सिद्धान्त का विश्लेषण इस प्रकार करता है*—

(१) जो बात किसी पूरे वर्ग के साथ सत्य हो, (विधेयवाक्य)
(२) उस वर्ग मे कोई अन्तर्गत हो, (उद्देशवाक्य)
(३) उस अन्तर्गत के साथ वह बात सत्य है। (निष्कर्षवाक्य)

इस विश्लेपण को दृष्टि मे लाने से स्पष्ट मालूम होता है कि अरस्तू के सिद्धान्त के अनुसार विधेयवाक्य को सामान्य होना चाहिए, और उद्देशवाक्य को विधानात्मक होना चाहिए। हम देख चुके हैं कि ये दोनो प्रथम क्रम के अपने असाधारण नियम है। इससे यह फलित होता है कि अरस्तू का उक्त सिद्धान्त 'प्रथम क्रम' ही पर साक्षात् लागू होता है, जिसके सिद्ध न्यायवाक्य-सयोग है—बार्बारा, केलारेण्ट्, दारीई और फेरीओ। अत, अरस्तू के अनुसार प्रथम-क्रम ही उत्तम क्रम[1] है। शेष तीन हीन क्रम[2] है, क्योकि उन पर उक्त सिद्धान्त साक्षात् रूप से लागू नही किया जा सकता। इस कारण, प्रथम क्रम के चार सयोगो को उत्तम-सयोग,[3] और अन्य क्रमो के शेष पन्द्रह सयोगो को हीन-संयोग[4]

---

[1] Perfect Figure [2] Imperfect Figure
[3] Perfect Moods [4] Imperfect Moods
*Whately, Logic, p. 23.

कहते है। अरस्तू किसी 'हीन-संयोग' को किसी 'उत्तम-संयोग' मे रूपान्तर करके ही उसकी प्रामाणिकता सिद्ध करता है।

अतः इस विचार से 'हीन-सयोगो' को 'उत्तम-सयोगो' मे रूपान्तर करने का बडा महत्व है, क्योकि बिना ऐसा किए उनकी प्रामाणिकता सिद्ध नही हो सकती। किंतु अब हमारे लिए इस रूपान्तर-करण का कोई विशेष महत्व नही है, क्योकि हम उनकी प्रामाणिकता दूसरी विधि से भी कर ले सकते है। अरस्तू ने 'चौथे क्रम' को स्वीकार नही किया था। बाद मे यह क्रम एक युनानी दार्शनिक गैलेन् द्वारा स्थापित किया गया था, जिससे इसे गैलेनियन क्रम भी कहते है। किसी 'हीन-सयोग' को 'उत्तम-सयोग' मे रूपान्तर करके परीक्षा करना अब भले ही अनिवार्य न रह गया हो, किंतु उस विधि के अध्ययन से एक बडा लाभ यह है कि इससे सिद्ध-न्यायवाक्यो का परस्पर सम्बन्ध तथा उनका ऐक्य साफ हो जाता है।

*   *   *

(क) रूपान्तर-करण[1]

हम देखेगे कि न्यायवाक्य का कोई भी संयोग किसी भी दूसरे संयोग मे रूपान्तरित किया जा सकता है। अत, 'रूपान्तर-करण' का व्यापक अर्थ है किसी भी संयोग को दूसरे सयोग मे रूपान्तर करना। कितु यहां हमे किसी भी सयोग को किसी दूसरे सयोग मे रूपान्तर करने से कोई मतलब नही है। यहा तो अरस्तू के अनुसार 'हीन-संयोगो' को ही 'उत्तम-सयोगो' मे रूपान्तर करके उन्हे सिद्ध करना है। अत', यहा 'रूपान्तर-करण' का यही सीमित अर्थ है कि—दूसरे, तीसरे और चौथे क्रमो के न्यायवाक्यसयोगो को पहले क्रम के न्यायवाक्यसयोगो मे रूपान्तर करना; और इस तरह उनकी सिद्धि या असिद्धि की परीक्षा करना।

---

[1] Reduction.

'रूपान्तर-करण' की दो विधिया है—अनुलोम-विधि और प्रतिलोम-विधि । 'अनुलोम-विधि'[१] में किसी 'हीन-सयोग' को, उसके वाक्यो को व्यत्यय आदि अनन्तरानुमान की प्रक्रिया से बदल कर या उनके सिल-सिले में उलट-पलट कर, किसी 'उत्तम-सयोग' में रूपान्तरित करते हैं। और, 'प्रतिलोम-विधि'[२] में किसी 'हीन-सयोग' के निष्कर्ष के अत्यन्त विरुद्ध[३] रूप को ले कर किसी एक आधारवाक्य के साथ प्रथम-क्रम में कोई न्याय-वाक्य उपस्थित करके निष्कर्ष निकाल कर दिखाते है कि यह दूसरे आधार-वाक्य का अत्यन्त विरुद्ध रूप है। चूकि आधारवाक्य की सत्यता सर्वथा नियत होती है, इससे नया निष्कर्ष असत्य ठहरता है। इस तरह, उस 'हीन-सयोग' के निष्कर्ष के अत्यन्त विरुद्ध रूप को असत्य दिखा कर उसकी सिद्धि स्थापित की जाती है। इन दो विधियो की परीक्षा सविस्तार करेंगे।

* * *

(ख) रूपान्तर-करण के संकेत

वार्बारा, केलारेण्ट् आदि जो सिद्ध न्यायवाक्य-सयोगो के साकेतिक नाम दिए गए है उनमे तीन तीन स्वर हैं। पहला स्वर विधेयवाक्य का, दूसरा उद्देशवाक्य का और तीसरा निष्कर्ष-वाक्य का सूचक है, यह तो ऊपर कह चुके है। यहा रूपान्तर-करण की प्रक्रिया में इन नामो मे प्रयुक्त व्यञ्जनाक्षरो के क्या निर्देश हैं इसे जानना आवश्यक है—

(१) 'हीन-सयोगो' के नाम के आदि अक्षर यह सूचित करते हैं कि उन्ही अक्षरो से प्रारम्भ होने वाले 'उत्तम-सयोगो' में उनका रूपान्तर होगा। 'ब' अक्षर से प्रारम्भ होने वाले सभी हीन-सयोगो का रूपान्तर 'बार्बारा' में, 'क' अक्षर से प्रारम्भ होने वाले सभी हीन-सयोगो का रूपान्तर

---

[१] Direct Reduction.

[२] Indirect Reduction.

[३] Contradictory

'केलारेण्ट्' मे, 'द' अक्षर से प्रारम्भ होने वाले सभी हीन-सयोगों का रूपान्तर 'दारीई' मे, और 'फ' अक्षर से प्रारम्भ होने वाले सभी 'हीन-संयोगो' का रूपान्तर 'फेरीओ' मे होता है।

(२) 'म' अक्षर यह निर्देश करता है कि रूपान्तर करने की प्रक्रिया मे उस 'हीन-सयोग' के आधारवाक्यो का स्थानान्तर हो जायगा।

(३) 'स' अक्षर यह निर्देश करता है कि रूपान्तर करने की प्रक्रिया मे 'हीन-सयोग' के जिस स्वर के अनन्तर यह प्रयुक्त हुआ है उस वाक्य का 'सम-व्यत्यय' कर लेना होगा।

(४) 'प' अक्षर यह निर्देश करता है कि रूपान्तर करने की प्रक्रिया मे 'हीन-संयोग' के जिस स्वर के अनन्तर यह प्रयुक्त हुआ है उस वाक्य का 'विषम-व्यत्यय' कर लेना होगा।

(५) 'स' या 'प' यदि 'हीन-सयोग' के तृतीय स्वर के अनन्तर प्रयुक्त हुआ हो तो इसका निर्देश यह है कि रूपान्तर करने के सिलसिले मे जो नया निष्कर्ष प्राप्त हुआ है उसका व्यत्यय कर लेना होगा।

(६) 'क' अक्षर जब 'हीन-सयोग' के नाम के बीच मे आता है तो उसका निर्देश है कि उस न्यायवाक्य का रूपान्तर प्रतिलोम विधि से होगा। ऐसे 'हीन-सयोग' केवल दो है—**बारोको** और **बोकार्डो**। प्राचीन तर्क-शास्त्री इनको प्रतिलोम-विधि से ही रूपान्तरित किया करते थे; किंतु देखा गया कि अनुलोम-विधि से भी इनको रूपान्तर कर सकते है। ऐसा करने के लिए 'बारोको' का नाम बदल कर **फाक्सोको**, और 'बोकार्डो' का नाम बदल कर **दोक्सामोस्क्** कर देते है। इन दोनों मे प्रयुक्त 'क' अक्षर का निर्देश है कि जिस स्वर के बाद यह आता है उस वाक्य का 'परि-वर्तन' करना होगा। इस तरह 'क्स' का निर्देश है उस वाक्य का पहले 'परिवर्तन' करना और फिर उस 'परिवर्तित' का 'व्यत्यय' करना। उसी तरह, 'स्क' का निर्देश है उस वाक्य का पहले 'व्यत्यय' करना और फिर

उस 'व्यत्यस्त' का 'परिवर्तन' करना। यदि 'स्क' तीसरे स्वर के वाद आवे तो उसका निर्देश है कि रूपान्तर प्रक्रिया के सिलसिले में जो नया निष्कर्ष प्राप्त हुआ है उसका पहले 'व्यत्यय' करना और फिर उस व्यत्यस्त का 'परिवर्तन' करना।

(७) इनके अतिरिक्त जो दूसरे व्यञ्जनाक्षर है उनका कोई अर्थ नही है, वे उच्चारणार्थ है।

* * *

(ग) अनुलोम-विधि से रूपान्तरकरण

१. दूसरे क्रम के हीन-संयोगों का पहले क्रम के उत्तम-संयोग मे रूपान्तर

दूसरे क्रम में चार सिद्ध सयोग है—केसारे, कामेस्ट्रेस्, फेस्टीनो और वारोको। इनमें पहले दोनो के आदि अक्षर 'क' है। यह निर्देश करता है कि उनका रूपान्तर पहले क्रम के उत्तम-सयोग 'केलारेण्ट्' मे होगा। तीसरे सयोग का आदि अक्षर 'फ' है, यह निर्देश करता है कि इसका रूपान्तर पहले क्रम के उत्तम-सयोग 'फेरीओ' मे होगा। चौथे सयोग के बीच में 'क' अक्षर प्रयुक्त हुआ है, यह निर्देश करता है कि इसका रूपान्तर प्रतिलोम-विधि से होगा। ऊपर देख चुके है कि अनुलोम-विधि से रूपान्तर करने के लिए इसका नाम वदल कर 'फाक्सोको' रख दिया जाता है; और तव उसका रूपान्तर पहले क्रम के उत्तम-सयोग 'फेरीओ' मे होता है। इनके रूपान्तर इस प्रकार होगे—

(१) केसारे = केलारेण्ट्

'ए'— कोई 'वि' 'हे' नही है,	कोई 'हे' 'वि' नही है,
'आ'—सभी 'उ' 'हे' है,	सभी 'उ' 'हे' है,
∴ 'ए'— कोई 'उ' 'वि' नही है।	∴ कोई 'उ' 'वि' नही है।

यहा, हीन-संयोग मे विधेयवाक्य के बाद प्रयुक्त 'स' अक्षर के निर्देश से उसका व्यत्यय करके रूपान्तर मे रखा गया।

(२) कामेस्ट्रेस् = केलारेण्ट्

'आ'—सभी 'वि' 'हे' है,	↗↘	कोई 'हे' 'उ' नही है,
'ए'— कोई 'उ' 'हे' नही है,		सभी 'वि' 'हे' है,
∴ 'ए'—कोई 'उ' 'वि' नही है।		∴ कोई 'वि' 'उ' नही है,
		= कोई 'उ' 'वि' नही है।

यहा, हीन-सयोग मे प्रयुक्त 'म' अक्षर के निर्देश से रूपान्तर में उसके आधारवाक्यो का स्थानान्तर कर दिया। अर्थात् उसके उद्देशवाक्य को विधेयवाक्य, और उसके विधेयाक्य को उद्देशवाक्य कर दिया। हीन-सयोग मे उद्देशवाक्य के आगे प्रयुक्त 'स' अक्षर के निर्देश से रूपान्तर मे उसको व्यत्यस्त करके रखा। फिर, हीन-सयोग के तीसरे स्वर के आगे प्रयुक्त 'स' अक्षर के निर्देश से रूपान्तर-करण के सिलसिले में जो नया निष्कर्ष प्राप्त हुआ उसका व्यत्यय कर दिया।

(३) फेस्टीनो = फेरीओ

'ए'— कोई 'वि' 'हे' नही है,	कोई 'हे' 'वि' नही है,
'ई'— कुछ 'उ' 'हे' है,	कुछ 'उ' 'हे' है,
∴ 'ओ'—कुछ 'उ' 'वि' नही है।	∴ कुछ 'उ' 'वि' नही है।

यहा, हीन-सयोग मे विधेयवाक्य के बाद प्रयुक्त 'स' अक्षर के निर्देश से रूपान्तर मे उसको व्यत्यस्त करके रखा।

(४) बारोको=फाक्सोको = फेरीओ

'आ'—सभी 'वि' 'हे' है,	कोई 'नही-हे' 'वि' नही है,
'ओ'—कुछ 'उ' 'हे' नही है,	कुछ 'उ' 'नही-हे' है,
∴ 'ओ'—कुछ 'उ' 'वि' नही है।	∴ कुछ 'उ' 'वि' नही है।

यहा, हीन-संयोग मे विधेयवाक्य के वाद प्रयुक्त 'क्स' अक्षर के निर्देश से रूपान्तर में उसको परिर्वातित और फिर व्यत्यस्त करके रखा। और, उद्देशवाक्य के बाद प्रयुक्त 'क' अक्षर के निर्देश से रूपान्तर में उसको परिर्वातित करके रखा।

२. तीसरे क्रम के हीन-संयोगों का पहले क्रम के उत्तम संयोग मे रूपान्तर

तीसरे क्रम में सिद्ध न्यायवाक्यो के छ सयोग हैं—(१) दाराप्ती, (२) दीसामीस्, (३) दातीसी, (४) फेलाप्तोन्, (५) वोकार्डो, और (६) फेरीसोन्। इनमे पहले तीन के आदि में 'द' अक्षर आने से निर्देश होता है कि उनका रूपान्तर पहले क्रम के उत्तम-सयोग 'दारीई' में होगा। चौथे और छठे का रूपान्तर 'फेरीओ' में होगा। पाँचवे के वीच मे प्रयुक्त 'क' अक्षर बताता है कि इसका रूपान्तर प्रतिलोम-विधि से होगा। किंतु इसका रूपान्तर अनुलोम-विधि से भी हो सकता है, तव इसका नाम 'दोक्सामोस्क' होगा, और उसका रूपान्तर 'दारीई' मे होगा। इनके रूपान्तर इस प्रकार होंगे—

(१) दाराप्ती	=	दारीई
'आ'—सभी 'हे' 'वि' है,		सभी 'हे' 'वि' है,
'आ'—सभी 'हे' 'उ' है,		कुछ 'उ' 'हे' है,
∴ 'ई'— कुछ 'उ' 'वि' है।		∴ कुछ 'उ' 'वि' है।

यहा, हीन-सयोग मे उद्देशवाक्य के बाद प्रयुक्त 'प' अक्षर के निर्देश से रूपान्तर में उसका विषम-व्यत्यय करके रखा।

(२) दीसामीस	=	दारीई
'आ'— कुछ 'हे' 'वि' है,	╳	सभी 'हे' 'उ' है,
'ई'—सभी 'हे' 'उ' है,		कुछ 'वि' 'हे' है,

∴ 'ई'— कुछ 'उ' 'वि' है।   ∴ कुछ 'वि' 'उ' है।
स=कुछ 'उ' 'वि' है।

(३) दातीसी   =   दारीई
'आ'—सभी 'हे' 'वि' है,   सभी 'हे' 'वि' है,
'ई'—कुछ 'हे' 'उ' है,   =स. कुछ 'उ' 'हे' है,
∴ 'ई'—कुछ 'उ' 'वि' है।   ∴ कुछ 'उ' 'वि' है।

(४) फेलाप्तोन्   =   फेरीओ
'ए'—कोई 'हे' 'वि' नही है,   कोई 'हे 'वि' नही है,
'आ'—सभी 'हे' 'उ' है,   =प कुछ 'उ' 'हे' है,
∴ 'ओ'—कुछ 'उ' 'वि' नही है।∴ कुछ 'उ' 'वि' नही है।

(५) बोकार्डो=दोक्सामोस्क =   दारीई
'ओ'—कुछ 'हे' 'वि' नही है,   ✕   सभी 'हे' 'उ' है,
'आ'—सभी 'हे' 'उ' है,   = क्स. कुछ 'नही-वि' 'हे' है,
∴ 'ओ'—कुछ 'उ' 'वि' नही है। ∴ कुछ 'नही-वि' 'उ' है।
स्क=कुछ 'उ' 'वि' नही है।

(६) फेरीसोन्   =   फेरीओ
' '—कोई 'हे' 'वि' नही है,   कोई 'हे' 'वि' नही है,
'ई'—कुछ 'हे' 'उ' है,   =स कुछ 'उ' 'हे' है,
∴ 'ओ'—कुछ 'उ' 'वि' नही है। ∴ कुछ 'उ' 'वि' नही है।

३. चौथे क्रम के हीन-संयोगो का पहले क्रम के उत्तम संयोग मे रूपान्तर

(१) ब्रामान्तीप्   =   बार्बारा
'आ'—सभी 'वि' 'हे' है,   ✕   सभी 'हे' 'उ' है,

'आ'—सभी 'हे' 'उ' है, सभी 'वि' 'हे' है,
'ई'—कुछ 'उ' 'वि' है। ∴ सभी 'वि' 'उ' है।
प=कुछ 'उ' 'वि' है।

(२) कामेनेस् = केलारेण्ट्

'आ'—सभी 'वि' 'हे' है, कोई 'हे' 'उ' नही है,
'ए'—कोई 'हे' 'उ' नही है, सभी 'वि' 'हे' है,
∴ 'ए'— कोई 'उ' 'वि' नही है। ∴ कोई 'वि' 'उ' नही है।
स=कोई 'उ' 'वि' नही है।

(३) दीमारीस् = दारीई

'ई'— कुछ 'वि' 'हे' है, सभी 'हे' 'उ' है,
'आ'—सभी 'हे' 'उ' है, कुछ 'वि' 'हे' है,
∴ 'ई'— कुछ 'उ' 'वि' है। कुछ 'वि' 'उ' है।
स=कुछ 'उ' 'वि' है।

(४) फेसापो = फेरीओ

'ए'— कोई 'वि' 'हे' नही है, =स कोई 'हे' 'वि' नही है,
'आ'—सभी 'हे' 'उ' है, =प कुछ 'उ' 'हे है,
∴ 'ओ'—कुछ 'उ' 'वि' नही है। ∴ कुछ 'उ' 'वि' नही है।

(५) फ्रेसीसोन् = फेरीओ

'ए'— कोई 'वि' 'हे' नही है, =स कोई 'हे' 'वि' नही है,
'ई'— कुछ 'हे' 'उ' है, =स कुछ 'उ' 'हे' है,
∴ 'ओ'—कुछ 'उ' 'वि' नही है। ∴ कुछ 'उ' 'वि' नही है।

* * *

(घ) प्रतिलोम-विधि से रूपान्तरकरण

१. दूसरे क्रम के संयोगों का रूपान्तर

(१) केसारे

'ए'— कोई 'वि' 'हे' नही है,
'आ'—सभी 'उ' 'हे' है,
∴ 'ए'— कोई 'उ' 'वि' नही है।

यदि यह निष्कर्ष सत्य नही है, तो इसका अत्यन्त विरुद्ध रूप (ई) 'कुछ 'उ' 'वि' है' अवश्य सत्य होगा। इस वाक्य को मूल विधेयवाक्य के साथ मिला कर पहले क्रम मे एक नया न्यायवाक्य बनावे—

'ए'— कोई 'वि' 'हे' नही है, (मूल विधेयवाक्य)
'ई'— कुछ 'उ' 'वि' है, (मूल निष्कर्ष का विरुद्ध)
∴ 'ओ'—कुछ 'उ' 'हे' नही है। (नया निष्कर्ष)

यह नया न्यायवाक्य पहले क्रम के उत्तम-सयोग 'फेरीओ' के रूप मे है, क्योकि यहा 'वि' हेतुपद का काम करता है।

अब, देखते है कि यह नया निष्कर्ष मूल उद्देशवाक्य का अत्यन्त विरुद्ध रूप है। किंतु, आधारवाक्य की सत्यता तो पहले ही नियत कर ली जाती है, उसे असत्य माना नही जा सकता। इससे, मूल उद्देशवाक्य का विरुद्ध रूप यह नया निष्कर्ष ही असत्य माना जायगा। इस नये निष्कर्ष की असत्यता का कारण क्या है ? अनुमान की प्रक्रिया मे कोई दोष नही है, क्योकि यह तो पहले क्रम के उत्तम-सयोग 'फेरीओ' के रूप मे है। इसकी असत्यता का कारण इस नये न्यायवाक्य के विधेयवाक्य मे भी नही है, क्योकि यह तो मूल विधेयवाक्य है। अतः इसके (=नये निष्कर्ष के) असत्य होने का कारण इस नये न्यायवाक्य के उद्देशवाक्य का ही असत्य होना है। यह जब असत्य हुआ तो इसका विरुद्ध रूप—मूल निष्कर्षवाक्य—अवश्य सत्य होगा। इससे सिद्ध हुआ कि मूल न्यायवाक्य प्रामाणिक है।

(२) कामेस्ट्रेस्

'आ'—सभी 'वि' 'हे' है,
'ए'—कोई 'उ' 'हे' नही है,
. 'ए'—कोई 'उ' 'वि' नही है।

यदि यह निष्कर्ष सत्य नही है, तो इसका विरुद्ध रूप 'कुछ 'उ' 'वि' हैं' अवश्य सत्य होगा। मूल विधेयवाक्य के साथ इसे मिला कर पहले क्रम में एक नया न्यायवाक्य बनावें—

'आ'—सभी 'वि' 'हे' है, (मूल विधेयवाक्य)
'ई'—कुछ 'उ' 'वि' है, (मूल निष्कर्ष का विरुद्ध)
. 'ई'—कुछ 'उ' 'हे' है। (नया निष्कर्ष)

यह नया न्यायवाक्य पहले क्रम के उत्तम-सयोग 'दारीई' के रूप मे है, क्योकि इसमे 'वि' हेतुपद का काम कर रहा है।

यह नया निष्कर्ष मूल उद्देशवाक्य का विरुद्ध-रूप है, अत अवश्य असत्य होगा। इसकी असत्यता का कारण क्या है ? अनुमान की प्रक्रिया में कोई दोष नही हो सकता, क्योकि यह न्यायवाक्य पहले क्रम के उत्तम-सयोग 'दारीई' के रूप में है। इसकी असत्यता का कारण इस नये न्याय-वाक्य के विधेयवाक्य में भी नही है, क्योकि यह मूल-न्यायवाक्य से ही लिया गया है। अत, इसके (=नये निष्कर्ष के) असत्य होने का कारण इस नये न्यायवाक्य के उद्देशवाक्य का ही असत्य होना है। जब यह असत्य हुआ तब इसका विरुद्ध-रूप—मूल निष्कर्ष-वाक्य—अवश्य सत्य होगा। इससे सिद्ध हुआ कि मूल न्यायवाक्य प्रामाणिक है।

(३) फेस्टीनो

'ए'—कोई 'वि' 'हे' नही है,
'ई'—कुछ 'उ' 'हे' है,
. 'ओ'—कुछ 'उ' 'वि' नही है।

यदि यह निष्कर्ष सत्य नही है, तो इसका विरुद्ध रूप "सभी 'उ' 'वि' है" अवश्य सत्य होगा । इस वाक्य को मूल विधेयवाक्य के साथ मिला कर पहले क्रम मे एक नया न्यायवाक्य बनावे—

'ए'—कोई 'वि' 'हे' नही है, (मूल विधेयवाक्य)
'आ'—सभी 'उ' 'वि' है, (मूल निष्कर्ष का विरुद्ध)
∴ 'ए'—कोई 'उ' 'हे' नही है। (नया निष्कर्ष)

यह नया न्यायवाक्य पहले क्रम के उत्तम-सयोग 'केलारेण्ट्' के रूप म है, क्योकि इसमे 'वि' हेतुपद का काम करता है।

यह नया निष्कर्ष मूल उद्देशवाक्य का विरुद्ध रूप है, अत अवश्य असत्य होगा। इसकी असत्यता का कारण क्या है ? अनुमान की प्रक्रिया मे कोई दोष नही हो सकता, क्योकि यह न्यायवाक्य पहले क्रम के उत्तम-सयोग 'केलारेण्ट्' के रूप मे है। इसकी असत्यता का कारण इस नये न्यायवाक्य के विधेयवाक्य मे भी नही है, क्योकि यह तो मूल न्यायवाक्य से ही लिया गया है। अत, इसके (=नये निष्कर्ष के) असत्य होने का कारण इस नये न्यायवाक्य के उद्देशवाक्य का ही असत्य होना है। जब यह असत्य हुआ तब इसका विरुद्ध रूप—मूल निष्कर्ष—अवश्य सत्य होगा। इससे सिद्ध हुआ कि मूल न्यायवाक्य प्रामाणिक है।

(४) बारोको

'आ'—सभी 'वि' 'हे' है,	सभी 'घोड़े' 'चतुष्पद' है,
'ओ'—कुछ 'उ' 'हे' नही है,	कुछ 'प्राणी' 'चतुष्पद' नही है,
∴ 'ओ'—कुछ 'उ' 'वि' नही है।	∴ कुछ 'प्राणी' 'घोड़े' नही है।

यदि यह निष्कर्ष सत्य नही है, तो इसका विरुद्ध रूप 'सभी उ वि है' अथवा 'सभी प्राणी घोड़े है' अवश्य सत्य होगा। इसको मूल विधेयवाक्य के साश मिला कर पहले क्रम मे एक नया न्यायवाक्य वनावे—

'आ'—सभी 'वि' 'हे' है, सभी 'घोडे' 'चतुष्पद' है,
'आ'—सभी 'उ' 'वि' है, सभी 'प्राणी' 'घोडे' है,
आ'—सभी 'उ' 'हे' है। सभी 'प्राणी' 'चतुष्पद' है।

यह नया न्यायवाक्य पहले क्रम के उत्तम-सयोग 'बार्बारा' के रूप में है, क्योकि इसमें 'वि' हेतुपद का काम करता है।

यह नया निष्कर्ष मूल उद्देशवाक्य का विरुद्ध रूप है, अत अवश्य असत्य होगा। इसकी असत्यता का कारण क्या है ? अनुमान की प्रक्रिया मे कोई दोष नही हो सकता, क्योकि यह न्यायवाक्य पहले क्रम के उत्तम-सयोग 'बार्बारा' के रूप में है। इसकी असत्यता का कारण इस नये न्याय-वाक्य के विधेयवाक्य मे भी नही है, क्योकि यह तो मूल न्यायवाक्य से ही लिया गया है। अत, इसके (=नये निष्कर्ष के) असत्य होने का कारण इस नये न्यायवाक्य के उद्देशवाक्य का ही असत्य होना है। जब यह असत्य हुआ तब इसका विरुद्ध रूप—मूल निष्कर्ष—अवश्य सत्य होगा। इससे सिद्ध हुआ कि मूल न्यायवाक्य प्रामाणिक है।

२. तीसरे क्रम के संयोगों का रूपान्तर

(१) दाराप्ती

'आ'—सभी 'हे' 'वि' है,
'आ'—सभी 'हे' 'उ' है,
∴ 'ई'—कुछ 'उ' 'वि' है।

यदि यह निष्कर्ष सत्य नही है, तो इसका विरुद्ध रूप 'कोई उ वि नही है' अवश्य सत्य होगा। इस वाक्य को मूल उद्देशवाक्य के साथ मिला कर पहले क्रम में एक नया न्यायवाक्य बनावे—

'ए'— कोई 'उ' 'वि' नही है, (मूल निष्कर्ष का विरुद्ध)
'आ'—सभी 'हे' 'उ' है, (मूल उद्देशवाक्य)
∴ 'ए'— कोई 'हे' 'वि' नही है। (नया निष्कर्ष)

यह नया न्यायवाक्य पहले क्रम के उत्तम-सयोग 'केलारेण्ट्' के रूप मे है, क्योकि यहां 'उ' हेतुपद का काम करता है।

यह नया निष्कर्ष मूल विधेयवाक्य का 'भेदक' होने के कारण अवश्य असत्य होगा। इसकी असत्यता का कारण क्या है ? अनुमान की प्रक्रिया मे कोई दोष नही हो सकता, क्योकि यह न्यायवाक्य पहले क्रम के उत्तम-संयोग 'केलारेण्ट्' के रूप मे है। इसकी असत्यता का कारण इस नये न्यायवाक्य के उद्देशवाक्य मे भी नही है, क्योकि यह तो मूल न्यायवाक्य से ही लिया गया है। अत. इसके (=नये निष्कर्ष के) असत्य होने का कारण इस नये न्यायवाक्य के विधेयवाक्य का ही असत्य होना है। जब यह असत्य हुआ तव इसका विरुद्ध रूप—मूल निष्कर्ष—अवश्य सत्य होगा। इससे सिद्ध हुआ कि मूल न्यायवाक्य प्रामाणिक है।

(२) दीसामीस्

'ई'— कुछ 'हे' 'वि' है,
'आ'—सभी 'हे' 'उ' है,
.˙. 'ई'— कुछ 'उ' 'वि' है।

यदि यह निष्कर्ष सत्य नही है तो इसका विरुद्ध रूप 'कोई 'उ' 'वि' नही है' अवश्य सत्य होगा। इस वाक्य को मूल उद्देशवाक्य के साथ मिला कर पहले क्रम मे एक नया न्यायवाक्य बनावें—

'ए'— कोई 'उ' 'वि' नही है, (मूल निष्कर्ष का विरुद्ध)
'आ'—सभी 'हे' 'उ' है, (मूल उद्देशवाक्य)
.˙. 'ए'— कोई 'हे' 'वि' नही है। (नया निष्कर्ष)

यह नया न्यायवाक्य पहले क्रम के उत्तम-सयोग 'केलारेण्ट्' के रूप में है, क्योकि यहां 'उ' हेतुपद का काम करता है।

यह नया निष्कर्ष मूल विधेयवाक्य का विरुद्ध रूप है, अत. अवश्य असत्य होगा।. . .इसके असत्य होने का कारण इस नये न्यायवाक्य

के विधेयवाक्य का ही असत्य होना है। जब यह असत्य हुआ तब इसका विरुद्ध रूप—मूल निष्कर्ष—अवश्य सत्य होगा। इससे सिद्ध हुआ कि मूलन्यायवाक्य प्रामाणिक है।

(३) दातीसी

'आ'—सभी 'हे' 'वि' है,
'ई'— कुछ 'हे' 'उ' है,
∴ 'ई'— कुछ 'उ' 'वि' है।

यदि यह निष्कर्ष सत्य नही है तो इसका विरुद्ध रूप 'कोई 'उ' 'वि' नही है' अवश्य सत्य होगा। इस वाक्य को मूल उद्देशवाक्य के साथ मिला कर पहले क्रम मे एक नया न्यायवाक्य बनावे—

'ए'— कोई 'उ' 'वि' नही है, (मूल निष्कर्ष का विरुद्ध)
'ई'— कुछ 'हे' 'उ' है, (मूल उद्देशवाक्य)
'ओ'—कुछ 'हे' 'वि' नही है। (नया निष्कर्ष)

यह नया न्यायवाक्य पहले क्रम के उत्तम सयोग 'फेरीओ' के रूप में है, क्योकि यहा 'उ' हेतुपद का काम करता है।

यह नया निष्कर्ष मूल विधेयवाक्य का विरुद्ध रूप है, अत अवश्य असत्य होगा। . इसके असत्य होने का कारण इस नये न्यायवाक्य के विधेयवाक्य का ही असत्य होना है। जब यह असत्य हुआ तब इसका विरुद्ध रूप—मूल निष्कर्ष—अवश्य सत्य होगा। इससे सिद्ध हुआ कि मूल न्यायवाक्य प्रामाणिक है।

(४) फेलाप्तोन्

'ए'— कोई 'हे' 'वि' नही है,
'आ'—सभी 'हे' 'उ' है,
∴ 'ओ'—कुछ 'उ' 'वि' नही है।

यदि यह निष्कर्ष सत्य नही है, तो इसका विरुद्ध रूप 'सभी उ वि है' अवश्य सत्य होगा। इस वाक्य के साथ मूल उद्देशवाक्य को मिला कर पहले क्रम मे एक नया न्यायवाक्य बनावे—

'आ'—सभी 'उ' 'वि' है, (मूल निष्कर्ष का विरुद्ध)
'आ'—सभी 'हे' 'उ' है, (मूल उद्देशवाक्य)
∴ 'आ'—सभी 'हे' 'वि' है। (नया निष्कर्ष)

यह नया न्यायवाक्य पहले क्रम के उत्तम संयोग 'बार्बारा' के रूप मे है, क्योकि यहा 'उ' हेतुपद का काम करता है।

यह नया निष्कर्ष मूल विधेयवाक्य का विरुद्ध रूप है, अत. अवश्य असत्य होगा।....इसके असत्य होने का कारण इस नये न्यायवाक्य के विधेयवाक्य का ही असत्य होना है। जब यह असत्य हुआ तब इसका विरुद्ध रूप—मूल निष्कर्ष—अवश्य सत्य होगा। इससे सिद्ध हुआ कि मूल न्यायवाक्य प्रामाणिक है।

(५) बोकार्डो

'ओ'—कुछ 'हे' 'वि' नही है,	कुछ 'मनुष्य' 'ज्ञानी' नही है,
'आ'—सभी 'हे' 'उ' है,	सभी 'मनुष्य' 'मरणशील' है,
∴ 'ओ'—कुछ 'उ' 'वि' नही है।	∴ कुछ 'मरणशील' 'ज्ञानी' नही है

यदि यह निष्कर्ष सत्य नही है, तो इसका विरुद्ध रूप 'सभी उ वि है' अथवा 'सभी मरणशील ज्ञानी है' अवश्य सत्य होगा। इस वाक्य के साथ मूल उद्देशवाक्य को मिला कर पहले क्रम मे एक नया न्यायवाक्य बनावें—

'आ'—सभी 'उ' 'वि' है,	सभी 'मरणशील' 'ज्ञानी' है,
'आ'—सभी 'हे' 'उ' है,	सभी 'मनुष्य' 'मरणशील' है,
∴ 'आ'—सभी 'हे' 'वि' है।	सभी 'मनुष्य' 'ज्ञानी' है।

बार्बारा

यह नया निष्कर्ष मूल विधेयवाक्य का विरुद्ध रूप है, अत· अवश्य असत्य होगा।.. .इसके असत्य होने का कारण इस नये न्यायवाक्य के विधेयवाक्य का ही असत्य होना है। जब यह असत्य हुआ तब इसका विरुद्ध रूप—मूल निष्कर्ष—अवश्य सत्य होगा। इससे सिद्ध हुआ कि मूल न्यायवाक्य प्रामाणिक है।

(६) फेरीसोन्

'ए'— कोई 'हे' 'वि' नही है,
'ई'— कुछ 'हे' 'उ' है,
∴ 'ओ'—कुछ 'उ' 'वि' नही है।

यदि यह निष्कर्ष सत्य नही है, तो इसका विरुद्ध रूप 'सभी उ वि हैं' सत्य होगा। इसके साथ मूल उद्देशवाक्य को मिला कर पहले क्रम में एक नया न्यायवाक्य बनावें—

'आ'—सभी 'उ' 'वि' है, (मूल निष्कर्ष का विरुद्ध)
'ई'— कुछ 'हे' 'उ' है, (मूल उद्देशवाक्य)
∴ 'ई'— कुछ 'हे' 'वि' है। (नया निष्कर्ष)

यह नया निष्कर्ष मूल विधेयवाक्य का विरुद्ध रूप है, अतः अवश्य असत्य होगा।... इसके असत्य होने का कारण इस नये न्यायवाक्य के विधेयवाक्य का ही असत्य होना है। जब यह असत्य हुआ तब इसका विरुद्ध रूप—मूल निष्कर्ष—अवश्य सत्य होगा। इससे सिद्ध हुआ कि मूल न्यायवाक्य प्रामाणिक है।

३. चौथे क्रम के संयोगों का रूपान्तर

(१) ब्रामान्तीप्

'आ'—सभी 'वि' 'हे' है,
'आ'—सभी 'हे' 'उ' है,

∴ 'ई'— कुछ 'उ' 'वि' है।

यदि यह निष्कर्ष असत्य है, तो इसका विरुद्ध रूप 'कोई उ वि नही है' अवश्य सत्य होगा। इसके साथ मूल उद्देशवाक्य को मिला कर पहले क्रम मे एक नया न्यायवाक्य बनावे—

'ए'— कोई 'उ' 'वि' नही है, (मूल निष्कर्ष का विरुद्ध)
'आ'—सभी 'हे' 'उ' है, (मूल उद्देश वाक्य)
∴ 'ए'— कोई 'हे' 'वि' नही है। (नया निष्कर्ष)
=व्यत्यस्त—कोई 'वि 'हे' नही है।

यह नया निष्कर्ष मूल विधेयवाक्य का 'भेदक' है, अतः अवश्य असत्य होगा।....इससे सिद्ध हुआ कि मूल न्यायवाक्य प्रामाणिक है।

(२) कामेनेस

'आ'—सभी 'वि' 'हे' है,
'ए'— कोई 'हे' 'उ' नही है,
∴ 'ए'— कोई 'उ' 'वि' नही है।

यदि यह निष्कर्ष असत्य है, तो इसका विरुद्ध रूप 'कुछ 'उ' 'वि' है' अवश्य सत्य होगा। मूल विधेयवाक्य के साथ इसे मिला कर पहले क्रम में एक नया न्यायवाक्य बनावे—

'आ'—सभी 'वि' 'हे' है, (मूल विधेय वाक्य)
'ई'— कुछ 'उ' 'वि' है, (मूल निष्कर्ष का विरुद्ध)
∴ 'ई'— कुछ 'उ' 'हे' है। (नया निष्कर्ष)
= व्यत्यस्त—कुछ 'हे' 'उ' है।

यह नया निष्कर्ष मूल उद्देशवाक्य का विरुद्ध रूप है, अतः अवश्य असत्य होगा।....इसके असत्य होने का कारण इस नये न्यायवाक्य के उद्देशवाक्य का ही असत्य होना है। जब यह असत्य हुआ तब इसका

विरुद्ध रूप—मूल निष्कर्ष—अवश्य सत्य होगा। इससे सिद्ध हुआ कि मूल न्यायवाक्य प्रामाणिक है।

(३) दीमारीस्

'ई'— कुछ 'वि' 'हे' है,
'आ'—सभी 'हे' 'उ' है,
∴ 'ई'— कुछ 'उ' 'वि' है।

यदि यह निष्कर्ष सत्य नही है तो इसका विरुद्ध रूप 'कोई उ वि नही है' अवश्य सत्य होगा। इसे विधेयवाक्य बना मूल उद्देशवाक्य के साथ पहले क्रम मे एक नया न्यायवाक्य बनावे—

'ए'— कोई 'उ' 'वि' नही है, (मूल निष्कर्ष का विरुद्ध)
'आ'—सभी 'हे' 'उ' है, (मूल उद्देशवाक्य)
∴ 'ए'— कोई 'हे' 'वि' नही है। (नया निष्कर्ष)
= व्यत्यस्त—कोई 'वि' 'हे' नही है।

यह नया निष्कर्ष मूल विधेयवाक्य का विरुद्ध रूप है, अत अवश्य असत्य होगा। इसके असत्य होने का कारण इस नये न्यायवाक्य के विधेयवाक्य का ही असत्य होना है। जब यह असत्य हुआ तब इसका विरुद्ध रूप—मूल निष्कर्ष—अवश्य सत्य होगा। इससे सिद्ध हुआ कि मूल न्यायवाक्य प्रामाणिक है।

(४) फेसापो

'ए'— कोई 'वि' 'हे' नही है,
'आ'—सभी 'हे' 'उ' है,
∴ 'ओ'—कुछ 'उ' 'वि' नही है।

यदि यह निष्कर्ष सत्य नही है तो इसका विरुद्ध रूप 'सभी उ वि है' अवश्य सत्य होगा। इसे विधेयवाक्य बना मूल उद्देशवाक्य के साथ पहले क्रम मे एक नया न्यायवाक्य बनावे—

आ—सभी प वि हैं, (मूल निष्कर्ष का विरुद्ध)
आ—सभी हे प हैं, (मूल उद्देश्यवाक्य)
∴ आ—सभी हे वि हैं। (नया निष्कर्ष)
= व्यत्यस्त—कुछ वि हे हैं।

यह नया निष्कर्ष मूल विधेयवाक्य का विरुद्ध रूप है, अतः अवश्य असत्य होगा।....इसके असत्य होने का कारण इस नये न्यायवाक्य में विधेयवाक्य का ही असत्य होना है। जब यह असत्य हुआ तब इसका विरुद्ध रूप—मूल निष्कर्ष—अवश्य सत्य होगा। इससे सिद्ध हुआ कि मूल न्यायवाक्य प्रामाणिक है।

(५) फ़ेरीसोन्

ए—कोई वि हे नहीं है,
ई—कुछ हे प हैं,
∴ ओ—कुछ प वि नहीं है।

यदि यह निष्कर्ष सत्य नहीं है तो इसका विरुद्ध रूप 'सभी प वि हैं' अवश्य सत्य होगा। इसे विधेयवाक्य तथा मूल उद्देश्यवाक्य के साथ पहले रूप में एक नया न्यायवाक्य बनावें—

आ—सभी प वि हैं, (मूल निष्कर्ष का विरुद्ध)
ई—कुछ हे प हैं, (मूल उद्देश्यवाक्य)
∴ ई—कुछ हे वि हैं। (नया निष्कर्ष)
= व्यत्यस्त—कुछ वि हे हैं।

यह नया न्यायवाक्य पहले रूप के उपसंयोग 'दारीई' के रूप में है, क्योंकि इसमें प हेतुपद का काम करता है।

यह नया निष्कर्ष मूल विधेयवाक्य का विरुद्ध रूप है, अतः अवश्य असत्य होगा। इसकी असत्यता का कारण क्या है? अनुमान की प्रक्रिया

(२) 'कामेनेस्' को छोड़, तीसरे और चौथे क्रमो के सभी सयोगो को प्रतिलोम विधि से रूपान्तर करने मे उनके निष्कर्ष के विरुद्ध रूप को नये न्यायवाक्य मे विधेयवाक्य वनाते है।

(३) 'फेसांपो' और 'फ्रेसीसोन्' को प्रतिलोम विधि से रूपान्तर करने मे उनके निष्कर्ष के विरुद्ध रूप को नये न्यायवाक्य मे चाहे तो उद्देश-वाक्य भी और चाहे तो विधेयवाक्य भी वना सकते है।

§ १९—'आवश्यकमात्र'[1] और 'आवश्यकाधिक'[2] न्यायवाक्य

सिद्ध न्यायवाक्य मे हेतुपद कम से कम एक बार अवश्य सर्वांशी होता है; और आधारवाक्य मे बिना सर्वांशी हुए कोई पद निष्कर्ष मे सर्वांशी नही हो सकता। इतनी बात कम से कम अवश्य होनी चाहिए।

जिस न्यायवाक्य में इतनी ही बात पूरी हुई हो, अर्थात् हेतुपद केवल एक ही बार सर्वांशी हो और आधारवाक्य में कोई पद सर्वांशी न हो जो निष्कर्ष में सर्वांशी न हुआ हो, उसे 'आवश्यक मात्र' न्यायवाक्य कहते है। यदि न्यायवाक्य के दोनो आधारवाक्यो मे हेतुपद सर्वांशी हो, अथवा उनमे कोई ऐसा पद सर्वांशी हो जो निष्कर्ष मे सर्वांशी न हुआ हो, तो उसे 'आवश्यकाधिक' न्यायवाक्य कहते है।

अर्थात्, जिस न्यायवाक्य के आधारवाक्यों मे कोई पद अनावश्यक सर्वांशी न हुआ हो उसे 'आवश्यकमात्र' न्यायवाक्य कहते है। जिस न्यायवाक्य के आधारवाक्यो मे कोई ऐसा पद भी सर्वांशी हो गया हो जो उस (न्यायवाक्य) की सिद्धि के लिए आवश्यक न था उसे 'आवश्यकाधिक' न्यायवाक्य कहते है।

अब, यदि सभी १६ सिद्ध-न्यायवाक्य-सयोगो की परीक्षा करे तो

---

[1] Fundamental.   [2] Non-fundamental Syllogism.

हम देखेंगे कि कुल १९ सिद्ध न्यायवाक्यो मे केवल पाँच ऐसे हैं जिनके निष्कर्ष सामान्य है—बार्बारा, केलारेण्ट्, केसारे, कामेस्ट्रेस् और कामेनेस्। इन 'असंद' न्यायवाक्यो के निष्कर्ष को यदि 'विशेष' रूप दे दें तो ये ही 'मंद न्यायवाक्य' हो जायेगे; जैसे—

बार्बारी, केलारोण्ट्, केसारो, कामेस्ट्रोस् और कामेनोस।

तीसरे क्रम के न्यायवाक्यो मे निष्कर्ष बराबर 'विशेष' होते है, अतः उन्हे 'मंद' करने की बात ही नही उठती।

§ २१—'सबल'[1] और 'यथाबल'[2] न्यायवाक्य

जहां किसी 'विशेष' वाक्य के आधार पर ही कोई निष्कर्ष निकल सकता हो, वहां यदि उसका सामान्य रूप दे दिया गया हो, तो उस न्यायवाक्य को **सबल न्यायवाक्य** कहते हैं। अर्थात्, 'सबल न्यायवाक्य' वह है जिसका कोई आधारवाक्य आवश्यकता से अधिक बल वाला हो। जैसे—

दाराप्ती
'आ'—सभी 'हे' 'वि' है,
'आ'—सभी 'हे' 'उ' है,
∴ 'ई'—कुछ 'उ' 'वि' है।

यहा, यदि विधेयवाक्य 'सामान्य' न हो कर 'विशेष' होता, तो भी यही निष्कर्ष निकलता। जैसे—

'ई'—कुछ 'हे' 'वि' है,
'आ'—सभी 'हे' 'उ' है,
∴ 'ई'—कुछ 'उ' 'वि' है। दीसामीस्

और, विधेयवाक्य को विशेष न बना कर उद्देशवाक्य को विशेष बनावे तो भी वही निष्कर्ष निकलेगा। जैसे—

---

[1] Strengthened. [2] Non-strengthened Syllogism.

'आ'—सभी 'हे' 'वि' है,
'ई'—कुछ 'हे' 'उ' है,
∴ 'ई'—कुछ 'उ' 'वि' है। दातीसी

इतने से यह स्पष्ट मालूम होगा कि जितने 'आवश्यकाधिक' न्याय-वाक्य हे (अर्थात् दाराप्ती, फेलाप्तोन्, ब्रामान्तीप् और फेसापो)। सभी 'सबल' है। इन चारो के अलावा सभी 'मद' न्यायवाक्य भी, केवल 'कामेनोस' (४था क्रम) को छोड, 'सबल' है। 'कामेनोस' सबल न्यायवाक्य नही है, क्योकि इसका कोई आधारवाक्य आवश्यकता से अधिक बल वाला नही है। इसके किसी आधारवाक्य को यदि सामान्य से विशेष कर दें तो कोई निष्कर्ष नही निकलेगा।

§ २२—शुद्ध हेतुफलाश्रित न्याय वाक्य[१]

अभी तक हम 'शुद्ध निरपेक्ष न्यायवाक्यो' पर विचार करते रहे, जिनमे तीनो अवयव 'निरपेक्ष वाक्य' ही है। इसी तरह, न्यायवाक्य के तीनो अवयव 'हेतुफलाश्रित वाक्य' भी हो सकते है, और तब उसे 'शुद्ध-हेतुफलाश्रित-न्यायवाक्य' कहेगे।

ऊपर हम देख चुके है कि हेतुफलाश्रित वाक्य के भी 'गुण' और 'अश' के भेद से वही चार रूप होते है जो निरपेक्ष वाक्य के। हेतुफलाश्रित वाक्य का 'गुण' इसके 'फल' के गुण के, और इसका 'अश' इसके 'हेतु' के अश के अनुसार होता है। जैसे—

'आ'—(१) यदि 'क' 'ख' है, तो 'ग' 'घ' है।
(२) यदि 'क' 'ख' नही है, तो 'ग' 'घ' है।
(३) यदि 'क' 'ख' है, तो कुछ 'ग' 'घ' है।
(४) यदि 'क' 'ख' नही है, तो कुछ 'ग' 'घ' है।

---

[१] Pure Hypothetical Syllogism.

(२) केवल पहले क्रम में ही 'आ' वाक्य निष्कर्ष हो सकता है[1]

सिद्धि—यदि निष्कर्ष 'आ' हो, तो दोनो आधारवाक्य भी अवश्य 'आ' होगे। क्योकि, निष्कर्ष के विधानात्मक होने के कारण दोनो आधार-वाक्य भी अवश्य विधानात्मक होगे; और निष्कर्ष के सामान्य होने के कारण दोनो आधारवाक्य भी अवश्य सामान्य होगे।

'आ' निष्कर्ष-वाक्य मे 'उ' सर्वांशी है; इसे उद्देशवाक्य मे भी सर्वांशी होना आवश्यक है। अत', यहाँ उद्देशवाक्य का उद्देशपद ही 'उ' होगा, क्योकि इसमें केवल वही सर्वांशी है। विधेयवाक्य का उद्देशपद जो सर्वांशी है अवश्य 'हे' होगा। तव, विधेयवाक्य का विधेयपद 'वि' होगा; और उद्देशवाक्य का विधेयपद 'हे' होगा। इस तरह, इस न्याय-वाक्य में क्रम होगा—

हे—वि
उ—हे

यह पहला क्रम है।

(३) पहले क्रम में आधारवाक्य 'ओ' नहीं हो सकता[2]

सिद्धि—पहले क्रम में 'हे' विधेयवाक्य मे उद्देश, और उद्देशवाक्य मे विधेय होता है।

यदि विधेयवाक्य 'ओ' हो, तो उद्देशवाक्य अवश्य 'आ' होगा : क्योकि, दोनो आधारवाक्य न तो निषेधात्मक हो सकते है और न विशेष। विधेय-वाक्य 'ओ' और उद्देशवाक्य 'आ' होने से यहा 'हे' को एक बार भी सर्वांशी होने का अवसर नही मिलेगा। अत कोई निष्कर्ष नही निकल सकेगा।

---

[1] The first figure alone can prove the proposition. 'A' [2] The proposition O cannot be a premise in the 1st figure.

(२) केवल पहले क्रम में ही 'आ' वाक्य निष्कर्ष हो सकता है[1]

सिद्धि—यदि निष्कर्ष 'आ' हो, तो दोनो आधारवाक्य भी अवश्य 'आ' होंगे। क्योंकि, निष्कर्ष के विधानात्मक होने के कारण दोनो आधारवाक्य भी अवश्य विधानात्मक होंगे; और निष्कर्ष के सामान्य होने के कारण दोनो आधारवाक्य भी अवश्य सामान्य होंगे।

'आ' निष्कर्ष-वाक्य मे 'उ' सर्वांशी है; इसे उद्देशवाक्य मे भी सर्वांशी होना आवश्यक है। अत, यहाँ उद्देशवाक्य का उद्देशपद ही 'उ' होगा, क्योंकि इसमे केवल वही सर्वांशी है। विधेयवाक्य का उद्देशपद जो सर्वांशी है अवश्य 'हे' होगा। तब, विधेयवाक्य का विधेयपद 'वि' होगा; और उद्देशवाक्य का विधेयपद 'हे' होगा। इस तरह, इस न्याय-वाक्य मे क्रम होगा—

हे—वि
उ—हे

यह पहला क्रम है।

(३) पहले क्रम में आधारवाक्य 'ओ' नहीं हो सकता[2]

सिद्धि—पहले क्रम मे 'हे' विधेयवाक्य मे उद्देश, और उद्देशवाक्य मे विधेय होता है।

यदि विधेयवाक्य 'ओ' हो, तो उद्देशवाक्य अवश्य 'आ' होगा : क्योंकि, दोनो आधारवाक्य न तो निषेधात्मक हो सकते है और न विशेष। विधेय-वाक्य 'ओ' और उद्देशवाक्य 'आ' होने से यहा 'हे' को एक बार भी सर्वांशी होने का अवसर नही मिलेगा। अत कोई निष्कर्ष नही निकल सकेगा।

---

[1] The first figure alone can prove the proposition. 'A'

[2] The proposition O cannot be a premise in the 1st figure.

यदि उद्देशवाक्य 'ओ' हो, तो उक्त कारण से विधेयवाक्य अवश्य 'आ' होगा। और, निष्कर्षवाक्य 'ओ' होगा। निष्कर्षवाक्य निषेधात्मक होने के कारण उसमें 'वि' सर्वांशी होगा। उसे विधेयवाक्य में भी सर्वांशी होना आवश्यक होगा। किंतु यहां वह सर्वांशी नहीं है। अत, कोई निष्कर्ष नहीं निकल सकता।

इस तरह, सिद्ध हुआ कि पहले क्रम में आधारवाक्य 'ओ' नहीं हो सकता, न तो उद्देशवाक्य और न विधेयवाक्य।

(४) चौथे क्रम में आधारवाक्य 'ओ' नहीं हो सकता[1]

प्रमाण—चौथे क्रम में 'हे' विधेयवाक्य में विधेय, और उद्देशवाक्य में उद्देश होता है। यदि कोई भी आधारवाक्य 'ओ' हो तो दूसरा आधारवाक्य 'आ' होगा, और उनका निष्कर्ष 'ओ' होगा।

यदि विधेयवाक्य 'ओ' हो तो उसमें 'वि' सर्वांशी नहीं होने के कारण वह निष्कर्ष में भी सर्वांशी नहीं हो सकता। किंतु निष्कर्ष 'ओ' होने के कारण उसमें 'वि' सर्वांशी होना चाहिए। इस कारण, विधेयवाक्य 'ओ' नहीं हो सकता।

यदि उद्देशवाक्य 'ओ' हो तो उसमें 'हे' सर्वांशी नहीं होगा। तब, इसे विधेय वाक्य में सर्वांशी होना अवश्य चाहिए। किंतु विधेयवाक्य 'आ' होने के कारण इसमें भी 'हे' सर्वांशी नहीं हो सकता।

इससे सिद्ध हुआ कि चौथे क्रम में आधारवाक्य 'ओ' नहीं हो सकता।

(५) 'ओ' विधेयवाक्य केवल तीसरे क्रम में हो सकता है[2]

प्रमाण—(क) पहले क्रम में विधेयवाक्य 'ओ' नहीं हो सकता।

---

[1] The proposition O cannot be a premise in the fourth figure

[2] The proposition O can be the major premise only in the third figure.

पहले क्रम मे, 'हे' विधेयवाक्य मे उद्देश और उद्देशवाक्य मे विधेय होता है। अब, यदि विधेयवाक्य 'ओ' हो, तो उद्देशवाक्य 'आ' होगा। और तब इनमे किसी मे भी 'हे' सर्वांशी नही होगा। अतः इन से कोई निष्कर्ष नही निकल सकता।

(ख) दूसरे क्रम मे भी विधेयवाक्य 'ओ' नही हो सकता।

दूसरे क्रम मे, दोनों आधारवाक्यो मे 'हे' विधेय होता है। अतः, यदि विधेयवाक्य 'ओ' हो तो इसमे 'वि' सर्वांशी नही होगा। किंतु, एक आधारवाक्य के निषेधात्मक होने के कारण निष्कर्ष भी निषेधात्मक होगा, और उसमे 'वि' सर्वांशी होना चाहिए। इस तरह 'अनुचित विधेय' दोष हो जाता है। कोई निष्कर्ष नही निकलेगा।

(ग) चौथे क्रम मे भी विधेयवाक्य 'ओ' नही हो सकता। चौथे क्रम मे, 'हे' विधेयवाक्य मे विधेय और उद्देशवाक्य में उद्देश होता है।

यदि विधेयवाक्य 'ओ' हो तो इसमे 'वि' सर्वांशी नही होगा। किंतु, एक आधारवाक्य के निषेधात्मक होने के कारण निष्कर्ष भी निषेधात्मक होगा, और उसमे 'वि' सर्वांशी होना चाहिए। इस तरह, 'अनुचित विधेय दोष' हो जाता है। कोई निष्कर्ष नही निकलेगा।

(घ) तीसरे क्रम मे विधेयवाक्य 'ओ' हो सकता है।

तीसरे क्रम मे, 'हे' दोनो आधारवाक्यो मे उद्देश होता है। यदि विधेयवाक्य 'ओ' हो तो इसमे 'वि' सर्वांशी होगा; और निषेधात्मक निष्कर्ष मे 'अनुचित विधेय' दोष होने का प्रसग नही आवेगा। फिर, विधेयवाक्य 'ओ' होने से उद्देशवाक्य 'आ' होगा, जिसमे 'हे' उद्देश होने के कारण सर्वांशी होगा। इस तरह, न तो 'अनुचित विधेय' का और न 'असर्वांशी हेतु' का दोष होगा। इनके आधार पर जो निष्कर्ष निकलेगा वह 'ओ' वाक्य होगा।

(६) दूसरे क्रम को छोड, और किसी भी क्रम में 'ओ' उद्देशवाक्य नही हो सकता।[1]

प्रमाण—(क) पहले क्रम मे 'ओ' उद्देशवाक्य नही हो सकता, क्योंकि, जसा ऊपर देख चुके है, इससे 'अनुचित विधेय' का दोप हो जायगा।

(ख) तीसरे क्रम में यदि 'ओ' उद्देशवाक्य हो, तो विधेयवाक्य 'आ' और निष्कर्ष वाक्य 'ओ' होगा। तब, निष्कर्प मे 'वि' सर्वांशी होगा, और उसे विधेयवाक्य में भी सर्वांशी होना चाहिए। किंतु यहा 'आ' विधेयवाक्य मे 'वि' विधेय होने के कारण सर्वांशी नही है। इस तरह, 'अनुचित विधेय' का दोष उपस्थित होता है।

(ग) चौथे क्रम मे यदि 'ओ' उद्देशवाक्य हो, तो विधेयवाक्य 'आ' होगा। तब, इस क्रम मे 'हे' न तो विधेयवाक्य मे सर्वांशी होगा और न उद्देशवाक्य मे। 'असर्वांशी हेतु' दोप आ जाने के कारण कोई निष्कर्ष नही निकलेगा।

(घ) दूसरे क्रम मे 'ओ' उद्देशवाक्य हो सकता है। उद्देशवाक्य 'ओ' होने से विधेयवाक्य 'आ' और निष्कर्पवाक्य 'ओ' होगा। निष्कर्प मे 'वि' सर्वांशी है, और वह विधेयवाक्य में भी है (क्योकि, यहाँ 'वि' विधेयवाक्य का उद्देश है, जो सर्वांशी है)। फिर, 'हे' उद्देशवाक्य मे निषेधात्मवाक्य के विधेय होने के कारण सर्वांशी है। इस तरह, इसके आधार पर निर्दोष निष्कर्ष निकल सकता है।

(७) सभी क्रमो में, उद्देशवाक्य निषेधात्मक होने से विधेयवाक्य अवश्य सामान्य होगा।[2]

---

[1] The preposition O cannot be a minor premise, in any other figure but the second

[2] In every figure, if the minor premise be negative, the major must be universal

उद्देशवाक्य निषेधात्मक हो तो विधेयवाक्य अवश्य विधानात्मक होगा। और, उनका निष्कर्ष निषेधात्मक होगा। निषेधात्मक निष्कर्ष में 'वि' सर्वांशी होगा। उसे विधेयवाक्य मे भी सर्वांशी होना चाहिए।

चूकि यहा विधेयवाक्य विधानात्मक है, इसमे सर्वांशी 'वि' विधेय न होकर उद्देश ही होगा। और, उद्देश के सर्वांशी होने का अर्थ है उस वाक्य का सामान्य होना।

(८) यदि 'हे' दोनों आधारवाक्यों में सर्वांशी हो, तो निष्कर्ष सामान्य नही हो सकता।[1]

यदि निष्कर्ष सामान्य हो, तो वह या तो विधानात्मक होगा या निषेधात्मक, या तो 'आ' या 'ए'।

यदि निष्कर्ष 'आ' हो तो दोनो आधारवाक्य भी 'आ' होगे। क्योकि एक भी आधारवाक्य के 'विशेष' होने से निष्कर्ष विशेष होता, और एक भी आधारवाक्य के निषेधात्मक होने से निष्कर्ष निषेधात्मक होता। निष्कर्ष 'आ' होने से उसमे 'उ' सर्वांशी होगा, और उसे आधारवाक्य मे भी सर्वांशी होना चाहिए। किंतु इन दो आधारवाक्यो के जो उद्देश सर्वांशी है वे तो 'हे' है; अत 'उ' उनमे सर्वांशी नही है। निष्कर्ष मे भी 'उ' सर्वांशी नही हो सकता। अर्थात्, निष्कर्ष सामान्य नही होगा।

यदि निष्कर्ष 'ए' हो तो उसमे 'उ' और 'वि' दोनो सर्वांशी होगे, और आधारवाक्यो मे भी उन्हे सर्वांशी होना चाहिए। फिर, निष्कर्ष 'ए' होने से एक आधारवाक्य अवश्य 'ए' होगा और दूसरा 'आ'। क्योकि, एक भी आधारवाक्य के विशेष होने से निष्कर्ष विशेष होता, और दोनो के निषेधात्मक होने से कोई निष्कर्ष ही नही निकलता। इस तरह,

---

[1] If the middle term be distributed in both the premises the conclusion cannot be universal.

आधारवाक्यो मे केवल तीन ही पद सर्वांशी हो सकेगे। इनमे दो 'हे' होगे, तो एक 'वि' होगा क्योकि निष्कर्ष निषेधात्मक है। तव 'उ' को सर्वांशी होना सम्भव नही रहता। निष्कर्ष मे भी 'उ' सर्वांशी नही होगा। अर्थात् वह वाक्य सामान्य नहीं होगा।

(६) यदि आधारवाक्य में 'उ' विधेय हो, तो निष्कर्ष कदापि 'आ' नहीं हो सकता।

या तो 'उ' सर्वांशी है या नही। यदि 'उ' सर्वांशी हो, तो उद्देशवाक्य निषेधात्मक होगा। तव निष्कर्ष भी निषेधात्मक होगा। अत यह 'आ' नही हो सकता।

यदि आधारवाक्य मे 'उ' सर्वांशी न हो, तो निष्कर्ष मे भी वह नही होगा। अर्थात् निष्कर्ष सामान्य नही होगा। अत यह 'आ' नहीं हो सकता।

(१०) विधेयवाक्य में 'वि' यदि विधेय हो तो उद्देशवाक्य अवश्य विधानात्मक होगा।

विधेयवाक्य मे 'वि' या तो सर्वांशी है या नहीं। यदि सर्वांशी हो तो वह वाक्य निषेधात्मक होगा। तव, उद्देशवाक्य को अवश्य विधानात्मक होना चाहिए, क्योकि दो निषेधात्मक वाक्यो से कोई निष्कर्ष नही निकलता।

यदि विधेयवाक्य मे 'वि' सर्वांशी न हो, तो यह निष्कर्ष में भी सर्वांशी नहीं हो सकता। अर्थात् निष्कर्ष विधानात्मक होगा। निष्कर्ष विधानात्मक होने का अर्थ है कि इसके दोनो आधारवाक्य भी अवश्य विधानात्मक होगे। अत उद्देशवाक्य विधानात्मक ही हुआ।

निगमन विधि

दूसरा भाग

(परंपरानुमान)

न्यायवाक्य

(ख. मिश्र[1])

§ १—हेतुफलाश्रित-निरपेक्ष न्यायवाक्य[2]

हेतुफलाश्रित-निरपेक्ष-न्यायवाक्य मिश्र-न्यायवाक्य का वह रूप है जिसका विधेयवाक्य हेतुफलाश्रित, और उद्देशवाक्य तथा निष्कर्षवाक्य निरपेक्ष होते है। हेतु और फल का जो परस्पर सम्वन्ध है, वही इस न्यायवाक्य की सिद्धि का आधार है। इस 'सम्वन्ध' मे दो नियम काम करते है—

(१) हेतु के विधान से फल का विधान कर सकते है, किंतु फल के विधान से हेतु का विधान नही कर सकते। और,

(२) फल के निषेध से हेतु का निषेध कर सकते है, किंतु हेतु के निषेध से फल का निषेध नही कर सकते।

पहले प्रकार के न्यायवाक्य को विधायक[3] और दूसरे प्रकार के न्यायवाक्य को विघातक[4] कहते है।

---

[1] Mixed Syllogism. [2] Hypothetical-categorical Syllogism. [3] Modus Ponens (Constructive). [4] Modus Tollens (Destructive).

(क) विधायक हेतुफलाश्रित-निरपेक्ष न्यायवाक्य

इस न्यायवाक्य का विधेयवाक्य हेतुफलाश्रित होता है इसका उद्देशवाक्य हेतु का निरपेक्ष विधान करता है और, इसका निष्कर्ष-वाक्य 'फल' का निरपेक्ष विधान करता है। जैसे—

१ यदि 'क' 'ख' है, तो 'ग' 'घ' है,
'क' 'ख' है,
'ग' 'घ' है।

यदि दीया जलता है, तो प्रकाश होता है,
दीया जलता है,
प्रकाश होता है।

२ यदि 'क' 'ख' है, तो 'ग' 'घ' नही है,
'क' 'ख' है,
'ग' 'घ' नही है।

यदि चौकीदार जागता है, तो चोर नही आते है,
चौकीदार जागता है,
चोर नही आते है।

३ यदि 'क' 'ख' नही है, तो 'ग' 'घ' है,
'क' 'ख' नही है,
'ग' 'घ' है।

यदि कमरा अधेरा नही है, तो लडका जागता है
कमरा अधेरा नहीं है,
लडका जागता है।

४ यदि 'क' 'ख' नही है, तो 'ग' 'घ' नही है,
'क' 'ख' नही है,
'ग' 'घ' नही है।

यदि वृष्टि नही होती है, तो धान नही होता है;
वृष्टि नही होती है,
∴ धान नही होता हे।

(ख) विघातक[1] हेतुफलाश्रित-निरपेक्ष न्यायवाक्य

इस न्यायवाक्य का विधेयवाक्य हेतुफलाश्रित होता है: इसका उद्देशवाक्य 'फल' का निरपेक्ष निषेध करता है. और इसका निष्कर्ष-वाक्य 'हेतु' का निरपेक्ष निषेध करता है। जैसे—

१ यदि 'क' 'ख' है, तो 'ग' 'घ' है;
'ग' 'घ' नही है,
∴ 'क' 'ख' नही है।
यदि दीया जलता है, तो प्रकाश होना है;
प्रकाश नही होता है,
∴ दीया नही जलता है।

२ यदि 'क' 'ख' है, तो 'ग' 'घ' नही है;
'ग' 'घ' है,
∴ 'क' 'ख' नही है।
यदि चौकीदार जागता है, तो चोर नही आते है;
चोर आते है,
चौकीदार नही जागता है।

३ यदि 'क' 'ख' नही है, तो 'ग' 'घ' है,
'ग' 'घ' नही है,
∴ 'क' 'ख' है।
यदि कमरा अधेरा नही है, तो लडका जागता है;

[1] Destructive.

इस न्यायवाक्य को शुद्ध निरपेक्ष रूप मे ला कर भी इस दोष की परीक्षा कर सकते है। जैसे—

सभी 'विष खाने की अवस्थाये' 'मर जाने की अवस्थाये' है,
'यह' 'मर जाने की अवस्था' है,
∴ 'यह' 'विष खाने की अवस्था' है

इस न्यायवाक्य मे हेतुपद 'मर जाने की अवस्था' एक बार भी सर्वांगी नही है। अत. इनसे कोई निष्कर्ष नही निकल सकता। हेतुफलाश्रित-निरपेक्ष न्यायवाक्य का 'फल-विधान-दोष' वही चीज है जो शुद्ध निरपेक्ष न्यायवाक्य मे 'असर्वांशी-हेतु-दोप' है।

हेतु-निषेध दोष[1]—यदि किसी हेतुफलाश्रित वाक्य के हेतु का निषेध करके फल का निषेध करना चाहे तो यह नही हो सकता। जैसे—

यदि वह विष खाय, तो मर जाय;
उसने विष नही खाया,
∴ वह नही मरा।

यह न्यायवाक्य ठीक नही है। क्योकि विष न खाने पर भी वह दूसरे कारण से मर जा सकता है। इससे सिद्ध होता है कि हेतु का निषेध करके फल का निषेध करना सम्भव नही है। इस दोष को 'हेतु निषेध दोष' कहते है।

इस न्यायवाक्य को शुद्ध निरपेक्ष रूप मे ला कर भी इस दोष की परीक्षा कर सकने है। जैसे—

सभी 'विष खाने की अवस्थाये' 'मर जाने की अवस्थाये' है,
'यह' 'विष खाने की अवस्था' नही है,
∴ 'यह' 'मर जाने की अवस्था' नही है।

इस निष्कर्ष मे 'वि' सर्वांशी है, किंतु वह आधारवाक्य मे सर्वांशी

[1] Fallacy of denying the antecedent.

Deny any of the alternatives of the Disjunctive major premise in the minor premise and you can affirm the other alternative of the major premise in the conclusion

वाइबिल झूठी है।
या तो ईश्वर है, या बाइबिल झूठी है;
बाइबिल झूठी नहीं है,
ईश्वर है।

× × ×

युबर्वेग प्रभृति कुछ तर्कशास्त्रियों का विचार है कि इस न्यायवाक्य के उक्त नियम का प्रतिलोम भी सत्य है। यह कि, किसी वैकल्पिक विधेयवाक्य के एक विकल्प का यदि उद्देशवाक्य में विधान करें तो निष्कर्ष में उसके दूसरे विकल्प का निषेध कर सकते हैं। जैसे—

सांकेतिक

या तो 'क' 'ख' है, या 'ग' 'घ' है,
'क' 'ख' है,
∴ 'ग' 'घ' नहीं है।
या तो 'क' 'ख' है, या 'ग' 'घ' है,
'ग' घ' है
∴ 'क' 'ख' नहीं है।

वास्तविक

या तो ईश्वर है, या बाइबिल झूठी है,
ईश्वर है,
∴ बाइबिल झूठी नहीं है।
या तो ईश्वर है, या बाइबिल झूठी है,
बाइबिल झूठी है,
∴ ईश्वर नहीं है।

ऊपर देख चुके हैं कि यह दूसरा नियम तभी सत्य होता है जब वाक्य के दोनों विकल्प परस्पर विरुद्ध हों, भेदक नहीं। अत पहला ही नियम ऐसा है जो सभी वैकल्पिक-न्यायवाक्यों में सत्य ठहरता है।

(ग) निष्कर्षवाक्य—उद्देगवाक्य में हेतु का विधान होने से, यहां फलो का विधान होगा; और उसमे फलो का निषेध होने से, यहा हेतु का निषेध होगा। जैसे—

∴ या तो तुम मनुष्यो के अप्रिय बनोगे, या ईश्वर के,

अथवा

∴ या तो तुम सत्यवादी नही हो, या असत्यवादी नही हो।

* * *

१. मेण्डक-प्रयोग के रूप

मेण्डक प्रयोग का उद्देशवाक्य यदि विधेयवाक्य के दोनो हेतुफलाश्रित वाक्यो के हेतु का विधान करता हो, तो उसे विधायक मेण्डक-प्रयोग[1] कहते हैं। और, यदि उसका उद्देशवाक्य विधेयवाक्य के दोनो हेतुफलाश्रित वाक्यों के फलो का निषेध करता हो, तो उसे 'विघातक मेण्डक प्रयोग'[2] कहते हैं।

मेण्डक-प्रयोग का निष्कर्ष यदि निरपेक्षवाक्य हो तो उसे शुद्ध[3], और यदि वैकल्पिक वाक्य हो तो उसे 'युक्त'[4] कहते है।

इस तरह, मेण्डक-प्रयोग के 'विधायक' या 'विघातक' होने की बात उसके उद्देगवाक्य को देखने से मालूम होगा : और उसके 'शुद्ध' या 'युक्त' होने की बात उसके निष्कर्षवाक्य को देखने से मालूम होगा। इन दोनो विभागो को मिला देने से मेण्डक-प्रयोग चार प्रकार के हुए—

(१) शुद्ध-विधायक, (२) युक्त-विधायक, (३) शुद्ध-विघातक, और (४) युक्त-विघातक। इनके उदाहरण है—

---

[1] Constructive Dilemma.

[2] Destructive Dilemma.

[3] Simple Dilemma.

[4] Complex Dilemma.

(ख) युक्त-विधायक मेण्डक-प्रयोग[1]

विधेयवाक्य—यदि 'क' 'ख' है, तो 'ग' 'घ' है, और यदि 'च' 'छ' है, तो 'ज' 'झ' है :
उद्देशवाक्य—या तो 'क' 'ख' है, या 'च' 'छ' है;
निष्कर्ष ∴ या तो 'ग' 'घ' है, या 'ज' 'झ' है।

इस मेण्डक प्रयोग का प्रसिद्ध उदाहरण मुसलमानी सेनापति **उमर खलीफा** के उस दलील मे है जिससे उसने अलक्षेन्द्रिया के विख्यात पुस्तकालय को जला देने योग्य ठहरा कर जला दिया था। खलीफा ने पुस्तकाध्यक्ष से कहा—

विधेयवाक्य—यदि तुम्हारी किताबे कुरान के अनुकूल है, तो कुरान के रहते इनका कोई प्रयोजन नही; और यदि ये कुरान के प्रतिकूल है, तो पातक है,
उद्देशवाक्य—अब, तुम्हारी किताबे या तो कुरान के अनुकूल होगी, या उसके प्रतिकूल;
निष्कर्ष ∴ तुम्हारी किताबे या तो निष्प्रयोजन है, या पातक है।

(ग) शुद्ध-विघातक मेण्डक-प्रयोग[2]

विधेयवाक्य—यदि 'क' 'ख' है, तो 'ग' 'घ' है; और यदि 'क' 'ख' है, तो 'च' 'छ' है;
उद्देशवाक्य—या तो 'ग' 'घ' नही है, या 'च' 'छ' नही है;
निष्कर्ष—∴ 'क' 'ख' नही है।

विधेयवाक्य—यदि तुम्हे भोजन करना है, तो तुम्हे होटल जाना चाहिए; अथवा यदि तुम्हे भोजन करना है, तो तुम्हे आग जलाना चाहिए·

---

[1] Complex Constructive Dilemma.
[2] Simple Destructive Dilemma.

.˙. या तो 'ग' 'घ' है, या 'ज' 'झ' है।

प्रत्याख्यात रूप

यदि 'क' 'ख' है, तो 'ज' 'झ' नही है; और यदि 'च' 'छ' है, तो 'ग' 'घ' नही है :

या तो 'क' 'ख' है, या 'च' 'छ' है;

.˙. या तो 'ज' 'झ' नही है, या 'ग' 'घ' नही है।

यहा देखेगे कि प्रत्याख्यात रूप का निष्कर्ष प्रस्तुत रूप के निष्कर्ष का उलटा है। विधेयवाक्य मे फलो को उलट कर जो उनके गुण बदल दिए उसमे भी कोई असंगति नही दीख पडती। मियां की जूती मियां के सिर वाली कहावत की तरह, प्रस्तुत बात को उलट कर ऐसा रख दिया कि वह वक्ता के ही विरुद्ध हो गया। कुछ वास्तविक उदाहरण ले कर देखे—

प्रस्तुत मेण्डक-प्रयोग

यदि तुम्हारी किताबे कुरान के अनुकूल है, तो कुरान के रहते इनका कोई प्रयोजन नही; और यदि ये कुरान के प्रतिकूल है, तो पातक है .

अब, तुम्हारी किताबे या तो कुरान के अनुकूल होंगी, या उसके प्रतिकूल,

˙. तुम्हारी किताबे या तो निष्प्रयोजन है या पातक।

प्रत्याख्यात रूप

यदि हमारी किताबे कुरान के अनुकूल है, तो पातक नही है; और यदि ये कुरान के प्रतिकूल है, तो ये निष्प्रयोजन नही है,

अब, हमारी किताबें या तो कुरान के अनुकूल है, या उसके प्रतिकूल;

.˙. हमारी किताबें या तो पातक नही है, या निष्प्रयोजन नही है।

×　　×　　×

प्रस्तुत मेण्डक-प्रयोग

यदि तुम सचाई से काम करो, तो मनुष्य तुम्हे घृणा करेंगे, और यदि तुम बेईमानी से काम करो, तो देवता लोग तुम्हे घृणा करेंगे,

या तो तुम सचाई से काम करोगे, या बेइमानी से,

∴ या तो तुम्हे मनुष्य लोग घृणा करेंगे, या देवता लोग ।

यह दलील दे कर एथेन्स नगर की एक माता ने अपने पुत्र को देश-सेवा मे लगने से रोकने का प्रयत्न किया । पुत्र ने इसका प्रत्याख्यान इस प्रकार किया—

प्रत्याख्यात रूप

यदि मै सचाई से काम करू, तो देवता लोग मुझे प्रेम करेंगे, और यदि मै बेईमानी से काम करू तो मनुष्य लोग प्रेम करेंगे ।

या तो मै सचाई से काम करूगा, या बेईमानी से,

∴ या तो मुझे देवता लोग या मनुष्य लोग प्रेम करेंगे ।

× × ×

प्रस्तुत मेण्डक-प्रयोग

यदि कोई अविवाहित रहे, तो उसकी परवाह करने वाली कोई नही होती, और यदि विवाहित रहे, तो उसे स्त्री की परवाह करनी होती है,

अब, मनुष्य या तो विवाहित रहेगा, या अविवाहित,

∴ या तो उसकी परवाह करने वाली कोई नही होगी, या उसे स्त्री की परवाह करनी होगी (अर्थात् दोनो अवस्थाओ में उसे चैन नही) ।

प्रत्याख्यात रूप

यदि कोई अविवाहित रहे, तो उसे स्त्री की परवाह करनी नही होती; और यदि वह विवाहित रहे, तो उसकी स्त्री उसकी परवाह करती है,

अब, मनुष्य या तो विवाहित रहेगा, या अविवाहित,

या तो उसे स्त्री की परवाह करनी नही होती, या उसकी स्त्री उसकी परवाह करती है (अर्थात् दोनो अवस्थाओ मे उसे मौज है)।

× × ×

प्रसिद्ध युनानी दार्शनिक प्रोटेगोरस् ने युआथलस को इस शर्त पर वाक्-चातुरी सिखाना स्वीकार किया कि आधी फीस तो तत्काल दे दे, और शेष पहला मुकदमा जीतने पर। सीख चुकने के बाद युआथलस ने बहुत दिनो तक किसी मुकदमे मे बहस नही की, और फीस का शेष भाग नही दिया। प्रोटेगोरस् ने रुपये के लिए उस पर मुकदमा दायर किया। और, उसने उसके सामने यह मेण्डक-प्रश्न उपस्थित किया—

यदि तुम मुकदमा मे हार गये, तो कचहरी के हुक्म से तुम्हे रुपये देने होगे, और यदि तुम जीत गये, तो भी तुम्हे अपने शर्त से रुपये देने होगे।

उसके चतुर चेले ने उत्तर दिया—

यदि मै मुकदमा हार गया, तो अपने शर्त से रुपये नही दूगा; और यदि मै जीत गया, तो कचहरी के हुक्म से मुझे रुपये देने नही होगे।

* * *

३. मेण्डक-प्रयोग की शुद्धि[1]

शास्त्रीय विचार से वही मेण्डक-प्रयोग शुद्ध है जिसमे रूप-विषयक और विषय-विषयक दोनो प्रामाणिकता पाई जाय। इसके शास्त्रीय नियमो की पूर्ति हो जाना भर पर्याप्त नही है, इसे वस्तुतः यथार्थ भी होना चाहिए।

क. रूपविषयक शुद्धि[2]

मेण्डक-प्रयोग यथार्थ मे दो हेतुफलाश्रित-निरपेक्ष न्यायवाक्यो का सयुक्त रूप है। किसी भी मेण्डक-प्रयोग को तोड़ कर दो हेतुफलाश्रित-निरपेक्ष न्यायवाक्यो मे रख सकते है। जैसे—

---

[1] Correctness of a Dilemma.
[2] Formal Correctness of a Dilemma.

सांकेतिक उदाहरण

यदि 'क' 'ख' है, तो 'ग' 'घ' है, और यदि 'च' 'छ' है, तो 'ग' 'घ' है;
या तो 'क' 'ख' है, या 'च' 'छ' है,
∴ 'ग' 'घ' है।

इसके दो हेतुफलाश्रित-निरपेक्ष न्यायवाक्य इस प्रकार होगे—

(१) यदि 'क' 'ख' है, तो 'ग' 'घ' है,
(२) यदि 'च' 'छ' है, तो 'ग' 'घ' है,

'क' 'ख' है,	'च' 'छ' है,
∴ 'ग' 'घ' है।	∴ 'ग' 'घ' है।

वास्तविक उदाहरण

यदि कोई अपने मन से ही कुछ करता है, तो लोग उसकी टीका करते हैं; और यदि वह दूसरे के मन से कुछ करता है, तौ भी लोग उसकी टीका करते हैं;
कोई या तो अपने मन से ही कुछ करेगा, या दूसरे के मन से,
∴ (दोनो तरह) लोग उसकी टीका करते हैं।

इसके दो हेतुफलाश्रित-निरपेक्ष न्यायवाक्य इस प्रकार होगे—

(१) यदि कोई अपने मन से ही कुछ करता है, तो लोग उसकी टीका करते हैं;
कोई अपने मन से ही कुछ करता है;
∴ लोग उसकी टीका करते हैं।

(२) यदि कोई दूसरे के मन से कुछ करता है, तो लोग उसकी टीका करते हैं,
कोई दूसरे के मन से कुछ करता है;
∴ लोग उसकी टीका करते हैं।

इस तरह, मेण्डक-प्रयोग को दो हेतुफलाश्रित-निरपेक्ष न्यायवाक्यो में विभक्त कर उनकी परीक्षा करने से मालूम होता है कि वे दोनों निर्दोष है। दोनो मे हेतु का विधान करके फल का विधान किया गया है, जो बिलकुल नियमानुकूल है। अतः, इस मेण्डक-प्रयोग मे रूपविषयक कोई अशुद्धि नही है।

मेण्डक-प्रयोग की रूपविषयक शुद्धि या अशुद्धि की परीक्षा इसी तरह उसे दो हेतुफलाश्रित-निरपेक्ष न्यायवाक्यो मे विभक्त करके करते है। उदाहरण के लिए, एक अशुद्ध मेण्डक-प्रयोग की परीक्षा करके देखें—

यदि 'क' 'ख' है, तो 'ग' 'घ' है; और यदि 'च' 'छ' है, तो 'ज' 'झ' है;
या तो 'ग' 'घ' है, या 'ज' 'झ' है;
. या तो 'क' 'ख' है, या 'च' 'छ' है।

इसके दो हेतुफलाश्रित-निरपेक्ष न्यायवाक्य इस प्रकार होगे—

(१) यदि 'क' 'ख' है, तो 'ग' 'घ' है,
(२) यदि 'च' 'छ' है, तो 'ज' 'झ' है,

'ग' 'घ' है,	'ज' 'झ' है,
∴ 'क' 'ख' है।	∴ 'च' 'छ' है।

ये दोनो न्यायवाक्य अशुद्ध है, क्योकि इनमे 'फल-विधान' का दोष है। हेतुफलाश्रित-निरपेक्ष न्यायवाक्य मे फल का विधान करके हेतु का विधान नही कर सकते। अतः, इस मेण्डक-प्रयोग मे रूपविषयक अशुद्धि है।

ख. विषय-विषयक शुद्धि[1]

मेण्डक-प्रयोग की रूपविषयक शुद्धि ही पर्याप्त नही है। उसे विषय से भी यथार्थ होना चाहिए, अर्थात् उसके आधारवाक्य वास्तविक सत्य

---

[1] Material Correctness of a Dilemma.

हो। मेण्डक-प्रयोग मे अशुद्धि का कारण अधिकतर उसके आधारवाक्यो का असत्य होना ही होता है। आधारवाक्यो के असत्य होने से उसका निष्कर्ष भी असत्य होता है। अत किसी मेण्डक-प्रयोग की परीक्षा करने के लिए यह देखना होगा कि इसके आधारवाक्य सच्चे है या नहीं।

मेण्डक-प्रयोग की विषय-विषयक असत्यता तीन तरह से सिद्ध की जा सकती है—

(१) विधेयवाक्य के दोनो हेतुफलाश्रित वाक्यो में यदि यथार्थत. उस हेतु से वह फल निष्पन्न नही होता हो, तो वह विषय से असत्य है। विधेयवाक्य के असत्य होने से निष्कर्ष भी असत्य होगा। जैसे—

विधेयवाक्य—यदि खूब वृष्टि हो, तो धान सड जाय; और यदि वृष्टि
नहीं हो, तो धान जल जाय,
उद्देशवाक्य—अब, या तो खूब वृष्टि होगी, या होगी ही नहीं,
निष्कर्ष—. या तो धान सड जायगा, या जल जायगा।

इस मेण्डक-प्रयोग में दिखा सकते है कि यह निष्कर्ष असत्य है, क्योकि विधेयवाक्य सच्चा नहीं है। खूब वृष्टि होने पर भी यदि पानी के निकास का पूरा प्रबन्ध रहे तो धान नही सडेगा, और वृष्टि नही होने पर भी यदि नहर से सिंचाव का अच्छा प्रबन्ध रहे तो धान नही जलेगा। अत, यह बात सच नही है कि—यदि खूब वृष्टि हो, तो धान सड जाय, और यदि वृष्टि न हो, तो धान जल जाय।

विधेयवाक्य के हेतुफलाश्रित-वाक्यो की उपमा भेड के दो सीगो से दी जाती है, जिनके बीच मे पड कोई सकटापन्न हो जाता है। अत., उनकी असत्यता दिखा कर मेण्डक-प्रयोग को परास्त करने की इस विधि को शृङ्गनिग्रह विधि[1] कहते है। यह वैसा ही है जैसे कोई बिगडे भेडे को उसकी सीगो को पकड कर परास्त कर दे।

---

[1] Taking the dilemma by the horns.

(२) उद्देशवाक्य तब असत्य होता है जब उसके दोनो विकल्प यथार्थ मे परस्पर विरुद्ध नही हो। उद्देशवाक्य के दोनों विकल्प ऐसे होने चाहिए कि उन्हे छोड़ किसी तीसरे विकल्प की सम्भावना एकदम नही हो। यदि उन दोनों को छोड, तीसरे विकल्प की सम्भावना रह गई हो तो वह वाक्य सत्य नही ठहरता।

ऊपर के उदाहरण मे जो उद्देशवाक्य—अब, या तो खूब वृष्टि होगी, या होगी ही नही—है उसके दोनो विकल्प ऐसे नही है जो सारी सम्भावनाओ को व्याप्त कर लेते हो; क्योकि अतिवृष्टि और अनावृष्टि के दो विकल्पो को छोड, यथावृष्टि का तीसरा विकल्प भी सम्भव है। अतः यह कहना असत्य है कि या तो खूब वृष्टि होगी या एकदम नही होगी, क्योकि उतनी ही वृष्टि भी हो सकती है जितनी धान के लिए आवश्यक है।

इस तरह, उद्देशवाक्य के विकल्पो के बीच तीसरे विकल्प की सम्भावना दिखा कर जो मेण्डक-प्रयोग को परास्त करने की विधि है उसे **शृङ्गान्तर्निर्गति**[1] कहते है।

(३) मेण्डक-प्रयोग को परास्त करने की तीसरी विधि **प्रत्याख्यान-विधि**[2] है, जिसका अध्ययन हम ऊपर कर चुके है। मेण्डक-प्रयोग के उत्तर मे उसका प्रत्याख्यात-रूप उपस्थित कर देने से वादी को अपने तर्क की असत्यता प्रगट हो जाती है।

---

[1] Escaping between the horns of a dilemma. =दो सींगों के बीच से बच कर निकल जाना।

[2] Rebutting the Dilemma.

निगमन-विधि

दूसरा भाग

(परंपरानुमान)

न्यायवाक्य

(ग. संक्षिप्त)

§ १—संक्षिप्त न्यायवाक्य[1]

विधेयवाक्य, उद्देशवाक्य और निष्कर्षवाक्य, इन तीन अवयवो से युक्त हो न्यायवाक्य का अपना रूप पूर्ण होता है। किंतु, अपनी साधारण बातचीत के सिलसिले में हम इसका ख्याल नही रखते कि हमारे तर्क में न्यायवाक्य के सभी अवयव उपस्थित हुए है या नही। हमारी प्रवृत्ति रहती है कि जितने थोडे मे बात साफ हो जाय उतना ही थोडा कहना। बात साफ हो जाने के बाद तर्कशास्त्र के रूपो की पूर्ति के लिए न तो अधिक कहने का हम मे, और न अधिक सुनने का श्रोता में, धैर्य रहता है। अत,

सभी 'मनुष्य' 'मरणशील' है,
'मै' 'मनुष्य' हू,
∴ 'मै' 'मरणशील' हू।

इतना न कह कर हम इतना ही कह देते है—

मुझे भी एक न एक दिन मरना है, क्योकि मै भी मनुष्य हू;

अथवा

मै भी मरूगा, क्योकि सभी मनुष्य मरणशील है,

---

[1] Enthymeme.

अथवा

सभी मनुष्य मरते हैं, और मैं भी मनुष्य हूं।

इतना भर कह देने से श्रोता के लिए बात साफ हो जाती है। पहले मे विधेयवाक्य अनुक्त है, दूसरे मे उद्देशवाक्य, और तीसरे मे निष्कर्षवाक्य। इसे संक्षिप्त न्यायवाक्य कहते है।

'सक्षिप्त न्यायवाक्य' के चार रूप होते हैं[1]—

(१) पहला रूप—जिसमे विधेयवाक्य अनुक्त होता है, केवल उद्देशवाक्य और निष्कर्ष कहे जाते हैं। जैसे—

सुकरात मनुष्य है,
∴ सुकरात मरणशील है।

(२) दूसरा रूप—जिसमे उद्देशवाक्य अनुक्त होता है, केवल विधेयवाक्य और निष्कर्ष कहे जाते हैं। जैसे—

सभी मनुष्य मरणशील है,
∴ सुकरात मरणशील है।

(३) तीसरा रूप—जिसमे निष्कर्ष अनुक्त होता है, केवल दोनो आधारवाक्य कहे जाते हैं। जैसे—

सभी मनुष्य मरणशील है,
और, सुकरात भी मनुष्य है।

(४) चौथा रूप—जिसमे केवल एक ही वाक्य कहा जाता है, और उसमें यह सामर्थ्य होता है कि वह सारे न्यायवाक्य का बोध करा दे। बातचीत के सिलसिले में बहुधा ऐसा होता है कि एक वाक्य के ही कह देने से सारी युक्ति समझ ली जाती है। जैसे—किसी बड़े योगी को भी कभी सासारिक माया मे आसक्त होते देख कोई कह उठे—

---

[1] Enthymemes are of four orders.

"मनुष्य अपूर्ण है," तो इतने से सारा न्यायवाक्य व्यक्त हो जाता है, यह कि—

सभी मनुष्य अपूर्ण है,
यह योगी मनुष्य है,
∴ यह योगी अपूर्ण है।

न्यायवाक्य

(घ. युक्ति-माला[1])

§ १—युक्ति-माला, अनुलोम और प्रतिलोम

जब दो या दो से अधिक न्यायवाक्य लगातार इस प्रकार आवें कि सभी जा कर एक ही निष्कर्ष को सिद्ध करें, तो उसे युक्ति-माला कहते है। जैसे—

(१) सभी 'ख' 'ग' है,
सभी 'क' 'ख' है,
∴ सभी 'क' 'ग' है।

(२) सभी 'ग' 'घ' है,
सभी 'क' 'ग' है,
∴ सभी 'क' 'घ' है।

(३) सभी 'घ' 'च' है,
सभी 'क' 'घ' है,
∴ सभी 'क' 'च' है।

---

[1] Compound Syllogism.
Train of Reasoning.

ये न्यायवाक्य एक के बाद एक इस तरह आते हैं, कि पहले का निष्कर्ष दूसरे का आधारवाक्य होता जाता है; और सभी मिल कर अन्त मे यह सिद्ध करते है कि "सभी क च है"। इसे **न्यायवाक्यावली**[1] या **न्यायवाक्य-सन्निपात**[1] कहते है।

इस सिलसिले मे, जब एक न्यायवाक्य का निष्कर्ष दूसरे न्यायवाक्य मे आधार बनता है, तब पहले न्यायवाक्य के सम्बन्ध में दूसरे को **उपकृत न्यायवाक्य**,[2] और दूसरे के सम्बन्ध मे पहले को **उपकारक न्यायवाक्य**[3] कहते है। इसी तरह, कोई 'उपकृत न्यायवाक्य' भी एक दूसरे न्यायवाक्य का 'उपकारक' बन सकता है, जब इसका निष्कर्ष उसका आधार बन जाय; और कोई 'उपकारक न्यायवाक्य' भी दूसरे न्यायवाक्य का 'उपकृत' हो सकता है, यदि उसका निष्कर्ष इसमे आधार के ऐसा प्रयुक्त हुआ हो। ऊपर के उदाहरण मे, दूसरा न्यायवाक्य पहले के सम्बन्ध मे 'उपकृत' है, किंतु तीसरे के सम्बन्ध मे 'उपकारक'।

फिर, ऊपर के उदाहरण मे हम देखते है कि यह 'युक्ति-माला' उपकारक से उपकृत की दिशा मे जाती हुई अन्त में एक निष्कर्ष को सिद्ध करती है। अत, इसे **उपकृत-गामी युक्ति-माला**[4] कहते है। सारी न्याय-माला का प्रवाह अन्तिम निष्कर्ष की ओर है, अतः इसे **अनुलोमयुक्ति-माला**[5] भी कहते है। इस न्यायमाला मे पहले न्यायवाक्य का निष्कर्ष दूसरे मे सश्लिष्ट होता जाता है, अतः इसे **संश्लेषकयुक्तिमाला**[6] भी कहते है।

इसके विपरीत, यदि न्यायमाला की दिशा उपकृत से उपकारक की ओर हो, अर्थात् पहले आने वाले न्यायवाक्यो के आधारवाक्य अगले के

---

[1] Polysyllogism. [2] Episyllogism. [3] Prosyllogism. [4] Episyllogistic train of syllogism.

[5] Progressive train of syllogism.

[6] Synthetic train of syllogism.

निष्कर्ष होते जायं, तो उसे प्रतिलोम-युक्तिमाला[1] या उपकारक-गामी[2] युक्तिमाला कहते हैं। जैसे—

(१) सभी 'क' 'च' है,
∵ सभी 'घ' 'च' है, और
सभी 'क' 'घ' है।
(२) सभी 'क' 'घ' है,
∵ सभी 'ग' 'घ' है, और
सभी 'क' 'ग' है।
(३) सभी 'क' 'ग' है,
∵ सभी 'ख' 'ग' है, और
सभी 'क' 'ख' है।

इस न्यायमाला मे अन्तिम निष्कर्ष ही सबसे पहले कह दिया जाता है, और उसे प्रामाणित करने के लिए युक्तिया देते है। इस माला मे पहले न्यायवाक्य के आधारो में से एक विश्लिष्ट हो कर आगे के न्यायवाक्य का निष्कर्ष होता है, इससे इसे विश्लेषक-युक्तिमाला[3] भी कहते हैं।

न्यायवाक्य

(ङ संक्षिप्त युक्तिमाला)

§ १—संक्षिप्त-अनुलोम-युक्तिमाला[4]

जिस 'सक्षिप्त-न्यायमाला' में सभी 'उपकारक' न्यायवाक्यो के निष्कर्ष (तथा 'उपकृत' न्यायवाक्यो मे आधार के रूप मे भी उनका

---

[1] Regressive train of syllogism. [2] Prosyllogistic train of syllogism. [3] Analytic train of reasoning. [4] Sorites=Abridged progressive train of reasoning.

प्रयोग) अनुक्त हो, उसे **संक्षिप्त-अनुलोम-युक्ति माला** कहते है। जैसे—

सभी 'क' 'ख' है,
सभी 'ख' 'ग' है,
सभी 'ग' 'घ' है,
सभी 'घ' 'च' है,
∴ सभी 'क' 'च' है।

यदि इसमे 'उपकारक' न्यायवाक्यो के निष्कर्ष अनुक्त न होते तो इसका रूप होता—

(१) सभी 'ख' 'ग' है,
सभी 'क' 'ख' है,
∴ **सभी 'क' 'ग' है।**
(२) सभी 'ग' 'घ' है,
सभी 'क' 'ग' है,
∴ **सभी 'क' 'घ' है।**
(३) सभी 'घ' 'च' है,
सभी 'क' 'घ' है,
∴ सभी 'क' 'च' है।

इन न्यायवाक्यो मे काले अक्षरो मे लिखे अवयव ऊपर के सक्षिप्त रूप मे अनुक्त है।

इसके दो प्रकार

(क) अरस्तू के मत से[1]

अरस्तू के मत से 'उपकारक न्यायवाक्य' का निष्कर्ष जो अनुक्त होता है वह 'उपकृत न्यायवाक्य' मे उद्देशवाक्य होता है। जैसे—

[1] Aristotelian Sorites.

'चेतक' 'एक घोडा' है,
'घोडा' 'चतुष्पद' है,
'चतुष्पद' 'प्राणी' है,
'प्राणी' 'एक मत्ता' है,
'चेतक' 'एक सत्ता' है।

इन न्यायवाक्यो को पूर्ण रूप से व्यक्त करके रखे तो इसका यह रूप होगा—

(१) सभी 'घोडा' 'चतुष्पद' है,
'चेतक' 'घोडा' है,
'चेतक 'चतुष्पद' है।

(२) सभी 'चतुष्पद' 'प्राणी' है,
'चेतक' 'चतुष्पद' है,
'चेतक' 'प्राणी' है।

(३) सभी 'प्राणी' 'एक सत्ता' है,
'चेतक' 'प्राणी' है,
'चेतक' 'एक सत्ता' है।

(ख) गोक्लेनियस् के मत से[1]

गोक्लेनियस् के मत मे 'उपकारक न्यायवाक्य' का निष्कर्ष जो अनुक्त होता है वह उपकृत न्यायवाक्य मे विधेयवाक्य का काम करता है। जैसे—

'प्राणी' 'एक सत्ता' है,
'चतुष्पद' 'प्राणी' है,
'घोडा' 'चतुष्पद' है,

[1] Goclenian Sorites

(घ) **आधारवाक्य**—अरस्तू की विधि मे सर्व प्रथम आधार उद्देश-वाक्य होता है, और तदनन्तर सभी आधार विधेयवाक्य होते हैं। किंतु गोक्लेनियन विधि मे सर्व प्रथम आधार विधेयवाक्य होता है, और तद-नन्तर सभी आधार उद्देशवाक्य होते है।

§ ४—संक्षिप्त-अनुलोम युक्तिमाला के नियम

यदि इस न्यायमाला के सभी न्यायवाक्य पहले क्रम के हो, तो ऊपर की दोनो विधियो मे ये नियम होगे—

(१) एक ही आधारवाक्य निषेधात्मक हो सकता है—अरस्तू की विधि में अन्तिम, और गोक्लेनियस की विधि में सर्व-प्रथम।

प्रमाण—इस न्यायमाला मे एक से अधिक आधार-वाक्य निषेधात्मक नही हो सकते। एक आधारवाक्य के निषेधात्मक होने से उसका निष्कर्ष भी निषेधात्मक होगा। तब, दो वाक्य यदि निषेधात्मक हुए तो एक ही न्यायवाक्य के दोनो आधार निषेधात्मक हो जायेंगे, जिनसे कोई निष्कर्ष नही निकल सकता।

अरस्तू की विधि में अन्तिम आधारवाक्य ही, और गोक्लेनियस् की विधि मे सर्व-प्रथम आधारवाक्य ही निषेधात्मक हो सकता है। यदि कोई भी आधारवाक्य निषेधात्मक हुआ तो अन्तिम निष्कर्ष अवश्यमेव निषेधात्मक होगा। तब, उसमे 'वि' सर्वांशी होगा। इसलिए उस आधारवाक्य को भी निषेधात्मक होना चाहिए जिसमे 'वि' विधेय के ऐसा प्रयुक्त हुआ हो। वह आधारवाक्य अरस्तू की विधि मे अन्तिम, और गोक्लेनियस् की विधि मे सर्वप्रथम ही है। यदि किसी बीच वाले आधारवाक्य को निषेधात्मक माने तो 'अनुचित विधेय' का दोष उपस्थित हो जायगा।

(२) एक ही आधारवाक्य विशेष हो सकता है—अरस्तू की विधि में सर्व प्रथम, और गोक्लेनियस् की विधि में अन्तिम।

प्रमाण—इस न्यायमाला मे एक से अधिक आधारवाक्य 'विशेष' नही हो सकते। एक आधारवाक्य के विशेष होने से उसका निष्कर्ष भी विशेष होगा। तब, यदि दो वाक्य विशेष हुए तो एक ही न्यायवाक्य के दोनो आधार विशेष हो जायेगे, जिनसे कोई निष्कर्ष नही निकल सकता।

अरस्तू की विधि मे सर्वप्रथम आधारवाक्य ही विशेष हो सकता है। इस विधि मे सर्वप्रथम को छोड शेष आधार विधेयवाक्य है। फिर, यह नियम तो उसी सक्षिप्त न्यायमाला मे लागू होता है जिसके सभी न्याय-वाक्य पहले क्रम मे हो। और, पहले क्रम का यह असाधारण नियम है कि उसमे विधेयवाक्य अवश्य सामान्य होगा। अतएव, इस न्यायमाला मे सर्वप्रथम आधारवाक्य ही विशेष हो सकता है, क्योकि केवल वही उद्देशवाक्य है।

गोक्लेनियस् की विधि मे अन्तिम आधारवाक्य ही विशेष हो सकता है। इस विधि मे अन्तिम को छोड़ कोई दूसरा आधारवाक्य 'विशेष' हो, तो उसका निष्कर्ष भी विशेष होगा। फिर, इस विधि मे 'उपकारक न्यायवाक्य' का निष्कर्ष 'उपकृत न्यायवाक्य' का विधेयवाक्य होता है। यह 'विशेष' नही हो सकता, क्योकि पहले क्रम मे विधेयवाक्य हमेशा सामान्य होता है। अतएव, गोक्लेनियस् की विधि मे केवल अन्तिम आधारवाक्य विशेष होता है। यदि कोई दूसरा आधारवाक्य 'विशेष' हो, तो 'असर्वांशी हेतु' का दोष उपस्थित हो जायगा।

§ ५—संक्षिप्त-प्रतिलोम-न्यायमाला[1]

संक्षिप्त-प्रतिलोम-न्यायमाला प्रतिलोम न्यायमाला का वह रूप है जिसमें प्रत्येक 'उपकारक न्यायवाक्य' का एक न एक आधारवाक्य अनुक्त रहता है।

---

[1] Epicheirema=Condensed regressive train of reasoning.

फिर—

सभी 'ग' 'ख' है,

∴ सभी 'घ' 'ख' है।

इसे पूर्णत व्यक्त करने से रूप होगा—

उपकृत—

सभी 'ग' 'ख' है,

सभी 'क' 'ग' है,

∴ सभी 'क' 'ख' है।

उपकारक—

सभी 'घ' 'ख' है,

सभी 'ग' 'घ' है,

∴ सभी 'ग' 'ख' है।

यहा हम देखते है कि पहले न्यायवाक्य का एक आधार—सभी 'ग' 'ख' है—दूसरे न्यायवाक्य का निष्कर्ष है। यह न्यायमाला 'उपकृत' से 'उपकारक' की ओर बढती है, अर्थात् यह प्रतिलोम न्यायमाला है। ऊपर के उदाहरण मे, 'उपकारक' का एक आधार—सभी 'ग' 'घ' है—अनुक्त था, इसलिए यह 'सक्षिप्त-प्रतिलोम-न्यायमाला' है।

इसका यह 'सरल' रूप है, क्योकि आधारवाक्य को एक ही सक्षिप्त न्यायवाक्य से सिद्ध किया है। फिर, इसका यह 'अनुभय' रूप है, क्योकि दोनो आधारो मे केवल एक ही की सिद्धि की गई है।

(२) सरल-उभय[1]

सभी 'क' 'ख' है,		सभी 'ग' 'ख' है, और सभी 'क' 'ग' है।
सभी 'ग' 'ख' है,	∴	सभी 'घ' 'ख' है, और
सभी 'क' 'ग' है,		सभी 'क' 'च' है।

[1] Simple Double Epicheirema.

फिर, यह 'अनुभय' है, क्योंकि 'उपकृत न्यायवाक्य' का एक ही आधार सिद्ध किया गया, दूसरा—सभी 'क' 'ग' है—नही सिद्ध किया गया।

(४) उभय-संकुल[1]

सभी 'क' 'ख' है, ∴ सभी 'ग' 'ख' है, और सभी 'क' 'ग' है।
सभी 'ग' 'ख' है, ∴ सभी 'घ' 'ख' है; और सभी 'घ' 'ख' है,
∴ सभी 'च' 'ख' है।

और फिर—
सभी 'क' 'ग' है, ∴ सभी 'छ' 'ग' है; और सभी 'छ' 'ग' है,
सभी 'ज' 'ग' है।

यह 'उभय-संकुल-सक्षिप्त-प्रतिलोम-न्यायमाला' का उदाहरण है, क्योंकि इस 'उपकृत न्यायवाक्य' के दोनो आधार पहले एक एक सक्षिप्त न्यायवाक्य से सिद्ध किए गए, फिर उसके आधारवाक्य को भी सिद्ध करने के लिए दूसरे सक्षिप्त न्यायवाक्य दिए गए।

न्यायमाला के विभिन्न रूप निम्न तालिका से प्रकट होगे—
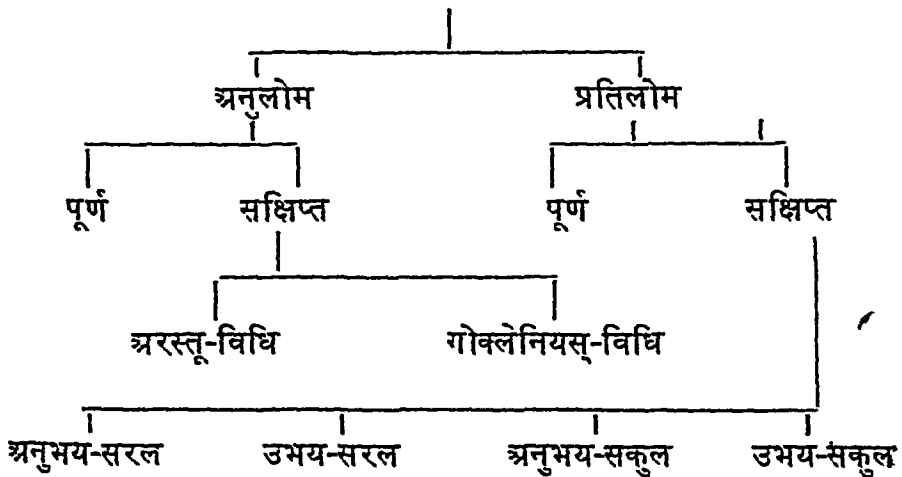
[1] Double Complex

परिशिष्ट

१—परिशिष्ट

विचार की मर्यादा

§ १—विचार की मर्यादा के तीन नियम[१]

कुछ ऐसे सामान्य नियम है जिन्हे सिद्ध करने के लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नही होती। वे इतने स्पष्ट होते है कि सामने आते ही उन्हे हम मान लेते है, उनके अन्यथा होने की हम कल्पना भी नही कर सकते। ऐसे नियमो को स्वयंसिद्ध[२] कहते हैं। उदाहरणार्थ, गणित का विद्यार्थी प्रारम्भ मे ही अपने शास्त्र का एक स्वयसिद्ध पढता है कि "बराबर मे बराबर जोड़ने से उनका योग बराबर होता है"। पाँच-पाँच सेर के दो वजन हो; उनमे यदि एक-एक सेर और मिला दे तो वे बराबर ही होगे। यह इतना स्पष्ट है कि कोई भी विद्यार्थी इसे तुरत मान लेगा। यदि वह यह न मान ले, अथवा समझ न ले, तो गणित-शास्त्र मे उसकी कोई गति नही हो सकती, क्योकि गणितशास्त्र की सारी मर्यादा इन्ही स्वयसिद्ध नियमो पर आश्रित है। उसी प्रकार, तर्कशास्त्र के भी कुछ ऐसे स्वयंसिद्ध नियम है जिन पर शास्त्रीय विचार की मर्यादा निर्भर करती है। इन्हे अगरेजी मे Laws of Thought अर्थात् विचार के नियम कहते है। यही नियम 'विचार की मर्यादाये' है। मोटे तौर से, इन नियमो को सक्षेप मे इस प्रकार समझे—

---

[१] Three Laws of Thought.

[२] Axiom.

यदि कोई कहे कि 'घोडा दूध देता है', तो लोग सुन कर हँस देंगे। क्यों ? क्योंकि यह स्पष्टतः असंगत बात है। इसमें विचार की मर्यादा की अवहेलना की गई है। अमुक जानवर यदि घोडा है तो सवारी में जा सकता है, गाडी में जुत सकता है, घुड़-दौड़ में जा सकता है, चना खा सकता है, इत्यादि सभी बातें जो घोडे में होती है वे इसमें हो सकती हैं। दूध देना गाय का काम है, वह घोडे में नहीं होता। इसी को इस तरह कह सकते है कि—घोडा घोडा है घोडा गाय नहीं है।

घोडे या गाय की बात छोड कर साधारण रूप में यह यों व्यक्त किया जा सकता है कि—कोई भी चीज वही है जो वह है, वह वह नहीं हो सकती जो वह नहीं है। ये दो बातें विचार की मर्यादा के पहले दो नियमों का बोध करती है। पहले नियम को तदात्मभाव[1] कहते हैं, संकेतो में इसे इस तरह प्रकट करते है—'क' 'क' है। दूसरे नियम को, तद्भिन्नपरिहार[2] कहते है। संकेतों में इसे इस तरह प्रकट करते हैं—कोई चीज 'क' और 'क-भिन्न' दोनो नहीं हो सकती। इन दोनो नियमो को ऊपर के उदाहरण में इस तरह समझें कि—अमुक जानवर यदि घोडा है तो घोडा ही है, वह घोडा और घोडा से भिन्न दोनो नहीं हो सकता।

'तदात्मभाव' का नियम बताता है कि एक चीज क्या है, और 'तद्भिन्न-परिहार' का नियम बताता है कि वह क्या नहीं है। इन दोनों के आधार पर एक तीसरा नियम निकलता है, यह कि—कोई चीज या तो 'क' होगा या 'क-भिन्न'। ऊपर के उदाहरण में—अमुक जानवर या तो 'घोडा' है या 'घोडा से भिन्न कोई दूसरा'। अब, अमुक जानवर इन दोनो विकल्पो को छोड कुछ और नहीं हो सकता, क्यो कि 'घोडा से भिन्न कोई दूसरा' इस विकल्प में दूसरे गाय, बकरी, बाघ, मनुष्य आदि आदि समस्त जानवरो

---

[1] Law of Identity.

[2] Law of Contradiction

का समावेश हो गया है। विरुद्ध विकल्पो के वीच किसी भी मध्ययोग का निषेध करने वाले इस नियम को मध्ययोगपरिहार[1] कहते है।

'तदात्मभाव', 'तद्भिन्न परिहार' और 'मध्ययोगपरिहार', विचार की मर्यादा के यही तीन नियम है। ये नियम स्वयंसिद्ध है, इनकी प्रामाणिकता सभी मर्यादित विचारो मे समान रूप से व्यापक है। इनका उल्लघन होने से 'घोड़ा दूध देता है' जैसी असम्बद्ध वात उपस्थित होती है।

'तदात्मभाव' और 'तद्भिन्नपरिहार', यथार्थ मे दो पृथक् नियम नही है, किंतु ये विधानात्मक और निषेधात्मक दो दृष्टियो से स्थापित किए गए एक ही सिद्धान्त को सूचित करते है। 'तद्भिन्नपरिहार' और 'मध्ययोगपरिहार' एक दूसरे के पूरक है, क्योकि इन दोनो नियमो से निषेध का स्वरूप पूर्ण रूप से व्यक्त हो जाता है। साथ साथ हम यह देखेंगे कि इस अर्थ में ये नियम अपने मे स्वतत्र भी है कि उनमे एक को दूसरे ही से नही सिद्ध कर सकते।

§ २—तदात्मभाव

तर्कशास्त्री सिग्वर्ट कहता है कि इस नियम का प्रयोजन 'अध्यवसाय'[2] की प्रक्रिया मे सम्वद्धता स्थापित करना है। सत्य वही है जो त्रिकालावाधित है। ब्रडले महाशय कहते है—

"जो सत्य है वह वरावर सत्य है, जो झूठ है वह वरावर झूठ है। सत्य मुझसे स्वतत्र है यही नही; वह तो परिवर्तन और सयोग से भी मुक्त है। काल या दिशा मे हेरफेर करने से, अथवा किसी भी वात और प्रकरण में परिवर्तन ला कर सत्य को मिथ्या नही वनाया जा सकता। यदि मैं

[1] Law of Excluded Middle.
[2] Act of Indgment.

जो कहता हूँ वह सत्य है, तो वह सदैव सत्य ही रहेगा" (Logic, p. 133)। अतएव, किसी भी वाक्य का विषय ध्रुव तथा स्थिर होगा, क्यो कि वह सत्य का प्रतिपादन करता है। अपने वाक्यो को जब ऐसा मान कर चलें तभी हमारे विचार और तर्क निर्दोष हो सकते है। ठीक इसी अर्थ मे 'तदात्मभाव' का नियम तर्कशास्त्र के सिद्धान्त का मूल कहा गया है, जो सत्य विचार और तर्क का शास्त्र है। यदि किसी एक स्वीकृत वाक्य को जब मर्जी हो बदल दे, या उसके अभिप्राय को एक बार एक प्रकार से ग्रहण करे, और दूसरी बार दूसरे प्रकार से, तो हमारे विचार ऊटपटाग हो जायेगे और हमारे तर्क खिलवाड जैसे होगे। वैसे तर्क की प्रक्रिया के किसी क्रम पर आस्था नही होगी, क्यो कि उस प्रक्रिया के दूसरे क्रम पर आते इसका शसय होगा कि पहला वाक्य कही बदल तो नही गया। वैसी अवस्था मे, किसी मूल आधार वाक्य को स्वीकार करके भी उसके (विधिवत् प्राप्त) निष्कर्ष को अस्वीकार कर देने की छूट्टी रहेगी।

इसे यो कह सकते है कि, 'तदात्मभाव' केवल यह बताता है कि हम किसी वाक्य को साथ साथ स्वीकार और अस्वीकार दोनो नही कर सकते। 'तद्भिन्नपरिहार' का नियम भी यही बताता है। असल में बात यह है कि 'तदात्मभाव' और 'तद्भिन्नपरिहार' एक ही सिद्धान्त को क्रमश विधान और निषेध की दृष्टियो मे स्थापित करते है। तर्कशास्त्री सिग्वर्ट इसी को यो व्यक्त करता है कि, युगपत् विधान और निषेध के परिहार से ही अध्यवसाय की सम्बद्धता स्थापित होती है।

मिल महाशय की परिभाषा

तर्कशास्त्री मिल 'तदात्मभाव' के नियम की परिभाषा इस प्रकार करता है, "एक प्रकार की शब्द-योजना मे कही गई जो बात सत्य है वह उन सभी प्रकार की शब्द-योजनाओ मे सत्य होगी जो उसी अर्थ को व्यक्त

करती है ।"[1] भाषा ही विचार का अभिव्यञ्जक है, इस दृष्टि से इस परिभाषा को ग्रहण करना आवश्यक है। एक वाक्य को चाहे हम किसी प्रकार भी व्यक्त करे, तब तक कोई आपत्ति नही है जब तक उसका भाव समान रहता है। क्योकि तर्कशास्त्र मे वाक्य के कुछ निश्चित रूप स्थिर करने ही पडते है, हमे इसका अधिकार होना चाहिए कि लौकिक भाषा मे कहे गए किसी वाक्य को, उसके भाव को बिलकुल सुरक्षित रख, शास्त्रीय रूप मे ला सके। अनन्तरानुभाव के साधन मे मिल की इस परिभाषा का बड़ा उपयोग है। इस पर आगे चल कर विचार करेगे।

साधारण रूप

'तदात्मभाव' के नियम को साधारणत इस प्रकार व्यक्त करते है कि—'क' 'क' है : कोई चीज वही है जो वह है ।[2] इन सकेतो से क्या पदार्थ के विषय मे कैसी सूचना मिलती है ? यदि ऐसा माने तो बड़ी आपत्ति हो सकती है। इसका दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि यह 'अध्यवसाय' की सम्बद्धता मे निहित पदो या प्रत्ययो की सम्बद्धता को सूचित करता है, क्योकि यदि विचार या तर्क के सिलसिले मे आए पदो के भाव और निर्देश निश्चित नही होगे तो 'अध्यवसाय' की सम्बद्धना सम्भव नही हो सकती। अत विचार की मर्यादा के सभी नियम वाक्य-सम्बन्धी होते हुए पद-सम्बन्धी या 'प्रत्यय-सम्बन्धी' भी है।

---

[1] "Whatever is true in one form of words is true in every other form of words which conveys the same meaning."

Mill–Examination of Sir William Hamilton 'Philosophy, p. 466.

[2] A is A, Every thing is what it is.

आपत्ति

'क' 'क' है, इस सकेत को यदि 'क' नामक पदार्थ के विषय में कहा गया एक वाक्य मानें तो क्या आपत्ति है ? पहली आपत्ति तो यह है कि यह कोई वाक्य ही नही हुआ, जिसकी कल्पना भी की जा सके। सभी विचार में कुछ न कुछ भिन्नता का भाव होना आवश्यक है। जब हम किसी चीज का विचार करते हैं तो इसे कुछ दूसरी चीज से अलग करके समझते है, या इसे ऐसा समझते है कि इसके धर्म अन्य अनेक में समान है, या कम से कम यह कि यही चीज भिन्न भिन्न कालो मे समान है। इस तरह, हम देखते है कि किसी भी अवस्था में (भिन्नता से सर्वथा मुक्त) शुद्ध 'तदात्मभाव' प्राप्त नही होता।

इस कठिनाई को दो तरह दूर करते है —

(क) हम कह सकते है कि यहा तदात्मभाव का अर्थ शुद्ध तदात्मभाव नही है, किंतु इसका अर्थ है पूर्ण रूप से समान होना, जिस समानता में एक को दूसरे से स्थान का नानात्व छोड और कोई भेद करना कठिन होता है (जैसे, एक ही प्रकार की सूइयो या छर्रों मे)।

समान-ग्रहण

इस अर्थ में 'तदात्मभाव' का नियम वही ठहरता है जो तर्कशास्त्री जेवन के समान-ग्रहण का सिद्धान्त है—"एक चीज़ के साथ जो बात सत्य है वह उसके साथ भी सत्य है जो उसके समान है।[1] तर्कशास्त्री मैन्सल 'तदात्मभाव' के इस समानार्थक सिद्धान्त की स्थापना करता है कि— "किसी समान चीज के बराबर जितनी चीजें है सभी आपस में बराबर हैं।"[2]

---

[1] "Whatever is true of a thing is true of its like."

[2] "Things that are equal to the same thing are equal to one another.

तनिक ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन सिद्धान्तो को 'तदात्मभाव' के समकक्ष रखना गलत है; इन्हे इस—'क' 'क' है—सकेत से व्यक्त नही कर सकते। 'तद्भिन्नपरिहार' और 'मध्ययोगपरिहार' नियमो का भी इस प्रकार अर्थ नही लगाया जा सकता। अतः, 'तदात्मभाव' की ये व्याख्याये अयुक्त है।

(ख) यह कह कर भी कठिनाई टाली जा सकती है कि, 'तदात्मभाव' का अर्थ है प्रवाह की एकता। जैसे, यह वही कलम है जिससे मै कल लिख रहा था, यहा शुद्ध वही कलम का अर्थ नही है, क्योकि समय के प्रवाह मे इसमे भिन्नता आ गई; तो भी यह वही है।

यदि इस व्याख्या का यह अर्थ समझे कि जो बात किसी चीज के साथ अभी सत्य है वही बाद मे भी सत्य होगी, तो यह भ्रम है। क्योकि किसी वस्तु के धर्म स्थिर नही रहते। अर्थात् किसी व्यक्त वाक्य की सत्यता की तरह, किसी वस्तु का कोई धर्म धारण करना काल से स्वतन्त्र नही है।

उपसंहार

तव, तर्कशास्त्र मे 'तदात्मभाव' के नियम का क्या अर्थ है ? इसका अर्थ धर्मों का तदात्म रहना नही, किंतु उस विषय का तदात्म रहना है जो धर्मों का आधार है। धर्मो मे सतत परिवर्तन होता रहता है, किंतु उनका आधारभूत विषय वही रहता है। परिवर्तनो मे भी तदात्म वने रहने का स्वरूप यही है। किंतु, यह व्याख्या ठीक वही नही है जो तर्कशास्त्र मे विचार की मर्यादा का नियम कहा गया है।

§ ३—तद्भिन्न-परिहार

दो 'विरुद्ध'[१] वाक्यो के सम्वन्ध का एक पहलू यह है कि दोनो एक साथ सत्य नही हो सकते। 'तद्भिन्नपरिहार' का नियम यही वताता है।

---

[१] Contradictory.

वाक्य की पहली विशेषता यह है कि यह सत्य होने का दावा करता है। किंतु किसी चीज के सत्य होने की घोषणा हम तब तक नही कर सकते जब तक किसी दूसरी चीज के झूठ होने की बात उसमे अन्तर्गत न हो। सभी विधान मे निषेध की ध्वनि रहती है। अत, किसी वाक्य का तात्पर्य पूरा पूरा समझने के लिए यह भी समझना आवश्यक है कि यह किसका परिहार करता है।

किसी वाक्य और उसके परिहार में क्या सम्बन्ध है यह 'तद्भिन्न-परिहार' और 'मध्ययोगपरिहार' के नियमो मे व्यक्त होता है। पहला नियम यह बताता कि परस्पर 'विरुद्ध' वाक्य दोनो के दोनो एक साथ सत्य नही हो सकते, और दूसरा यह कि दोनो के दोनो एक साथ झूठ नही हो सकते।

'तद्भिन्नपरिहार' का नियम, इस तरह, 'तदात्मभाव' के नियम से एक भिन्न दृष्टि से विचार की मर्यादा स्थापित करता है। विचार तथा तर्क की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए सदोष वाक्यो का निराकरण आवश्यक है, और यह निराकरण 'तद्भिन्नपरिहार' के नियम से किया जा सकता है।

इस तरह, 'तद्भिन्नपरिहार' के नियम का महत्त्व 'तदात्मभाव' के नियम का समकक्ष है। शास्त्रीय तर्क के मार्ग मे यह नियम हमें किसी तरह आगे नही बढाते है, किंतु पहले ही इसको बिना स्वीकार किए हम उस मार्ग पर उतर भी नही सकते है।

'तद्भिन्नपरिहार' का नियम साधारणत इस सूत्र से प्रकट किया जाता है— 'क' 'नहीं-क' नही है। यहा दो वाक्यो का सम्बन्ध सूचित नही होता, किंतु यहा यह बताया गया है कि किसी वाक्य का विधेय उसके उद्देश के 'विरुद्ध' नही हो सकता। ऊपर हम देख चुके है कि बिना किसी वाक्य के सम्बन्ध मे समझे निषेध का कोई अर्थ नही है अत इस सूत्र से नियम खुलासा नही होता। हा, इस सूत्र को असिद्ध भी नही ठहरा

सकते, क्योकि उसको—कुछ 'क' 'नही-क' है—इस वाक्य के सम्बन्ध मे ला कर नियम को स्पष्ट समझ सकते है। अत:, उक्त सूत्र गौण रूप से ठीक ही है।

§ ४—झूठे हैं का कुतर्क[1]

निम्न तर्क की परीक्षा करे—

क्रीट द्वीप का निवासी **एपिमेनाइडेस्** कहता है कि, "उसके द्वीप के निवासी सभी झूठे है"।

तब, जो वह स्वय कहता है वह भी सत्य नही हो सकता।

अर्थात् उसके द्वीप के निवासी झूठे नही है।

यदि ऐसी बात है, तो उसका कहना सत्य होगा कि उसके द्वीप के निवासी सभी झूठे है।

तब, जो वह स्वय कहता है वह भी सत्य नही हो सकता..... —

समस्या

यह एक तर्क-चक्र हो गया जिससे छुटकारा नही मालूम होता। इसका समाधान बडा आसान होता, यदि **एपिमेनाइडेस्** के कथन का यह अर्थ ले कि **क्रीट** के निवासी **बहुधा** झूठ बोलते है, क्योकि कोई कितना बड़ा भी झूठा क्यो न हो वह कभी कभी सत्य भी तो अवश्य बोलता है। किंतु, यहा उसके कथन का अर्थ पूरी कडाई से ले, यह कि उसके द्वीप के रहने वाले सभी ऐसे झूठे है कि कभी सच नही बोलते।

फिर भी इसका समाधान बड़ा आसान होता, यदि इस कथन को असत्य मान ले। यह माने कि **एपिमेनाइडेस्** का कहना असत्य है क्योकि उसके द्वीप के रहने वाले कभी कभी सच भी बोलते है।

यदि यह सत्य मान कर चले कि **क्रीट** के निवासी कभी सत्य नही बोलते,

---

[1] The Sophism of "The Liar"

तो समस्या की जटिलता बढ जाती है। यह मानने मे कोई अन्तर्विरोध नही है, और यह मान कर चलने मे किसी बात की रुकावट नही है। तव, एपिमेनाइडेस् वैसा कथन मजे मे कर सकता है। और, क्योकि यह सत्य है इसलिए यह एक क्रीट का निवारी है जिसने सत्य कहा, और इसलिए यह असत्य है। इसकी अपनी सत्यता इसी की असत्यता सिद्ध करती है। किन्तु, फिर भी, क्यो कि यह सत्य है, एपिमेनाइडेस् सत्य नही बोल सकता, और इस लिए यह असत्य है। फिर भी वही बात हुई कि इसकी अपनी सत्यता से इसी की असत्यता सिद्ध हुई।

इस तर्क को इस प्रकार भी रख सकते है—यह बात सत्य मान कर चलें कि क्रीट के निवासी सदा सर्वत्र झूठ बोलते है। और तब, एपिमेनाइडेस् के इस कथन को लें। या तो वह सत्य बोलता है या असत्य। किंतु, यदि वह सत्य बोलता है तो फलित होता है कि वह झूठ बोलता है। और, यदि वह झूठ बोलता है तो अपने सत्य बोलने की पुष्टि करता है।

समाधान

यहा समस्या यह है कि यह तर्क देखने में निर्दोष मालूम होता हुआ भी ऐसा अन्तर्विरोधी निष्कर्ष क्यो उपस्थित करता है।।

यहा हमने ऐसे आधारवाक्य लिए जो अव्यक्त रूप से स्वय परस्पर विरोधी है, तर्क की प्रक्रिया से वही अन्तर्विरोध व्यक्त होकर प्रकट होता है। अन्तर्विरोध यह मानने में नही है कि क्रीट के रहनेवाले कभी कही भी सत्य नही बोलते। किंतु, यह मान कर, वही बात उस देश के एक निवासी के मुँह से कहलाने मे अन्तर्विरोध चला आता है। हम जो दो आधारवाक्य लेते है—(१) क्रीट के रहने वाले सदा सर्वत्र झूठ बोलते है, और (२) वही का रहने वाला एपिमेनाइडेस् ऐसा कहता है—दोनो एक साथ सत्य नही हो सकते।

§ ५—मध्ययोगपरिहार

दो 'विरुद्ध'[1] वाक्यो मे जो सम्बन्ध है उसका केवल एक अश 'तद्भिन्न-परिहार' नियम से प्रकट होता है, यह कि दोनो एक साथ सत्य नही हो सकते। इस सम्बन्ध का दूसरा अश 'मध्ययोगपरिहार' नियम से पूरा होता है, यह कि दोनो एक साथ असत्य भी नही हो सकते। इस तरह, ये दोनो नियम एक दूसरे के पूरक है।

'तद्भिन्नपरिहार' का नियम बताता है कि उन दो वाक्यो मे एक अवश्य असत्य होगा। 'मध्ययोगपरिहार' का नियम बताता है कि उनमें एक अवश्य सत्य होगा। एककी सत्यता दूसरे की असत्यता सिद्ध करेगी; और एक की असत्यता दूसरे की सत्यता सिद्ध करेगी। दोनो नियमो को मिला देने से निषेध का भाव पूर्णत व्यक्त होता है।

'मध्ययोगपरिहार' का साधारण सूत्र है—प्रत्येक 'क' या तो 'ख' है, या 'नही-ख' है।[2]

§ ६—'मध्ययोगपरिहार' पर आपत्ति

कुछ लोगो ने आपत्ति की है कि 'मध्ययोगपरिहार' का नियम सामान्य और व्यापक रूप से सत्य नही है। उन आपत्तियो का कारण प्रायः 'भेदकता' और 'विरोध' के बीच[3] जो अन्तर है उसका ग्रहण न कर सकना ही है।

कुछ लोग आपत्ति करते है कि सभी जगह मध्ययोग का परिहार नही कर सकते। जैसे—'छोटा' और 'बड़ा', इन दोनो मे एक बीच की अवस्था हो सकती है जो न छोटा हो न बडा हो। अथवा, 'सूरज उगा है'

---

[1] Contradictory.

[2] Every A is B or not-B.

[3] Between contrary and contradictory.

और 'सूरज नही उगा है', इन दोनो के वीच की एक अवस्था यह हो सकती है कि 'अभी सूरज आधे आध उगा है'।

यह कोई शास्त्रीय आपत्ति नही है। उन शव्दो के अर्थ ठीक ठीक निश्चित कर लें तो कोई कठिनाई नही होगी।

कभी कभी ऐसा भी होता है कि हम ठीक ठीक मालूम नही कर सकते कि यह है अथवा नही है। किसी रोगीके शरीर को छू करभी कभी कभी यह पता नही लगता है कि उसे ज्वर है या नही है। न तो यह कह सकते है कि 'है', और न यह कह सकते है कि 'नही है'। किंतु इस कठिनाई का कारण मेरा अपना अज्ञान है वैद्य नाडी की परीक्षा करके, या थरमा-मिटर लगा कर कह देगा कि उसे ज्वर है या नही है।

अतएव, इस सिलसिले मे यह स्मरण रखना आवश्यक है कि केवल 'विरुद्ध' वाक्यो के सम्वन्ध मे 'मध्ययोगपरिहार' का नियम सत्य होता है। तव कोई आपत्ति नही हो सकती।

§ ७—विचार की मर्यादा क्या विपय की भी मर्यादा है?

उक्त तीन नियमो के विषय मे इतना कह चुकने के वाद यह प्रश्न महत्व का नही रह जाता। हम देख चुके है कि ये नियम प्रामाणिक तथा सम्वद्ध विचार के मूल है, और यह कि इनकी सत्यता वाक्य के सम्वन्ध में सिद्ध होती है। फिर भी, सारी परीक्षा का सार इस प्रकार है—

किसी व्यक्त वाक्य मे जिस सत्य की स्थापना की जाती है वह काल या उपाधि से स्वतत्र होता है। अत, हमे इसकी छुट्टी नही है कि एक तर्क के सिलसिले मे किसी वाक्य को पहले स्वीकार करके आगे अस्वीकार कर दे। वाक्य की यह सम्बद्धता 'तदात्मभाव' के नियम से, और फिर 'तद्भिन्नपरिहार' के नियम से, व्यक्त होती है। उसी वात को पहला नियम विधानात्मक और दूसरा निषेधात्मक दृष्टि से देखता है। फिर, ऐसा कोई वाक्य नही है जिसमे विधि और निषेध दोनो के भाव न हो।

किसी वाक्य के पूरे अभिप्राय को समझने के लिए यह जानना होगा कि यह क्या विधान करता है, और यह भी कि यह क्या निषेध करता है। 'निषेध' का तात्पर्य क्या है यह 'तद्भिन्नपरिहार' और 'मध्ययोगपरिहार' दोनो की सयुक्त विधि से व्यक्त होता है।

इसका यह अर्थ हुआ कि बिना इन नियमो के पावन्द हुए हम विषय के ज्ञान मे अग्रसर नही हो सकते। किंतु, केवल वे नियम सीधे तौर से ज्ञान को किसी तरह नही बढाते। यह स्पष्ट है कि वे वाक्यसम्बन्धी नियम है। उनका सीधा सम्बन्ध उस विषय से नही है जिसके बारे मे वाक्य कहा गया है।

जब यह कहा जाता है कि 'विचार की मर्यादा वस्तु की भी मर्यादा है', तब उन नियमो का निर्देश अपने गौण अर्थ मे होता है। किंतु, इन नियमो से वस्तु-सम्बन्धी कोई ज्ञान नही होता और इनकी प्रामाणिकता वस्तु पर आश्रित नही है।

§ ८—नियमों में परस्पर सम्बन्ध

यदि अनन्तरानुमान की साधारण विधियो की प्रामाणिकता स्वीकार कर ले, तो यह दिखा सकते है कि तीनो एक दूसरे मे सन्निविष्ट है।

यह 'हेतुफलाश्रित' वाक्य ले—

यदि 'क' सत्य है, तो 'ख' भी सत्य है— (१)

इसके रूप होंगे—

यह नहीं हो सकता कि 'क' सत्य हो, और 'ख' सत्य न हो— (२)

अर्थात्

या तो 'ख' सत्य है, या 'क' सत्य नही है— (३)

अब, यदि 'ख' के बदले भी 'क' ही रखे, तो हमे ये समानार्थक वाक्य प्राप्त होते है—

यदि 'क' सत्य है, तो यह सत्य है :
यह नहीं हो सकता कि 'क' सत्य भी हो, और नहीं भी;
'क' या तो सत्य है, या नहीं सत्य है ।

इन वाक्यो से क्रमश 'तदात्मभाव', 'तद्भिन्नपरिहार' तथा 'मध्ययोग-परिहार' के नियम व्यक्त होते हैं ।

इस परीक्षा से यह साफ मालूम होता है कि इन नियमो में परस्पर कितनी घनिष्टता है । किंतु, यदि इस कारण ऐसा मान लें कि इनमें एक ही प्रधान है और दूसरे दो तज्जन्य है, तो बडी भूल होगी । यथार्थ मे, विचार की मर्यादा के ये नियम सभी प्रमाण के आधार है । यदि इन नियमो को पहले ही हम स्वीकार न कर लेते तो उनकी इस समानार्थकता को भी नही समझ सकते ।

§ ९—अनन्तरानुमान से इन नियमों का सम्बन्ध

यह स्वीकार कर लेने पर कि ये नियम सारे प्रमाण के आधार हैं, एक दूसरा प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या केवल इन्हीं के बल पर कोई अनुमान प्रामाणिक सिद्ध हो सकता है ?

तर्कशास्त्री हैमिल्टन का कहना है कि सारे शास्त्रीय विधान का सिद्धान्त 'तदात्मभाव', सारे शास्त्रीय निषेध का सिद्धान्त 'तद्भिन्नपरिहार', और सारे शास्त्रीय विकल्प का सिद्धान्त 'मध्ययोगपरिहार' है । यहा शास्त्रीय विधान, निषेध या विकल्प का अर्थ 'विषय' के सम्बन्ध में नही, किंतु केवल 'रूप' के सम्बन्ध में है । हैमिल्टन के अनुसार ये तीनो नियम वाक्य के विधानात्मक, निषेधात्मक तथा वैकल्पिक रूपो का समर्थन करते हैं ।

विधान, निषेध और विकल्प—वाक्य का यह नया विभाजन विचित्र मालूम होता है । इसमे 'विभाग-सकर' है । प्रश्न होता है कि इन जैसे हेतुफलाश्रित वाक्यो के रूप को किस विभाग मे रखेगे—(१) यदि यह

सत्य है कि जो कुछ 'उ' है वह 'वि' भी है, तब यह भी सत्य है कि जो कुछ 'वि' नहीं है वह 'उ' भी नहीं है : (२) यदि यह सत्य है कि सभी 'उ' 'हे' है, और यह कि सभी 'हे' 'वि' है, तब यह भी सत्य है कि सभी 'उ' 'वि' है।

क्योकि ये सभी वाक्य विधानात्मक है, इन्हे 'तदात्मभाव' नियम मे अन्तर्गत होना चाहिए; और, क्योकि किसी भी अनुमान के रूप का सिद्धान्त ऊपर ही जैसे वाक्य के रूप मे व्यक्त किया जा सकता है, हम देखते है कि हैमिल्टन यह मत स्थापित करता है कि इन तीन नियमो मे (कम से कम 'तदात्मभाव' मे) एक पूरा आधार है जिस पर सभी शास्त्रीय अनुमान आश्रित हो सकते हैं।

सब से पहले, विशेष कर अनन्तरानुमानो के सम्बन्ध मे संक्षेपतः इस मत की परीक्षा करे:—

यह स्वीकार कर सकते है कि अनन्तरानुमान की 'परिवर्तन-विधि' पूर्णत 'तद्भिन्नपरिहार' और 'मध्ययोगपरिहार' के नियमो पर आश्रित है। सभी 'क' 'ख' है, इस वाक्य से कोई 'क' 'नहीं-ख' नहीं है यह निष्कर्ष 'तद्भिन्नपरिहार' के नियम से निकालते है। और, कोई 'क' 'ख' नहीं है, इस वाक्य से सभी 'क' 'नहीं-ख' है, यह निष्कर्ष 'मध्ययोगपरिहार' के नियम से निकालते है।

किंतु, 'व्यत्यय' और 'परिवर्तित व्यत्यय' की विधियो के साथ दूसरी बात है। यदि इन्हे पूर्ण रूप से इन तीन नियमो पर आश्रित करने का प्रयत्न करे तो या तो प्रतिज्ञा मात्र होगी, या इन विधियो के अनुमान होने का सर्वथा अपलाप होगा।

तर्कशास्त्री डी मोरगन लिखता है, "कोई लेखक यह दिखाने का प्रयत्न करे कि किस प्रकार व्यत्ययविधि की योग्यता का अनुभव—यह कि 'क' 'ख' है से 'ख' 'क' है सिद्ध होता है—इन्ही तीन नियमो से फलित होता है, तो मै उस पर विचार कर सकूँ। अभी तो, मै यही देखता हू कि दूसरे केवल इसकी प्रतिज्ञा भर करने के अलावा और कुछ नही करते;

और मैं स्वय जब कभी यह प्रयत्न करता हू तो स्वाश्रय दोष हुआ ज्ञात होता है।" Syllabus of Logic, p 47

व्यत्यय-विधि की प्रामाणिकता सिद्ध करने के प्रयत्न मे यह देखना चाहिए कि उसकी सिद्धि में यह निहित है या नही कि 'ओ' वाक्य का व्यत्यय हो ही नही सकता, और 'आ' वाक्य का व्यत्यय 'विषम-विधि' से होगा ? हा, और हमे यह मानने का कोई अधिकार नही है कि जिस किसी सुस्पष्ट सिद्धान्त की हम सहायता ले वह 'तदात्मभाव' का ही नियम होगा।

उदाहरण के लिए, 'तदात्मभाव' के बल पर 'आ' तथा 'ई' वाक्यो के व्यत्यय की स्थापना करने के इस प्रयत्न को देखे—सभी विधानात्मक वाक्य यह प्रतिज्ञा करते है कि ऐसी कुछ चीजे है जिनमे उद्देश और विधेय दोनो के स्वभाव-धर्म प्राप्त है। इस तरह, 'तदात्मभाव' का नियम विधानात्मक वाक्य के व्यत्यय की पुष्टि करता है। क्योकि यदि 'क' नामक व्यक्तियो मे 'ख' नामक धर्म प्राप्त है, तो 'तदात्मभाव' के नियम के अनुसार सिद्ध होता है कि कुछ चीजे जिनमे वह धर्म प्राप्त है 'क' नामक व्यक्तिया है। ऐसा कहते तो है, किंतु जरा यह भी विचार करें कि वह नियम यहा किस प्रकार लागू होता है। चाहे कुछ भी तर्क दे, मतलब यही होगा कि व्यत्यय की प्रामाणिकता स्वय सुस्पष्ट है। तब, "तदात्मभाव के नियम के अनुसार सिद्ध होता है" यह कहने के बदले यही क्यो न कहा जाय कि "यह स्वय सुस्पष्ट है" ?

यदि सारे अनन्तरानुमान को वाक्यान्तर-करण को छोड और कुछ न माने, तो अलबत्ता कह सकते है कि इनका आधार 'तदात्मभाव' का नियम है। देख चुके है कि मिल महोदय इसी मत की पुष्टि करते है— "एक प्रकार की शब्द-योजना मे कही गई जो बात सत्य है वह उन सभी प्रकार की शब्द-योजनाओ मे सत्य होगी जो उसी अर्थ को व्यक्त करती है।" किंतु, यदि व्यत्यय, या कोई भी अनन्तरानुमान, वाक्यान्तरकरण मात्र नही है, तो व्यत्येय और व्यत्यस्त की समानता सिद्ध करना रह जाता है।

§ १०—परंपरानुमान से इन नियमों का सम्बन्ध

तर्कशास्त्री **मैनसेल** का मत है कि न्यायवाक्य पूर्ण रूप से इन तीन नियमो पर आश्रित है। उसका कहना है कि किसी भी क्रम के विधानात्मक सिद्ध-सयोगों पर 'तदात्मभाव' का नियम, और निषेधात्मक पर 'तद्भिन्न-परिहार' का नियम लागू होता है।[1] न्यायवाक्य के अवयव-वाक्यो के विधेय के अश का निश्चय करके विधानात्मक सयोगो मे—इस स्वयसिद्ध को कि "किसी प्रत्यय के अश या पूरे के साथ जिसका तदात्म होता है, उसका तदात्म उसके अश या पूरे के साथ भी होगा जो उस प्रत्यय से तदात्म है" लागू कर उक्त मत की सिद्धि होती है। निषेधात्मक सयोगो मे इस स्वयसिद्ध को लागू करना होगा कि "यदि सभी या कुछ 'ख' का 'क' से तदात्म हो, तो उसका (='क' का) सभी या कुछ उसके पूरे से पृथक् होगा जो सभी 'ख' से पृथक् है।"

मैनसेल के ये सूत्र स्पष्टत 'तदात्मभाव' और 'तद्भिन्नपरिहार' के नियमो के साधारण स्वरूप मे भिन्न हो जाते हैं। वे तो **अरस्तू** के "डिक्टम् डि ओम्नि एट् नल्लो" (देखिए पृ० २००) सिद्धान्त के समान हो जाते हैं। हा, यदि यह मान ले कि **अरस्तू** का यह सिद्धान्त 'तदात्मभाव' और 'तद्भिन्न-परिहार' के नियमो को ही व्यक्त करने का एक प्रकार है, तो इस पर और विचार करने की आवश्यकता नही। किंतु, तब हम 'तदात्मभाव' और 'तद्भिन्नपरिहार' को क्रमश· इस प्रकार व्यक्त नही कर सकते कि—जो सत्य है वह सत्य है, या 'क' 'क' है : और यदि एक वाक्य सत्य है तो उसका विरुद्ध असत्य है, या 'क' 'नही-क' नही है। न्यायवाक्य का आधारभूत जो सिद्धान्त है वह 'तदात्मभाव' और 'तद्भिन्नपरिहार' के उक्त रूपो से व्यक्त नही होता। ये हेतुपद के व्यापार को उपस्थित नही करते, जो

---

[1] Prolegomena Logic, p. 222

न्यायवाक्य की अपनी विशेषता है और, न तो इनसे न्यायवाक्य के नियम निकाले जा सकते हैं।

हा, यह कहा जा सकता है कि विचार की मर्यादा के नियमो की पूर्वस्वीकृति न्यायवाक्य या किसी भी अनुमान के लिए आवश्यक है। प्रतिलोमविधि से रूपान्तरकरण की विधि मे, न्यायवाक्य के सिद्धान्त मे जिसका प्रमुख स्थान है, ये नियम साफ तौर पर उपस्थित होते हैं।

२—परिशिष्ट

नाम, पद और प्रत्यय

कुछ तर्कशास्त्रियो ने 'पद' के बदले 'नाम' शब्द का ही प्रयोग करना अच्छा समझा है। हौब्स 'नाम' का लक्षण इस प्रकार करता है—"नाम वह शब्द है जिसे हम अपनी इच्छा से किसी विशेष सकेत के लिए ग्रहण कर लेते है, जो हमारे मन मे एक वैसा ही विचार उद्‌बुद्ध कर देता है जैसा पहले हुआ था; और जिसके कथन से दूसरो को भी वह सकेत हो जाता है जिसका विचार वक्ता के मन के सामने था या नही था।" कुछ लोगो ने 'पद' शब्द पर भी यही लक्षण लागू करना चाहा है। यदि उक्त लक्षण मे से 'या नही था' इतना निकाल दे तो 'नाम' का तात्पर्य इससे अच्छा व्यक्त हो जाता है, किंतु इससे 'पद' का लक्षण ठीक नही होता। क्योकि, जिस किसी शब्द या शब्द-समूह से कोई चीज पुकारी जाय वह उसका 'पद' तो होगा, किंतु उसका 'नाम' नही भी हो सकता है। "इसे क्या कहते है?" इस प्रश्न के उत्तर मे जो शब्द कहे वही उसका नाम है। यदि वह चीज कोई व्यक्ति-विशेष द्रव्य हो, तो वह शब्द हमारे विचार को उस व्यक्ति-विशेष की ओर निर्देश भर कर देगा, चाहे वह कुछ भी हो। और, यदि किसी नाम से हमारा ध्यान इस ओर भी खिचे कि वह चीज क्या है जिसके विषय मे हमे विचारना है, तो वह शब्द उसकी किसी विशेषता या गुण को नही व्यक्त करेगा, किंतु वह उसके अपने तात्विक स्वरूप को बतावेगा। पहली अवस्था मे, वह व्यक्तिवाचक सज्ञाये होगा, जैसे—गोपाल, गगा, भारतवर्ष इत्यादि। दूसरी अवस्था मे, वह जातिवाचक संज्ञा होगा, जैसे—मनुष्य, नदी, लोहा इत्यादि; अथवा प्रकार, धर्म या सम्बन्ध का नाम होगा, जैसे—मनुष्यता, द्वेष, दूरी इत्यादि। किंतु, ऐसा शब्द नाम

नहीं कहा जा सकता जो किसी विषय के लिए प्रयुक्त होकर बताये कि उसमें क्या गुण या सम्बन्ध है, अथवा उन्हीं के लिए प्रयुक्त होकर बताये कि वह किस विषय में रहते हैं, अथवा उनके बारे में और कुछ भी। 'महान् सेनानि' सुभाषचन्द्र बोस का नाम नहीं है; 'काकोरी की डकैती' साहस का नाम नहीं है; 'परम उपादेय' धन का नाम नहीं है; 'लगातार' परिमाण का नाम नहीं है। कस्तूरी हरिण की नाभी में पाई जाती है—इस वाक्य में 'कस्तूरी' एक द्रव्य का नाम है, किंतु 'हरिण की नाभी में पाई जाती' कोई नाम नहीं है; किन्तु ये दोनों इस वाक्य के 'पद' हैं।

यदि 'विचार-पद' व्यक्तिविशेष का न बोध कर किसी सामान्य का बोध करता हो तो वह 'प्रत्यय' कहा जाता है । 'प्रत्यय' शब्द से बराबर उस विषय का बोध होता है जिसका विचार है, उससे उसके नाम का कभी बोध नही होता ।

'प्रत्यय' के अर्थ मे 'कल्पना' शब्द का भी प्रयोग होता है। बौद्ध दर्शन मे तो इस अर्थ मे 'कल्पना' शब्द का ही प्रयोग हुआ है । साधारण भाषा मे 'कल्पना' शब्द का अर्थ उस मानसिक प्रक्रिया से भी है और उस विचार से भी । अत, यहा इस द्वयर्थक शब्द को छोड 'प्रत्यय' का ही प्रयोग करना अच्छा होगा ।

'प्रत्यय' और 'विचार-पद' एक ही चीज नही है, क्योकि व्यक्ति-विशेष द्रव्य विचार-पद तो हो सकता है किंतु प्रत्यय नही हो सकता । जैसे, गङ्गा बनारस हो कर बहती है, इस वाक्य मे 'गङ्गा' विचार-पद तो है क्योकि इसे हम देख या विचार सकते है, किंतु यह प्रत्यय नही है क्योकि हम इसकी कल्पना (=प्रत्ययन) नही करते । तथापि हमारे विचार के अनेकानेक पद प्रत्यय है । तर्कशास्त्र मे उनका क्या व्यापार है इसकी परीक्षा करनी चाहिए ।

'वाक्य' मात्र पर एक पुरानी आपत्ति यह है कि जब इसके उद्देश और विधेय अलग अलग है तब यह कैसे सत्य हो सकता है ? 'तदात्मभाव' के नियम के अनुसार कोई चीज नही है जो वह है, तब उद्देश विधेय कैसे होगा ? अर्थात्, 'क' 'ख' है, यह वाक्य ही नही बनेगा, क्योकि तदात्मभाव के अनुसार 'क' 'क' ही होगा 'ख' नही ।[1]

किंतु यदि हम एकता मे भेद बिल्कुल न देखे तो विचार की कोई क्रिया हो ही नही सकती । तर्कशास्त्र और तत्वशास्त्र दोनो के लिए

---

[1] इस समस्या को सर्व-प्रथम युनान के सिनिक दार्शनिक ऐण्टिस्थेनेस् ने उपस्थित किया था, जिसका काल ई० पू० ४ थी शताब्दी है ।

'एक मे अनेक, और अनेक मे एक' की समस्या बडी पुरानी है । 'क' 'ख' है, वाक्य के इस रूप में हम बराबर विचार करते है, अत इसकी परीक्षा करनी होगी कि इस रूप का क्या तात्पर्य है ।

वाक्य के निम्न उदाहरणो पर ध्यान दे—

(१) गोपाल चतुर है, (२) राजा गिरफ्तार है, (३) आम एक फल है, (४) आज्ञा-पालन बलिदान से अच्छा है, और (५) अदत्तादान करना चोरी करना है ।

पहले वाक्य में विधेय उद्देश की पूरी बात में से एक बात है, किंतु उद्देश का निर्देश एक ऐसे नाम से किया गया है जो उसकी किसी और बात को नही बताता ।

दूसरे वाक्य में फिर भी विधेय उद्देश की पूरी बात में से एक ही बात है, किंतु उद्देश का निर्देश एक ऐसे नाम से किया गया है जो उसकी एक और बात बताता है ।

दोनो वाक्यो मे विधेय प्रत्यय है, और उद्देश व्यक्तिविशेष द्रव्य है । किंतु दूसरे में उद्देश द्रव्य होने के अलावे प्रत्यय भी है, यह उद्देश-प्रत्यय उस व्यक्ति की पूरी बात मे से एक बात है ।

तीसरे वाक्य में फिर भी उद्देश एक द्रव्य है, और वह प्रत्यय है, किंतु वह उस चीज की कोई विशेष बात नही है, किंतु वह उसका तात्विक स्वरूप है । इसमे विधेय भी उद्देश की कोई विशेष बात नही बताता, किंतु वह उद्देश-प्रत्यय का सामान्य है ।

इस तरह, पहला वाक्य गोपाल का एक धर्म—चतुरता—बताता तो है, किंतु उसका अर्थ यह नही है कि गोपाल होना चतुरता है । दूसरे का भी यह अर्थ नही है कि राजा होना गिरफ्तार होना है । किंतु तीसरे का तो यह अर्थ है कि आम होना एक फल होना है ।

चौथे वाक्य में उद्देश एक द्रव्य नही किंतु एक प्रत्यय है, जिसकी हम कल्पना करते है । उसका विधेय भी वैसा ही है, किंतु यह उद्देश-प्रत्यय

का सामान्य नही है । और, इस वाक्य का यह अर्थ नही है कि आज्ञापालन बलिदान-से-अच्छाई है ।

पाँचवें वाक्य में चौथे की तरह, उद्देश प्रत्यय है, विधेय-प्रत्यय इसका (उद्देश का) सामान्य है, और वाक्य का यह अर्थ होता है कि अदत्तादान करना चोरी करना है ।

अब इन उदाहरणो की परीक्षा से हम इन बातो पर ध्यान दें—(१) प्रत्यय धर्म होते है (यह आवश्यक नही कि हम उनका प्रत्यक्ष कर सके) जिन्हे हम व्यक्तिविशेषो मे पाते है · (२) वे ऐसे भी धर्म हो सकते है कि इन व्यक्तियो की अवस्था को पूरी तरह ढक ले, या उसकी कुछ बाते भर बतावे (३) एक धर्म दूसरे धर्म को पूरा पूरा व्याप्त कर सकता है, या उसका सामान्य हो सकता है · (४) जहा विधेय-धर्म उद्देश, या उद्देश-प्रत्यय को पूरा पूरा व्याप्त कर लेता है, वहा स्वभावत विधेय उद्देश है, यह नही कि उद्देश-धर्म से जो व्यक्त होता है वह विधेय-धर्म से केवल पुकारा जा सके (एक आम एक फल है, एक अदत्तादायी एक चोर है), किंतु जो उद्देश-धर्म है वही विधेय-धर्म है (आम होना फल होना है, अदत्ता-दान करना चोरी करना है) (५) जहा विधेय-धर्म उद्देश की केवल एक बात बताता है—उद्देश या तो व्यक्तिविशेष हो या धर्म हो—वहा विधेय स्वभावत उद्देश नही है विधेय-धर्म उद्देश का प्रासगिक हो या उद्देश-धर्म का उसी व्यक्ति मे समव्याप्तिक हो । और भले ही उद्देश, या उद्देश-धर्म से व्यक्त हुआ, विधेय-धर्म से व्यक्त हो, उद्देश या उद्देश-धर्म विधेय-धर्म नही है (गोपाल चतुराई नही है, राजा होना गिरफ्तार होना नही है, आज्ञापालन बलिदान से अच्छा होना नही है) ।

इस तरह, वाक्य के विचार-पदो मे प्रत्यय भी सम्मिलित होते है, किंतु विचार-पद व्यक्तिविशेष भी हो सकते है । किंतु, इन विचार-पदों का, चाहे व्यक्तिविशेष हो या प्रत्यय, सभी वाक्य मे समान सम्बन्ध नहीं

होते—भले ही भाषा के रूप उद्देश और विधेय के सम्बन्ध के भेदो को बराबर खोल न सकते हो।

हम देख चुके है कि 'प्रत्यय' किसी चीज का धर्म है, यह कोई व्यक्ति-विशेष नही है। किसी एक खास प्रत्यक्ष गुण (जैसे, इस स्याही का कालापन) का भी प्रत्यय नही होता। हा, उस जाति या सामान्य का प्रत्यय हो सकता है जिसका यह एक विशेष उदाहरण है। केवल अपने विचार के व्यापार से हम सामान्य रग की कल्पना कर सकते है जो काला, लाल, पीला सभी मे समान रूप से प्राप्त है। केवल अपने विचार के व्यापार से ही हम सामान्य कालापन की कल्पना कर सकते है जो सभी काली स्याहियो में समान है। अत,' 'प्रत्ययो' का प्रत्यक्ष नही हो सकता। किंतु, यह समझ लेना गलत होगा कि क्यो कि उनका प्रत्यक्ष नही हो सकता इसलिए उनकी सत्ता हमारे मनसे स्वतत्र नही है, और यह कि वे कल्पित है। हमारे जो प्रत्यय है, जिनके विषय मे हम विधान या निषेध करते है, वे यदि वैसी चीज़े न हुई तो हमारा विचार करना निरर्थक होगा इसका कोई फल नही निकल सकता। मान ले कि पढ कर या और किसी तरह कोई यह मालूम कर ले कि जिब्राल्टर अगरेजो के आधीन है। तो, उसके वाक्य का विषय भूमध्यसागर के मुह पर स्थित एक चट्टान और उसके विषय मे एक वर्तमान ऐतिहासिक बात है। यह साफ है कि चट्टान की सत्ता उसके विचार करने से स्वतत्र है। किंतु यह भी उसके विचार करने से स्वतत्र है कि चट्टान पर अगरेजो का अधिकार है; यदि ऐसा नही होता तो उसका वाक्य सत्य नही होता। तो भी उस पर किन्ही का अधिकार होना प्रत्यक्ष का विषय नहीं है।

३—परिशिष्ट

तर्कशास्त्र में चित्री-करण

ऊपर हम देख चुके है कि वाक्य के रूपो को समझने मे किस प्रकार चित्रों का उपयोग किया जा सकता है। स्विट्जरलैण्ड के एक प्रसिद्ध गणितज्ञ तथा तर्कशास्त्री लियोनहर्ड युलर ने (ई० १७०७–१७८३) चित्री-करण की जो विधि बताई उसका प्रचार अधिक हुआ है। वह इस प्रकार है—

पदो के व्यक्तिबोध को यदि चक्रो से सूचित करे तो देखेगे कि निम्न पाँच चित्रो मे किन्ही दो पदो के सभी सम्भव सम्बन्ध सूचित किए जा सकते है—
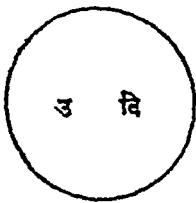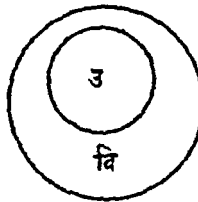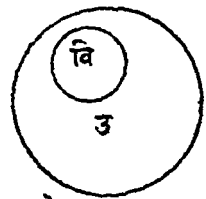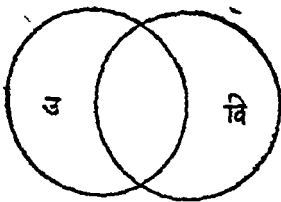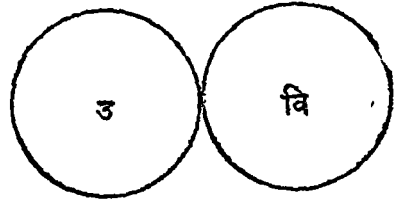
'आ' वाक्य—सभी 'उ' 'वि' है—केवल पहले दो चित्रो मे व्यक्त हो मकता है ।

'ए' वाक्य—कोई 'उ' 'वि' नही है—केवल अन्तिम चित्र मे व्यक्त होता है ।

'ई' वाक्य—कुछ 'उ' 'वि' है—अन्तिम को छोड पहले चारो चित्रो मे व्यक्त हो सकता है । यहा यह स्मरण रखना आवश्यक है कि इस वाक्य मे 'कुछ का अर्थ यह नही है कि 'कुछ ही' किंतु इसका अर्थ है कि, **कम से कम कुछ** । कुछ 'उ' 'वि' है—यह वाक्य इतना भर सूचित करता है कि वक्ता को सभी 'उ' के विषय मे जानकारी नही है । हो सकता है कि सभी 'उ' 'वि' हो, किंतु यहा वक्ता को केवल कुछ ही 'उ' के 'वि' होने की बात मालूम है । अत उक्त वाक्य का अर्थ यह नही है कि, कुछ ही 'उ' 'वि' है, किंतु इसका अर्थ यह है कि, **कम से कम** कुछ 'उ' 'वि' अवश्य है हो सकता है कि सभी 'उ' 'वि' हो, किंतु वक्ता को यह मालूम नही । इसी कारण, यह वाक्य पहले और दूसरे चित्रो से भी व्यक्त किया जा मकता है ।

'ओ' वाक्य—कुछ 'उ' 'वि' नही है—पहले दो को छोड शेष तीन चित्रो मे व्यक्त हो सकता है ।

इस चित्रीकरण मे सबसे बडी कठिनाई इस कारण होती है कि एक ही चित्र से वाक्य के दो भिन्न रूपो का भी व्यक्त होना सम्भव होता है । अत किसी चित्र को देख कर ही यह नही कहा जा सकता कि इसका अर्थ क्या है । फिर भी, इन स्थानो मे इनका बडा उपयोग है—

(१) किसी वाक्य मे विधेय का अश निश्चय करने मे । वाक्य के चार रूपो को निम्न प्रकार देखे, जिनके विधेय का वह भाग काला कर दिया गया है जिसके विषय मे यहा कहना अभिप्रेत है—
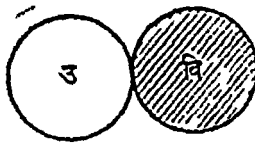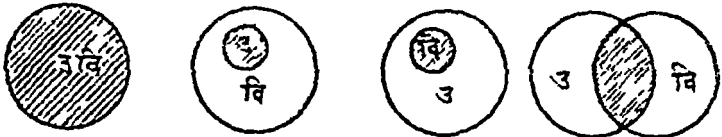
इन्हे देखने से पता चलता है कि 'अ' और 'ई' वाक्यो के विधेय कुछ अवस्थाओ मे केवल एक ही अश मे काले है, किंतु 'ए' और 'ओ' वाक्यो के विधेय सभी अवस्थाओ मे पूर्णत काले है। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि निषेधात्मक वाक्यो के विधेय सर्वथा सर्वांशी होते है, किंतु विधानात्मक वाक्यो के विधेय वैसे नही होते।

(२) वाक्यो के परस्पर भेद को व्यक्त करने मे भी इन चित्रो का बडा उपयोग है। 'आ' और 'ओ', इन दो विरुद्ध वाक्यो के चित्रो को देखने से साफ पता चलता है कि (क) इनमे कोई चित्र समान नही है, और यह कि (ख) इनमे सभी सम्भव चित्र चले आते है, कोई छूटता नही। यह इस बात को बडा साफ कर देता है कि दो विरुद्ध वाक्य एक साथ सत्य नही हो सकते, और यह कि उनमे एक अवश्य सत्य होगा। फिर, 'आ'

और 'ई', इन दो 'समावेश वाक्यो' के चित्रो को देखने से मालूम होता है कि पहले मे वह बात आ गई है जो दूसरे मे है, बल्कि उससे अधिक बात भी, क्योकि उसमे और अधिक सम्भव सयोगो की गुजायश नही है। इसी तरह, दूसरे भेद भी समझे जा सकते है।

(३) वाक्यो के व्यत्यस्त रूप क्या होगे यह समझने मे भी यह चित्रीकरण सहायक हो सकता है। 'आ' वाक्य का 'विषम व्यत्यय' ही हो सकता है, यह इस चित्र से भली भाति समझ मे आ जाता है। 'आ' वाक्य—सभी 'उ' 'वि' है—के यही दो चित्र हो सकते है—
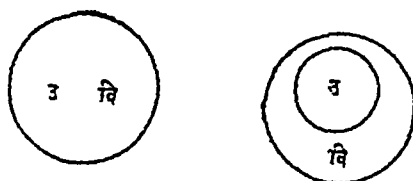
इनसे हम 'वि' के विषय मे क्या जान सकते है? पहले चित्र के अनुसार तो—सभी 'वि' 'उ' है। किंतु दूसरे के अनुसार—कुछ 'वि' 'उ' है। किसी अवस्था मे हमे पता नही हो सकता है कि वहा इनमे कौन सत्य है; अत इतना ही कहा जा सकता है कि—कुछ 'वि' 'उ' है।

फिर, इस चित्रीकरण से यह भी साफ समझ सकते है कि 'ओ' वाक्य का कैसे व्यत्यय हो नही सकता। कुछ 'उ' 'वि' नही है—इस वाक्य को केवल इन चित्रो मे व्यक्त कर सकते है—
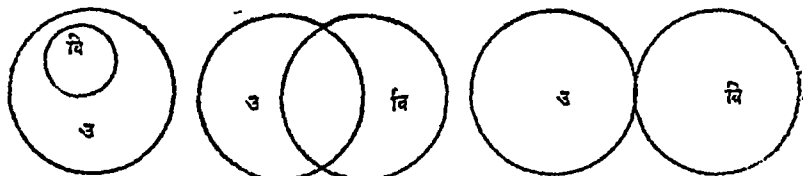
इन चित्रो को देखने से 'वि' के विषय मे क्या ज्ञात होता है? तीनो के अर्थ इस प्रकार होते हैं—(क) सभी 'वि' 'उ' है, (ख) कुछ 'वि' 'उ' है; तथा कुछ 'वि' 'उ' नही है; (ग) कोई 'वि' 'उ' नही है। इन अर्थों मे बडी असगति मालूम होती है। तब, 'वि' के साथ सत्य होने वाली किसी बात का पता नही लगता।

(४) अनन्तरानुमान के दूसरे मिश्र रूपो को भी समझने मे चित्रों का उपयोग है। उदाहरणार्थ, सभी 'उ' 'वि' है, इस वाक्य को ले कर पूछ सकते है कि इसके आधार पर 'नही-उ' या 'नही-वि' के विषय में क्या जान सकते है? इस वाक्य के यही दो चित्र हो सकते है—
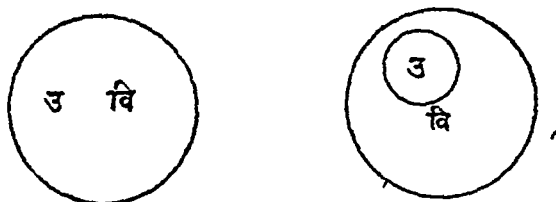
इन चित्रो से 'नही-वि' के विषय मे ज्ञात होता है कि—(क) कोई 'नही-वि' 'उ' नही है, (ख) कोई 'नही-वि' 'उ' नही है।

और, 'नही-उ' के विषय मे ज्ञात होता है कि—(क) कोई 'नही-उ' 'वि' नही है; (ख) कुछ 'नही-उ' 'वि' नही है। इस तरह, किसी भी अवस्था में निष्कर्ष निकल सकता है कि—कुछ 'नही-उ' 'वि' नही है।

'ए', 'ई', 'ओ' वाक्यो के विषय मे भी चित्रीकरण का यही उपयोग किया जा सकता है।

(५) न्यायवाक्य की सिद्धि या असिद्धि समझने मे भी इन चित्रो का उपयोग होता है। 'वार्बारा' के सिद्ध रूप का चित्रीकरण करके देखे। उसका रूप है—

सभी 'हे' 'वि' है,

सभी 'उ' 'हे' है,

सभी 'उ' 'वि' है।

इसके आधारवाक्यो के चित्र इस प्रकार होगे—
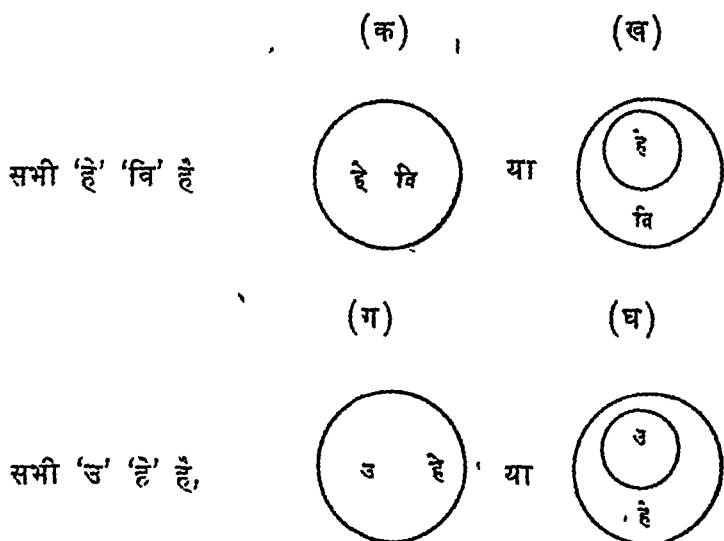
इनके आधार पर निष्कर्ष निकालने के लिए इन चित्रो को परस्पर मिला कर देखना होगा कि सभी अवस्थाओ में 'उ' और 'वि' का क्या सम्बन्ध ठीक ठहरता है। जो होगा वही निष्कर्ष है। इनके चार सयोग होगे—
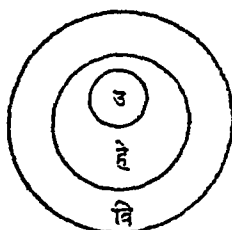
इन अवस्थाओ मे 'उ' या तो 'वि' को पूरा-पूरा छाप लेता है, या उसके अन्तर्गत होता है । अत इनके आधार पर निष्कर्ष निकलता है कि—सभी 'उ' 'वि' है ।

फिर, एक दूसरा उदाहरण सिद्ध न्यायवाक्य 'वोकार्डो' का ले, जो वडा जटिल प्रतीत होगा । इसके आधारवाक्य है—

कुछ 'हे' 'वि नहीं है,

सभी 'हे' 'उ' है,

यहा, विधेयवाक्य के निम्न तीन चित्र होगे—
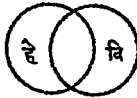
और, उद्देगवाक्य के निम्न दो चित्र होंगे—

इनको परस्पर मिलने से छ संयोग होंगे—

ख+च=

ग+घ=

ग+च=
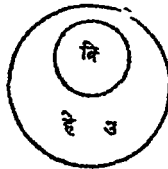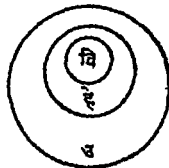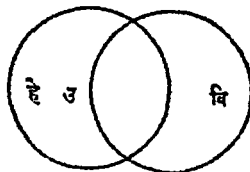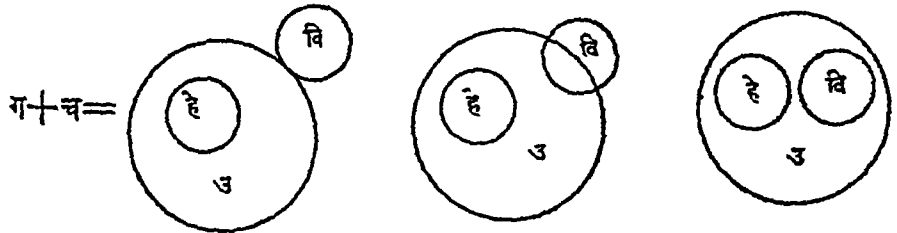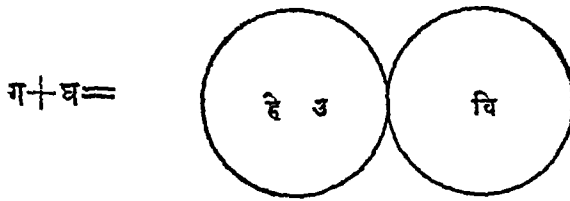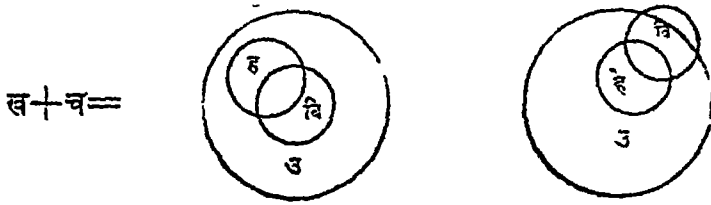
यदि 'हे' का विचार छोड़ दें, तो ऊपर के नव चित्रों में से 'उ' और 'वि' के सम्बन्ध के सूचक केवल तीन ही रह जाते हैं—
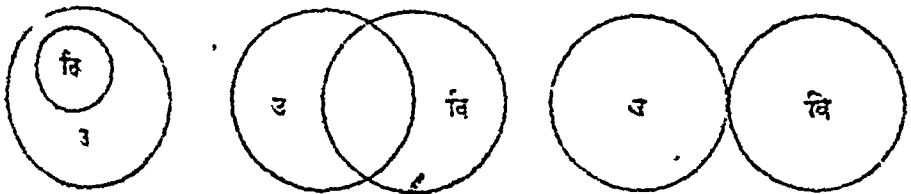
इनके आधार पर यही निष्कर्ष निकलता है कि—कुछ 'उ' 'वि' नहीं है।

४—परिशिष्ट

अनन्तरानुमान

§ १—अरस्तू द्वारा प्रामाणिकता का प्रतिपादन

अरस्तू 'ए' वाक्य के व्यत्यय की प्रामाणिकता प्रतिलोम विधि से सिद्ध करता है। कोई 'क' 'ख' नही है, कोई 'ख' 'क' नही है, क्योकि यदि यह नही होता तो कोई 'ख'—मान ले 'ग'—'क' होता। तब 'ग' 'क' भी होता और 'ख' भी। किंतु यह मूल वाक्य के प्रतिकूल हो जाता है।

इसी तरह वह 'आ' वाक्य का व्यत्यय भी प्रामाणिक सिद्ध करता है। सभी 'क' 'ख' है, . कुछ 'ख' 'क' है। यदि यह निष्कर्ष ठीक नही है, तो इसका विरुद्ध रूप—कोई 'ख' 'क' नही है—ठीक होगा। इसका व्यत्यय होगा—कोई 'क' 'ख' नही है। किंतु यह मूल आधारवाक्य के प्रतिकूल है, अत. ठीक नही हो सकता। इससे सिद्ध हुआ कि वह निष्कर्ष ठीक था। इसी तरह, 'ई' वाक्य के व्यत्यय की भी प्रामाणिकता सिद्ध की जा सकती है।

अरस्तू के इस प्रयास मे कोई बल नही है। विरोध और मध्ययोग परिहार के सिद्धान्तो को छोड इस साधन मे और कुछ नही है। इसमे सबसे बडा दोष यह है कि अनन्तरानुमान की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए वह उसी का आधार ग्रहण करता है।

§ २—अनन्तरानुमान का परंपरानुमान में रूपान्तर

केवल एक आधारवाक्य से निष्कर्ष निकालने की विधि को अनन्तरानुमान, और अनेक आधारवाक्यो से निष्कर्ष निकालने की विधि को

परंपरानुमान कहते हैं। यहां यह विचार करें कि अनन्तरानुमान की प्रामाणिकता परंपरानुमान के सहारे कहां तक करना सम्भव है।

(१) एक प्राचीन यूनानी तर्कशास्त्री, अफ्रोडिसियस का अलक्-जेण्डर, 'ए' वाक्य के व्यत्यय को सिद्ध न्यायवाक्य 'फेरिओ' के रूप में ला कर इस तरह सिद्ध करता है—

व्यत्येय 'ए' वाक्य—कोई 'क' 'ख' नहीं है,

∴ कोई 'ख' 'क' नहीं है।

यदि यह निष्कर्ष ठीक नहीं है तो इसका विरुद्ध रूप—कुछ 'ख' 'क' है—ठीक होगा और तब यह न्यायवाक्य उपस्थित होता है—

कोई 'क' 'ख' नहीं है,
कुछ 'ख' 'क' है,
कुछ 'ख' 'ख' नहीं है।

यह असम्भव है। अतः ऊपर का निष्कर्ष ठीक था।

(२) अरस्तू ने जो 'ए' वाक्य के व्यत्यय को सिद्ध करने की कोशिश की है उसमें भी एक न्यायवाक्य बन जाता है—

'ग' 'ख' है,
'ग' 'क' है,
कुछ 'क' 'ख' है।

(३) 'आ' वाक्य के परिवर्तित-व्यत्यय को 'कामेनेस्' न्यायवाक्य के रूप में इस तरह ला कर सिद्ध कर सकते हैं—

सभी 'क' 'ख' हैं,
कोई 'नहीं-ख' 'ख' नहीं है,
कोई 'नहीं-ख' 'क' नहीं है।

अथवा

प्रतिलोम विधि से—

सभी 'क' 'ख' है,
∴ कोई 'नही-ख' 'क' नही है।

यदि यह निष्कर्ष ठीक नहीं है तो इसका विरुद्ध रूप—कुछ 'नही-ख' 'क' है—अवश्य ठीक होगा। तव, यह न्यायवाक्य बनता है—

सभी 'क' 'ख' है, दारीई
कुछ 'नही-ख' 'क' है,
∴ कुछ 'नही-ख' 'ख' है।

जो असम्भव है।

§ ३—इन विधियों मे अनुमान की मात्रा कहां तक ?

प्रसिद्ध तर्कशास्त्री जे० एस० मिल अनन्तरानुमान पर आक्षेप करते हुए कहता है कि इन विधियों को अनुमान मानना ही गलत है, क्योंकि इनमें वाक्य के अर्थ को केवल दूसरे पर्याय-वाक्य से सूचित करने के अलावा कुछ नहीं होता। ज्ञात के आधार पर अज्ञात के विषय में निष्कर्ष निकालना अनुमान का अपना प्रयोजन है। अनन्तरानुमान में कोई ऐसा निष्कर्ष नही निकलता; इसका निष्कर्ष तो आधार का वाक्यान्तर-मात्र है। इस कारण, इन विधियों का अध्ययन भाषा का विषय होना चाहिए, तर्कशास्त्र का नही।

अनुमान इस वात का व्यञ्जक है कि यहा विचार मे कोई गति हुई है। और, विचार मे गति तभी होती है जव विचार के विषयो मे किसी सम्वन्ध की अनुभूति हो। विचारक के अपने मन की ही वातो से विचार की कोई गति उत्पन्न नही होती। विचार की गति का अर्थ है किसी नये विषय का परामर्श प्राप्त होना। यदि अपने ही विषय पर विचार चेष्टित होता रहा तो उसमें गति कैसी !!

यदि महात्मा गाधी के चित्र को देख कर हमारे मन मे हो कि चर्खा

समावेश

सामान्य वाक्य से समाविष्ट का निष्कर्ष भी अनुमान नहीं कहा जाना चाहिए; क्योंकि जब समाविष्ट वाक्य अपने सामान्य में सन्निहित ही है तो इसे ज्ञान के प्रसार का कोई उदाहरण नहीं कह सकते। किंतु, यह ध्यान में रखना चाहिए कि निष्कर्ष की अत्यन्त स्पष्टता अनुमान के निषेध का आधार नहीं हो सकती। निष्कर्ष अपने आधार से अनुगत रहता है यह बात भी अनुमान के निषेध का आधार नहीं हो सकती, क्योंकि सभी आधार वाक्य अपने निष्कर्ष के व्यञ्जक होते हैं।

संकेतों के उपयोग से समस्या

अनन्तरानुमान की विधियों को समझने के लिए संकेतों का उपयोग किया जाता है। किंतु अमुक दृष्टान्त में अनुमान है या नहीं यह जानने के लिये पहले यह जानना आवश्यक है कि उन संकेतों का अर्थ क्या है। व्यत्यय-परिवर्तन-व्यत्यय की संयुक्त विधि से सांकेतिक निष्कर्ष इस प्रकार निकाल सकते हैं—कोई 'क' 'ख' नहीं है, ∴ कोई 'ख' 'क' नहीं है, ∴ सभी 'ख' 'नहीं-क' हैं, ∴ कुछ 'नहीं-क' 'ख' है। यदि इसका मूल वाक्य हो—कोई गाय मांसाहारी नहीं है, तो इसका अन्तिम निष्कर्ष होगा—कुछ गाय से इतर प्राणी मांसाहारी हैं। इससे इस निष्कर्ष के रूप की प्रामाणिकता पर कोई आशंका नहीं होती। किंतु, यदि मूल वाक्य हो—कोई

मनुष्य दो बार नही मरता, तो इसका अन्तिम निष्कर्ष होगा—कुछ मनुष्येतर दो बार मरते है। इसका मूलवाक्य बडा ठीक है, क्योकि यह साफ है कि मनुष्य एक ही बार मरते है। उससे यह निष्कर्ष भी शास्त्रीय विधियो के अनुकूल ही निकाला गया है। तव, इस असम्भव परिणाम पर कैसे पहुचे ? भला, किसी प्राणी के दो वार मरने की कल्पना भी कैसे कर सकते है ! यह कठिनाई इसी लिए उपस्थित हो गई कि हम यह धारणा लिए थे कि वाक्य उद्देश और विधेय पदो से सूचित होने वाले व्यक्तियो की उसी रूप मे वास्तविक स्थिति भी वताते है। किंतु, ऐसा न मान कर साकेतिक वाक्य को केवल उद्देश और विधेय के परस्पर सम्बन्ध का सूचक माने तो कोई समस्या नही उठती। और तब, वाक्य हेतुफलाश्रित रूप मे समभा जाता कि—यदि मनुष्य है, और दो बार मरने वाले भी है तो उनमे कोई सम्वन्ध नही है।

दो दृष्टियाँ

विधानात्मक वाक्य मे साधारणत उद्देश और विधेय दोनो से सूचित होने वाले व्यक्तियो की विद्यमानता स्वीकार करके चलते है, चाहे वैसे खास व्यक्तियो का हमारे मन मे कोई ख्याल हो या न हो ! सभी 'क' 'ख' है, इस वाक्य से 'क' जाति के सभी व्यक्तियो के विषय मे कहना भी अभिप्रेत हो सकता है, और यह भी कि 'क' के होने और 'ख' के होने में सम्बन्ध है। पहले को ऐतिहासिक दृष्टि और दूसरे को वैज्ञानिक दृष्टि कह सकते है। यदि वाक्य वैज्ञानिक दृष्टि से कहा गया हो, तो यह आवश्यक नही होता कि वह वैसे व्यक्तियो की विद्यमानता की भी सूचना करे। सभी नदियां ऊंची से नीची ओर बहती है, इसे वैज्ञानिक दृष्टि से कहा गया वाक्य कह सकते हैं : क्योकि इसे कहते समय यह आवश्यक नही है कि व्यक्तिगत नदियो का ख्याल हो। ऊची से नीची ओर वहना पानी का स्वभाव है। अत, नदी के अपने स्वभाव मे यह वात निहित है कि वह

नीचे की ओर बहेगी। सभी नदिया ऊची से नीची ओर बहती है, यह कोई ऐतिहासिक सूचना नही है, किंतु वैज्ञानिक सत्य की अभिव्यक्ति है। ऐसे वाक्य को हेतुफलाश्रित रूप मे रखने से इसकी वैज्ञानिकता साफ मालूम पडती है : जैसे, यदि कोई नदी है तो नीचे की ओर बहेगी। किसी ऐतिहासिक दृष्टि से कहे गये सामान्य वाक्य को इस प्रकार हेतुफलाश्रित रूप नही दे सकते। भारतवर्ष के सभी बडे लाट अगरेज है, इसे यह रूप नही दे सकते कि—यदि कोई भारतवर्ष का बडा लाट है तो अगरेज है। क्योंकि बडा लाट कोई दूसरी जाति का भी हो सकता था। वैज्ञानिक दृष्टि से कहे गए विशेष वाक्य का रूप होना चाहिए, 'क' 'ख' हो सकता है। कुछ 'क' 'ख' है, इस विशेष वाक्य के कहने के समय यह प्रकट होता है कि 'क' जाति के कुछ खास व्यक्ति ख्याल मे रख कर कहा गया है। वैज्ञानिक दृष्टि से कहे गए एक सामान्य वाक्य का उदाहरण ले—सर्वज्ञ पशु-पक्षी की भाषा भी समझते है। यहा, यह शका करने की आवश्यकता नही है कि क्या कोई सर्वज्ञ हो सकता है, अथवा क्या पशु-पक्षी की भी भाषा होती है। हो सकता है कि दोनो न होते हो। तो भी, उक्त वाक्य का अभिप्राय तुच्छ नही समझा जायगा। इस वाक्य की सार्थकता यह व्यक्त करने मे है कि यदि कोई सर्वज्ञ हो, और यदि पशु-पक्षी की भाषा हो तो वह उसे अवश्य समझ लेगा।

उसी तरह, कोई मनुष्य दो बार नही मरता, इस वाक्य को वैज्ञानिक दृष्टि से लें तो हमे इसकी खोज करने की आवश्यकता नही है कि क्या कोई दो बार भी मर सकता है अथवा नही। और तब, वह समस्या नही खडी होती जो ऊपर हुई है।

व्यत्यय में अनुमान की मात्रा कहां तक ?

इतनी बात सामने रख कर, विचार करें कि वाक्य के चार रूपो के व्यत्यय में कहां तक अनुमान की मात्रा प्राप्त होती है। 'इ'—कुछ भार-

तीय नेता समाजवादी है, यह एक विशेष-विधानात्मक 'ई' वाक्य है। इसका व्यत्यस्त होगा, कुछ समाजवादी भारतीय नेता है। यह अत्यन्त स्पष्ट है। बाबू जयप्रकाश नारायण आदि कुछ लोगो को मैं जानता हू जो भारतीय नेता भी है और समाजवादी भी है। तब, चाहे वाक्य के उद्देश को 'कुछ भारतीय नेता' बनाऊं या 'कुछ समाजवादी' एक ही बात है। इस तरह, यहा व्यत्येय से व्यत्यस्त का लाभ करने मे विचार में कोई गति नही हुई। यदि उन खास व्यक्तियो के साथ उक्त वाक्य के उद्देश तथा विधेय को अलग-अलग रख कर विचार करे तो अलवत्ता अनुमान का कुछ रूप बन सकता है।

बाबू जयप्रकाश नारायण आदि व्यक्ति भारतीय नेता है,
बाबू जयप्रकाश नारायण आदि व्यक्ति समाजवादी है,
∴ कुछ समाजवादी भारतीय नेता हैं।

किंतु, यह न्यायवाक्य का उदाहरण हुआ, अनन्तरानुमान का नही।

'आ'—सभी घोडे पशु है, यह एक सामान्य-विधानात्मक 'आ' वाक्य है। इसका व्यत्यस्त होगा—कुछ पशु घोडे है। यो तो देखने से मालूम होता है कि इसमे नई बात का पता चला है, यह कि सभी घोडो के विषय मे जान कर कुछ पशुओ के विषय मे अनुमान किया गया है। किंतु तनिक विचार कर देखने से पता चलेगा कि इसमे भी यथार्थत विचार मे कोई गति नही हुई है। सभी घोडे पशु है, यह कहने के समय ही हमने यह अनुभव किया था कि 'पशु' का विस्तार घोडे तक ही सीमित नही है, और यह कि गाय बकरी आदि दूसरे पशु है जो घोडे नही है, और, पशु होने का अर्थ नही है कि यह घोडा ही होगा। अत, 'आ' वाक्य के उद्देश और विधेय से यदि उन व्यक्तियो का बोध होता हो तो इसके व्यत्यस्त मे किसी अनुमान की बात दिखाई नही देती।

'आ' वाक्य जब वैज्ञानिक दृष्टि से कहा गया हो जिसके उद्देश और विधेय से उन व्यक्तियों का न बोध हो कर उनके स्वभाव का बोध होता

हो, तो उसके व्यत्यस्त में अनुमान की मात्रा प्राप्त होगी। सर्वज्ञ पशु-पक्षी की भाषा को समझते है, इस वाक्य का व्यत्यस्त हुआ—कुछ 'पशु-पक्षी की भाषा समझने वाले' 'सर्वज्ञ' है। इससे यह ज्ञान प्राप्त होता है कि कुछ ऐसे लोग है जिनमे सर्वज्ञता और पशु-पक्षी की भाषा समझ सकना दोनो गुण पाये जाते है।

किंतु, यह अनुमान व्यत्यय-विधि के कारण न प्राप्त होकर हेतुफलाश्रित न्याय से प्राप्त हुआ है, क्योकि इसमे हेतु और फल के रूप में आने वाले दो स्वभावो के सम्बन्ध के आधार पर निष्कर्ष निकाला गया है। ऊपर देख चुके है कि उक्त वाक्य का यथार्थ भाव हेतुफलाश्रित रूप मे इस तरह प्रकट होता है—यदि कोई सर्वज्ञ है, तो वह पशु-पक्षी की भाषा समझता है। मिश्र न्यायवाक्य के नियमके अनुसार फल का विधान करके हेतु का विधान नही कर सकते। फल का विधान करके केवल इतना कह सकते है कि हेतु हो सकता है। अत, यहा यही कह सकते है कि—पशु-पक्षी की भाषा समझने वाला सर्वज्ञ हो सकता है। ऊपर देख चुके है कि इसका अर्थ हुआ कि कुछ 'पशु-पक्षी की भाषा समझने वाले' 'सर्वज्ञ' है।

'ए'—सामान्य-निषेध 'ए' वाक्य यदि शुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि से कहा गया हो तो उसके व्यत्यय मे विचार की कोई गति नही होती। कोई घोडा गाय नही है, या कोई गाय घोडा नही है, दोनो एक ही बात है। घोडा और गाय का सर्वथा पार्थक्य दोनो मे समान है। यह कोई अनुमान नही कहा जा सकता। बल्कि इस तरह व्यत्यय करने मे वाक्य के तात्पर्य मे अन्तर पडने का भय रहता है। सामान्य-निषेध वाक्य अपने उद्देश के व्यक्तियो की विद्यमानता का आश्वासन देता है, विधेय के व्यक्तियो की विद्यमानता का नही। कोई मनुष्य दो बार नही मरता है, या कोई पशु आख से नही सुनता है—इन वाक्यो में 'मनुष्य' या 'पशु' के व्यक्तियो की विद्यमानता का आश्वासन तो प्राप्त है, किंतु ये यह नही सूचित करते

कि ऐसे भी प्राणी विद्यमान हैं जो दो बार मरते हो, या जो आख से सुनते हो। इन वाक्यो के व्यत्यस्त मे वडा अनर्थ हो जायगा, क्योकि उसमे उनके विधेय उद्देश होकर विद्यमान समझे जायेगे। उनके व्यत्यस्त रूप होगे—कोई दो वार मरने वाले प्राणी मनुष्य नही है, या कोई आख से सुनने वाले प्राणी पशु नही हैं। इसका तात्पर्य मूल वाक्य से भिन्न हो गया। यह अनुमान नही हो सकता।

परिवर्तन में अनुमान की मात्रा

'परिवर्तनानुमान' का आधार है 'मध्ययोगपरिहार का नियम'। 'क' या तो 'ख' है, या 'नही-ख' है। यदि 'क' 'ख' है, तो वह 'नही-ख' नही हैं और यदि वह 'नही-ख' है तो 'ख' नही है। ऊपर देख चुके है कि निष्कर्ष निकालने की यह विधि 'वैकल्पिक न्यायवाक्य' की है—

'क' या तो 'ख' है, या 'नही-ख' है,
'क' 'ख' है
∴ 'क' 'नही-ख' नही है।

अथवा

'क' या तो 'ख' है, या 'नही-ख' है,
'क' 'नही-ख' है
∴ 'क' 'ख' नही है।

इस तरह, यह साफ है कि परिवर्तनानुमान यथार्थ मे विकल्प-न्यायानुमान है, अनन्तरानुमान नही। सभी मनुष्य द्विपद है, इसका जब परिवर्तन करते हैं कि कोई मनुष्य गैर-द्विपद नही है, तव इसका विधेयवाक्य अवगत रहता है कि—मनुष्य या तो द्विपद है, या गैर-द्विपद।

५—परिशिष्ट

न्यायवाक्य की उपयोगिता तथा प्रामाणिकता पर दार्शनिक मिल् की आपत्ति

(१) दार्शनिक मिल का कहना है कि तीन अवयवो वाले न्यायवाक्य के जिन मयोगो का अध्ययन तर्कशास्त्र बडे महत्व से करता है वैसे बने बनाए रूप यथार्थतः हमारे विचार करने की प्रक्रिया में कभी नहीं आते। वह इस अध्ययन को एकदम निरर्थक नही बताता। उसके अनुसार इसकी उपयोगिता केवल इस बात मे कही जा सकती है कि हम अपने किसी विचार को, यदि उसकी प्रामाणिकताके विषयमे सदेह हो, इन रूपो मे ला कर परीक्षा कर सकते है कि यह सगत है या असंगत। इस प्रकार, न्यायवाक्य का उपयोग विचार की कसौटी के रूप मे भले ही हो, किंतु विचार के दिग्दर्शक के रूप में कभी नही है।

मिल के अपने शब्दो मे—"न्यायवाक्य की उपयोगिता इस बात मे नही है कि उसी के अनुसार हमारे तर्क नित्य, या प्राय, हुआ करते है, किंतु वह इस बात मे है कि उससे हमे उन रूपो का ज्ञान हो जाता है जिनमें हम अपने तर्कों को ढाल सकते है, और, यदि उसमें कोई असगति हो तो उसे स्पष्ट कर सकते है।" हेर्संचेल्, वेवेल, वेन आदि तर्कशास्त्रियो ने मिल की इस आपत्ति को स्वीकार किया है।

समीक्षा

इसके विरुद्ध मैन्सल, डे मोर्गन, मार्टिनिए, डा० राय, सर हैमिल्टन

आदि कुछ दूसरे तर्कशास्त्रियों ने मिलकी उक्त आपत्ति का विरोध किया है। उनका कहना है कि—

यह ठीक है कि हमारे दैनिक विचार न्यायवाक्यके बने-बनाए रूपो मे नही आते, किंतु इससे न्यायवाक्य की उपयोगिता को कोई आँच नहीं पहुँचती। जब न्यायवाक्यो के सयोग विचार-सगति के प्रतीक है तब उनके महत्व को स्वीकार करना ही होगा। तर्कशास्त्र का कर्तव्य यह बताना नही है कि हमारे विचार की प्रक्रिया क्या है। यह तो मानसशास्त्र का विषय है। तर्कशास्त्र तो विधायक शास्त्र है: वह यह अध्ययन करता है कि हमारे विचार के रूप कैसे होने चाहिए, यदि हम ठीक विचार करना चाहते है। इन दो शास्त्रो के क्षेत्र अलग न समझ कर ही मिल महोदय ने उक्त आपत्ति की है।

*   *   *

(२) मिल् महोदय की दूसरी आपत्ति यह है कि—

"सारे अनुमान विशेष से विशेष के होते है। सामान्य वाक्य तो ऐसे ही पूर्व-प्राप्त अनुमानो के योग है, जिनमे और भी नये अनुमानो का समावेश कर सकते है। फलत, न्यायवाक्य का विधेयवाक्य ऐसे ही योग का एक सूत्र है। और, निष्कर्ष-वाक्य की निष्पत्ति उस सूत्र से नही, किंतु उस सूत्रके अनुसार होती है।" इस तरह मिल ने न्यायवाक्य के सामान्य-वाक्य वाले अवयव की सामान्यता के आधार का अपलाप किया है।

समीक्षा

यह ठीक है कि कुछ अवस्थाओ मे हमारे अनुमान विशेष से विशेष के होते है; किंतु यह मानना भारी भूल होगा कि सारे अनुमान ऐसे ही होते है, और यह कि अनुमान में सामान्यता के आधार का कोई स्थान ही

नही है। इसके विपरीत, विशेष से विशेष के अनुमान में भारी खतरा है, और यह तभी दूर हो सकता है जब उसका आधार कोई सामान्य हो।

एक आदमी का बुखार अमुक दवा से अच्छा होता देख कर दूसरे किसी को भी बुखार आने पर वह दवा भले ही दे दे, किंतु यह खतरे से खाली नही है। यह खतरा तभी दूर हो सकता है जब हमे उस खास बुखार की जाति का ज्ञान हो जाय, और इसका कि इस जाति के बुखार को हटाने की ताकत इस दवा मे कैसे है। इस तरह कार्य-कारण के सम्बन्ध पर आश्रित जो व्याप्ति (=सामान्य) बनी है वही न्यायवाक्य मे आधार का काम करती है।

मिल का यह कहना ठीक नही कि न्यायवाक्य में जिस सामान्य का प्रयोग होता है वह पूर्व-प्राप्त विशेष अनुमानो का योग मात्र है। यदि सामान्य ऐसा हो तो यथार्थ मे तर्कशास्त्र की दृष्टि से उसका महत्त्व अत्यन्त अल्प हो। किंतु, यथार्थ में न्यायवाक्य का आदर्श सामान्य तो वह व्याप्ति है जो कार्य-कारण के सम्बन्ध पर स्थापित की गई है। यह सामान्य न्याय-वाक्य मे आधार का काम करता है। तर्कशास्त्री वेल्टन लिखता है—"ऐसी अवस्था में भी जब हम प्रत्यक्षत. एक या दो विशेष के आधार पर ही निष्कर्ष निकाल लेते है सचमुच में हमारे अनुमान का आधार वह सामान्य धर्म होता है जो सभी मे समान रूप से प्राप्त है। और, यही न्यायवाक्य मे सामान्य विधेयवाक्य के रूप मे व्यक्त हो सकता है।"

(३) मिल महोदय की तीसरी आपत्ति यह है कि न्यायवाक्य का निष्कर्ष तो अपने सामान्य आधार-वाक्य में अवगत ही रहता है। जब हम न्यायवाक्य उपस्थित करते है कि—

सभी मनुष्य मरणशील हैं,
सुकरात मनुष्य है,
∴ सुकरात मरणशील है;

तो कोई नई बात सिद्ध नही करते : क्योंकि, "सुकरात मरणशील है" यह निष्कर्ष तो "सभी मनुष्य मरणशील हैं" इसी आधारवाक्य मे सिद्ध था । तब, न्यायवाक्य मे एक तरह **सिद्ध-साधन**[1] भर है ।

समीक्षा

ऊपर देख चुके हैं कि न्यायवाक्य मे जो सामान्य आधारवाक्य है वह विशेषो का योग मात्र नही है, किंतु वह कारण-कार्य के सम्बन्ध पर स्थापित व्याप्ति है । यही व्याप्ति निष्कर्ष का आधार होता है । इसे विशेषोका योग मात्र समझना भारी भूल है । जब विज्ञानवेत्ता विशेष मे पैठ कर उसके 'स्वरूप' को पकड़ लेता है तब पूरे विश्वास के साथ किसी व्याप्ति की स्थापना करता है । न्युटन ने वृक्ष से एक फल गिरते देखा, इतने से उसने सभी भौतिक पदार्थों मे जो आकर्षण-शक्ति काम कर रही है उसे समझ लिया । न्युटन ने एक विशेष फल गिरने की घटना मे उस सामान्य धर्म का दर्शन कर लिया जिसके बल पर उसने घोषणा की कि 'सभी भौतिक पदार्थ मे आकर्षण शक्ति है' । इस व्याप्ति को प्राप्त करने के लिए क्या न्युटन ने हजारो फल गिरा कर देखा था !! बागीचे के माली तो सदैव वृक्ष से फल गिरते देखते हैं, किंतु उन्हे इस व्याप्ति का दर्शन नही होता । प्रस्तुत ग्रन्थ के दूसरे भाग मे हम 'व्याप्ति-विधि' का अध्ययन करेंगे, कि विशेषो की परीक्षा से सामान्य पर कैसे पहुँचते है ।

---

[1] Petitio Principii.

इस प्रकार से स्थापित सामान्य वाक्य ही न्यायवाक्य में ऐसा आधार बनता है जिससे निष्पन्न हुआ निष्कर्ष पूरा भरोसा वाला होता है। यहाँ तक कि, 'युरेनस' ग्रह की गति में कुछ परिवर्तन देख कर ज्योतिषशास्त्री ने घोषणा की कि अमुक दिशा मे अमुक प्रकार का एक दूसरा ग्रह होना चाहिए जिसके प्रभाव से इसकी गति मे यह परिवर्तन होता है। और, बाद में सचमुच 'नेपचुन' ग्रह वहाँ पाया गया।

"सभी मनुष्य मरणशील है, सुकरात मनुष्य है . सुकरात मरणशील है" इस साधारण न्यायवाक्य में भी जो विधेयवाक्य है वह क्या विशेष-घटनाओ का योग मात्र है ? नही, वह उस सामान्य सत्य का कथन करता है, जो अन्यथा हो ही नही सकता। इस सामान्य सत्य को समझने के लिए हजारो मरते लोगो को देखने की जरूरत नही है। यहाँ जो 'सुकरात का मरणशील होना' निष्कर्ष निकाला गया है वह इस आधार पर कि 'सुकरात' में भी वही मनुष्य-साधारण अपूर्णता थी जिस कारण वह मरणशील होता है। यहाँ, निष्कर्ष-वाक्य एक घटना मात्र नही है, किंतु यह एक सत्य की सिद्धि है जो 'सुकरात' के साथ लागू है।

मिल जो कहता है कि निष्कर्ष-वाक्य विधेयवाक्य में अवगत है उससे तो उद्देशवाक्य निरर्थक ठहरता है। किंतु, हम देख चुके है कि न्यायवाक्य में उद्देशवाक्य एक अनिवार्य अवयव है।

फिर, यदि प्रत्येक न्यायवाक्य 'सिद्ध-साधन' मात्र होता तो उसकी प्रक्रिया से कोई नई जानकारी प्राप्त करना सम्भव न होता, विधेयवाक्य के सुनते ही साथ साथ निष्कर्ष का भी ज्ञान हो जाता। तब, अनुमान एकदम निष्प्रयोजन हो जाता। किंतु, हम सभी जानते है कि ज्ञान के विकास मे अनुमान बडा भारी साधन है। यह ठीक है कि निष्कर्षवाक्य की सत्यता आधारवाक्यो की सत्यता मे निहित है, क्योकि यदि वह ऐसी न होती तो हम उसे जान भी नही सकते। इतने से यदि कोई यह समझ

ले कि आधारवाक्य की जानकारी मे निष्कर्पवाक्य की भी जानकारी निहित है तो यह उसकी भूल होगी। न्यायवाक्य को 'सिद्ध-साधन' मात्र वता कर मिल ने यही भूल की है। बात यह है कि आधारवाक्य की सत्यता की जानकारी से निष्कर्ष वाक्य की सत्यता की जानकारी प्राप्त होती है। इसी से अनुमान हमारे ज्ञान के विकाश का आवश्यक मार्ग है।

९—परिशिष्ट

निगमन-विधि में होने वाले दोष[1]

तर्कशास्त्र उन नियमो का अध्ययन करता है, जिनका पालन करना प्रामाणिक विचार के लिए आवश्यक है। इन नियमो का जहाँ उल्लघन हुआ वहाँ विचार सदोष हो जाता है। अत, दोषो की भी सख्या उतनी ही होगी जितनी सख्या तर्कशास्त्र के सिद्धान्तो तथा नियमो की है। दोषो के कितने प्रकार हो सकते है यह निम्न तालिका से प्रकट होगा—
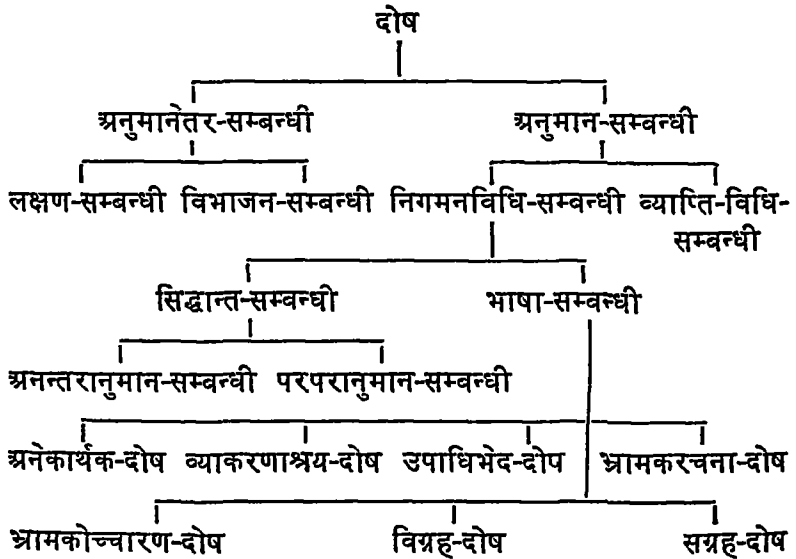
[1] Fallacies in Deductive Reasoning

'लक्षण' तथा 'विभाजन' के प्रकरणो में देख चुके है कि उनके क्या क्या नियम है, और उनके उल्लघन से क्या क्या दोष उपस्थित होते है [पृ० ६२–७५]। उन्हे यहाँ दुहराने की आवश्यकता नही है।

अनुमान के व्याप्ति-विधि-सम्बन्धी दोषो का अध्ययन ग्रन्थके दूसरे भाग में करेगे।

निगमन-विधि सम्बन्धी दोष दो प्रकार के होते है—सिद्धान्त-सम्बन्धी और भाषा-सम्बन्धी। अनन्तरानुमान और परपरानुमान के प्रकरणो मे उनके भेद-प्रभेदो के जो नियम देख चुके है उनके उल्लघन से जितने दोष उपस्थित होते है, सभी सिद्धान्त-सम्बन्धी दोष है। उनका निरूपण भी उनके अपने अपने स्थानो मे हो ही गया है।

भाषा-सम्बन्धी दोष सात प्रकार के होते है—

(१) **भिन्नार्थक दोष**[1]—न्यायवाक्य का पहला साधारण नियम है कि उसमे केवल तीन ही पद होगे। प्रत्येक पद दो दो बार प्रयुक्त होता है। अब, यदि उनमे कोई—विधेय पद, या हेतुपद, या उद्देशपद—दो जगहो पर दो अर्थो मे प्रयुक्त हो तो 'चतुष्पाद दोष' हो जाता है [देखिए पृ० १६१]। इसी दोष को 'भिन्नार्थक दोष' कहते है।

(२) **व्याकरणाश्रय-दोष**[2]—समान प्रकृति से सिद्ध शब्दो मे भी बहुधा घोर अर्थवैषम्य हो जाता है; और उससे बड़ा ऊटपटाग निष्कर्ष निकल जाता है। जैसे—

दाता होना बडा अच्छा है,
वह इञ्जन मे कोयला देता है
∴ वह बड़ा अच्छा है।

---

[1] Fallacy of Equivocation.
[2] Fallacy of Paronymous Terms.

यहाँ हेतुपद मे समान 'देना' धातु का प्रयोग हुआ है किंतु दोनो के अर्थ मे बडी विषमता है।

(३) उपाधि-भेद दोष[1]—न्यायवाक्यका हेतुपद यदि आधारवाक्यो मे समान उपाधि के प्रसग में न लिया गया हो तो बडा अनर्थ हो सकता है। इसे 'उपाधि-भेद दोष' कहते है। जैसे—

मनुष्य-बध करने वाला मृत्युदण्ड का भागी है,
सिपाही मनुष्य-बध करने वाला है
∴ सिपाही मृत्युदण्ड का भागी है।

इस युक्ति में 'उपाधि-भेद दोष' है, क्योकि यहाँ विधेयवाक्य में "मनुष्य-बध करना" साधारण शान्ति-काल की उपाधि मे समझा गया है, और उद्देशवाक्य मे वही रण-क्षेत्र की उपाधि मे समझा गया है।

(४) भ्रामक रचना दोष[2]—कभी कभी वाक्य-रचना ऐसी भ्रामक होती है कि उसका ठीक अर्थ क्या है यह पता नही चलता। जैसे—

नेवला साँप नही खाता,

इस वाक्य का अर्थ यह भी हो सकता है कि 'नेवला साँप को नही खाता', और यह भी कि 'नेवला को साँप नही खाता'। इसे 'भ्रामक रचना दोष' कहते है।

इस दोष का उदाहरण ज्योतिषी की उस प्रसिद्ध भविष्यद्वाणी मे है जिसे वह किसी गर्भिणी स्त्री की सतान के विषय मे करता है। वह एक कागज पर लिख कर रख छोडता है कि—"लडका न लडकी"। स्त्री को यदि लडका पैदा हुआ तो उसे खोल कर पढ देता है—लडका, न लडकी और यदि लडकी पैदा हुई तो उसे पढ़ देता है—लडका न, लड़की।

---

[1] Fallacy of Accident.

[2] Fallacy of Amphibology.

(५) **भ्रामकोच्चारण दोष**[1]—वाक्य के किसी खास शब्द पर जोर दे कर उच्चारण करने से भी कभी कभी अर्थका अनर्थ हो जाता है। "आपस मे मत लडो" यह एक साधारण शिक्षा है। अब, यदि कोई इसे 'आपस' शब्द पर खूब जोर दे कर पढे तो इसका यह अर्थ हो जायगा कि—आपस मे तो मत लडो, किंतु दूसरे से लडने मे कोई हानि नही। इस दोष को 'भ्रामकोच्चारण दोष' कहते है।

(६) **विग्रह दोष**[2]—जो वाक्य संग्रहार्थक है उसे विग्रह के अर्थ मे ले ले तो यह दोष उपस्थित होता है। जैसे—

सभी लडके इस शहतीर को उठा सकते है,

मै लडका हूँ।

मै इस शहतीर को उठा सकता हूँ।

यहाँ विधेयवाक्य संग्रहार्थ है। "सभी लडके" का अर्थ है—सभी लडके मिल कर। इसे विग्रह के अर्थ मे समझ लिया गया है, यह कि—सभी लडके अलग अलग। इस दोष को 'विग्रह दोष' कहते है।

(७) **संग्रह-दोष**[3]—जो वाक्य विग्रहार्थक है उसे संग्रह के अर्थ मे ले ले तो यह दोष उपस्थित होता है। जैसे—

यहाँ के सभी पहलवान एक सेर से कम ही खाते है,

राम, हरि, गौरी और मोहन यहाँ के पहलवान है,

वे एक सेर से कम ही खायेंगे।

यहाँ विधेयवाक्य विग्रहार्थक है। "सभी पहलवान" का अर्थ है—सभी पहलवान अलग अलग। इसे संग्रह के अर्थ मे समझ लिया है, यह कि—सभी एक साथ। इस दोष को 'संग्रह-दोष' कहते है।

---

[1] Fallacy of Accent. [2] Fallacy of Division.

[3] Fallacy of Composition.

७—परिशिष्ट

(प्रश्नावली[१])

१—तर्कशास्त्र का विषय

(१) तर्कशास्त्र का क्षेत्र क्या है ? इसका अध्ययन किस प्रकार उपयोगी है ? क्या यह हमारे तर्क को निर्दोष बना देता है ?

(२) जब वह भी, जिसने तर्कशास्त्र का अध्ययन कभी नहीं किया है, ठीक-ठीक तर्क कर लेता है, तब तर्कशास्त्र की क्या आवश्यकता ? समझाइए।

(३) "तर्कशास्त्र अध्ययन करने के पूर्व भी हम काफी सप्रमाण विचार कर सकते है, अत विचार मे प्रमाणता लाने के लिए इस शास्त्र के अध्ययन का कोई मूल्य नही"—इस कथन की परीक्षा कीजिए।

(४) 'ज्ञान' के स्वरूप का निरूपण कीजिए। इसके भिन्न-भिन्न 'रूप' और 'मार्ग' क्या है ? क्या सभी ज्ञान तर्कशास्त्र के अध्येय विषय है ?

(५) प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञान में क्या भेद है ? इनमे तर्कशास्त्र का अपना अध्येय विषय कौन है ?

(६) तर्कशास्त्र किसकी परीक्षा करता है—विचार की, या विषय की, या भाषा की ? पूर्ण रूप से प्रकाश डालिए।

(७) वस्तुवाद, प्रत्ययवाद और भाषावाद—तर्कशास्त्र मे जो ये तीन मत है उनकी व्याख्या कीजिए।

२—तर्कशास्त्र, रूप-विषयक और विषय-विषयक

(८) 'सत्य' क्या है ? रूपविषयक और विषय-विषयक सत्य के भेद को समझाइए ? तर्कशास्त्र दोनो मे किसका अध्ययन करता है ?

---

[१] प्रायः परीक्षा के प्रश्नपत्रो से संगृहीत।

1. THE PROBLEM OF LOGIC

(1) Determine the scope of Logic, and indicate the uses of its study. Does it render a man free from error?

(2) Can you say that the study of Logic is useful when persons who have never studied it reason accurately? Give reasons for your answer.

(3) Discuss the statement that much valid thought precedes the study of Logic, hence the study of Logic is valueless for the purpose of valid thought.

(4) Determine the character of knowledge, indicating its different forms and sources. Does all knowledge comes within the province of Logic?

(5) Distinguish between Immediate and Mediate Knowledge. Which of them constitutes the proper subject-matter of Logic?

(6) What does Logic deal with, with thought, thing or language? Discuss fully.

(7) Explain Realism, Conceptualism and Nominalism as schools of Logic.

2. LOGIC AS FORMAL AND MATERIAL

(8) What do you understand by truth? Distinguish between Formal and Material Truth. Which of them constitutes the proper subject-matter of Logic?

(९) तर्कशास्त्र क्या विचार की 'अन्त सगति' का ही अध्ययन करता है, या विचार मे वस्तु के सवाद का भी ?

(१०) रूपविषयक और विषयविषयक तर्कशास्त्र मे क्या अन्तर है ? हमारे प्रतिदिन के जीवन मे उनका क्या उपयोग है ?

(११) यह कहने का क्या अर्थ है कि, 'तर्कशास्त्र को केवल विचार के रूपो मे मतलब है' ?

३—शास्त्र या विद्या

(१२) तर्कशास्त्र क्या है, शास्त्र या विद्या, या दोनो ? विचार कीजिए।

(१३) शास्त्र और विद्या मे क्या अन्तर है ? और, समझाइए कि तर्कशास्त्र को 'शास्त्रो का शास्त्र' क्यो कहते है।

४—तर्कशास्त्र का दूसरे शास्त्रों से सम्बन्ध

(१४) "तर्कशास्त्र आदर्श अथवा विधायक शास्त्र है।" स्पष्ट समझाइए।

(१५) क्षेत्र और विधि मे, तर्कशास्त्र मानसशास्त्र से किस प्रकार भिन्न है ? समझाइए।

(१६) तर्कशास्त्र से तत्वशास्त्र का क्या सम्बन्ध है, समझाइए ?

५—विचार

(१७) 'विचार' क्या है; और 'विचार' का भाषा से क्या सम्बन्ध है ?

(१८) 'प्रत्यय' का स्वरूप क्या है ? स्पष्ट समझाइए कि प्रत्यय कैसे बनते है, वे मन मे कैसे बने रहते है, और दूसरो पर उन्हे किस प्रकार प्रकट कर सकते है।

(9) Fully discuss the question whether Logic deals only with the consistency of thought or with truth of thought as well.

(10) Distinguish between Formal and Material Logic and indicate their uses in the practical affairs of life.

(11) What do you understand by saying that 'Logic is concerned with the forms of thinking?

3. LOGIC AS SCIENCE AND ART

(12) What is Logic? Is it a science or an art, or both? Discuss.

(13) Distinguish between a Science and an Art, and explain why Logic has been called the Science of Sciences.

4. RELATION OF LOGIC TO OTHER SCIENCES

(14) 'Logic is a normative or regulative science.' Fully explain.

(15) Contrast the Province and Method of Logic with those of Psychology.

(16) Explain the relation of Logic to Metaphysics.

5. THOUGHT

(17) Explain what is meant by thought, and what is the relation of Thought to Language.

(18) Explain the nature of the Logical concepts. Explain how concepts are formed, and by what means they are retained in the mind and communicated to others.

(१९) विचार के रूप और विषय में क्या अन्तर है ? विचार की रूपविषयक और विषयविषयक प्रामाणिकता में क्या अन्तर है ? समझाइए।

(२०) तर्कशास्त्र का व्याकरण से क्या सम्बन्ध है ? समझाइए।

६—पद-विचार

(२१) 'शब्द' और 'पद' में क्या अन्तर है ? क्या वे तर्कशास्त्र के अध्यय हैं ? यदि हां तो कैसे ?

(२२) 'पद' और 'नाम' में क्या सम्बन्ध है ? 'पद' की पहचान क्या है ?

(२३) पद का 'विस्तार' उसकी 'गहनता' से किस प्रकार भिन्न है ? यह कहने का क्या अर्थ है कि जब एक में वृद्धि होती है तो दूसरे में ह्रास होता है, और यह कहां तक ठीक है ?

(२४) 'व्यक्तिबोध' में किन व्यक्तियों का, और 'स्वभावबोध' में किन धर्मों का बोध होता है ?

(२५) "'व्यक्तिबोध' की दृष्टि से 'जाति' में 'उपजातियाँ' अन्तर्गत होती हैं, किंतु 'स्वभावबोध' की दृष्टि से उलटे 'उपजाति' में 'जाति' चली आती है।" यह कैसे ?

(२६) निम्न पदों का तर्कशास्त्रीय परिचय दीजिए—महाविद्यालय, काशी-विश्वविद्यालय, संसार का सर्वोच्च शिखर, पूरा अन्धापना, अन्धा आदमी, सद्गुण, राममोहन, विद्यार्थी, निस्तेज।

(२७) पद के 'संग्राहक' और 'विग्राहक' प्रयोग में क्या अन्तर है ? इस में कैसे भ्रम उत्पन्न होता है, दो उदाहरण दे कर समझाइए।

(19) Distinguish between (*a*) the form and matter of thought; and (*b*) between formal and material validity of thought.

(20) Explain the relation of Logic to Grammar.

6. TERMS

(21) Distinguish between Words and Terms. Do they come within the province of Logic? If so, how?

(22) Exhibit the relation between Terms and Names, and sum up the characteristics of a Term.

(23) Explain the distinction between the intension and the extension of Terms. What is the meaning of the statement that as the one increases the other decreases, and what are the limits to the accuracy of the statement.

(24) What individuals are contained in the denotation and what attributes are contained in the connotation of a Term.

(25) "From the denotative point of view the species is contained in the Genus, but from the connotative point of view the genus is contained in the species." Explain.

(26) Describe the Logical character of the following terms—(1) College; (2) Benares Hindu University; (3) the Highest Mountain in the World; (4) Perfect Blindness; (5) Blind Person; (6) Virtue (7) Ram Mohan. (8) Student; (9) Spiritless.

(27) Explain and distinguish between collective and distributive uses of Terms. Give two examples to illustrate the errors which arise from their confusion.

(२८) ,इन प्रश्नो पर विचार कीजिए—

(क) व्यक्तिवाचक सज्ञा क्या स्वभावबोधक पद है ?

(ख) क्या भाववाचक पदो के भी स्वभावबोधक और नि स्वभाव-बोधक दो विभाग होगे ? वे व्यक्तिवाचक होते है या जातिवाचक ?

(ग) विशेषण द्रव्यवाचक पद है या भाववाचक ?

(२९) ऐसा कहने में क्या दोष है कि—यह जरूर कलम है, क्योकि यह पेन्सिल नही है ? तर्कशास्त्र की दृष्टि से इस उदाहरण मे क्या अभि-व्यक्त होता है ?

७—लक्षण

(३०) 'शास्त्रीय लक्षण' के रूप में किन बातो का होना आवश्यक है ? उसकी सीमायें क्या है ?

(३१) 'सदोष लक्षण' के कितने प्रकार है ? उदाहरण दे कर समझाइए ।

(३२) 'लक्षण' का लक्षण क्या है ? सविस्तार व्याख्या कीजिए।

(३३) पद के व्यक्तिबोध और स्वभावबोध से उसके 'लक्षण' का क्या सम्बन्ध है ?

(३४) इन लक्षणो की परीक्षा कीजिए—

(क) मनुष्य बिना पाख वाला प्राणी है

(ख) मनुष्य खाना पकाने वाला प्राणी है

(ग) मनुष्य हँसने वाला प्राणी है

(घ) चावल एक चीज है जो भारतवर्ष में खाई जाती है

(ङ) विनोद का ख्याल करे और दिखावे गम्भीरता, यही हास्य है

(च) न्यूनकोण-त्रिभुज वह है जिसका एक कोण न्यून हो

(छ) मनुष्य एक बहुश्रुत प्राणी है

(ज) समकोण-त्रिभुज वह है जिसमे एक कोण सम हो, और दो कोण न्यून हो

(28) Discuss the following:—

(*a*) Are proper names connotative?

(*b*) Are abstract terms divisible into connotative and non-connotative? Are they singular or general?

(*c*) Are adjectives concrete or abstract?

(29) What is the fallacy in the statement—it must be a pen, because it is not a pencil? Fully explain the Logical significance underlying this example.

7. DEFINITION

(30) What are the formal conditions and limits of a Logical Definition?

(31) State and exemplify the various kinds of faulty definitions.

(32) Define 'Definition', and explain the same fully.

(33) What has the definition of a term to do with the connotation and denotation of the same?

(34) Test the following definitions—

1. Man is a featherless animal.
2. Man is a cooking animal.
3. Man is a laughing animal.
4. Rice is an article which is used as food in India.
5. Humour is thinking in jest while feeling in earnest.
6. An acute-angled triangle is that which has an acute angle.
7. Man is a learned animal.
8. A right-angled triangle is that which has a right angle and two acute angles.

(झ) ऑक्सीजन एक गैस है

(ञ) अग्नि वह है जो गर्मी उत्पन्न करे

(ट) समबाहु-त्रिभुज वह त्रिभुज है जिसके तीनों कोण बराबर हों

(ठ) गुण का न होना दुर्गुण है

(ड) तांबा गुलाबी रंग का एक धातु है, जिसमें सोने की अपेक्षा अधिक आवाज होती है, और जो लोहा को छोड़ सभी से अधिक चीमड़ है

(ढ) प्राणभूत व्यापारों का योग ही जीवन है

(ण) एक अजीब मिजाज का होना ही झक्कीपना है

(त) त्रिभुज एक समक्षेत्र है जो तीन बराबर सीधी रेखाओं से घिरा होता है

८—विभाग

(३५) 'शास्त्रीय विभाजन' के नियमों को लिखिए और उनकी व्याख्या कीजिए। उन नियमों के उल्लंघन से जो दोष उत्पन्न होते हैं उन्हें भी समझाइए।

(३६) 'लक्षण' और 'विभाजन' की प्रक्रियाओं में क्या सम्बन्ध है? शास्त्रीय विभाजन के उपयोग और सीमायें क्या हैं?

(३७) इन विभाजनों की परीक्षा कीजिए—

(क) 'कलम' के दो विभाग—लोहे की और पीतल की।

(ख) 'प्राणी' के दो विभाग—रीढ़ वाले और बेरीढ़ वाले।

(ग) 'भौतिक पदार्थ' के इतने विभाग—घन, तरल, भारी और हलका।

(घ) 'रंग' के इतने विभाग—सफेद, काला और हरा।

(ङ) 'भारतीय' के इतने विभाग—धनी, गरीब, मलेरिया-रोग-ग्रस्त और क्षय-रोग-ग्रस्त।

(च) 'प्रकाश' के इतने विभाग—कृत्रिम, लाल, और चाँदनी।

9. Oxygen is a gas.

10. Force is that which produces motion.

11. An equilateral triangle is a triangle with three equal angles.

12. Pain is the absence of pleasure.

13. Copper is an orange-coloured metal, more sonorous than any other, and the most elastic of any, except iron.

14. Life is the sum of vital functions.

15. Ecentricity is a peculiar idiosyncrasy.

16. A triangle is a plane figure enclosed by three equal straight lines.

8. DIVISION

(35) State and explain the rules of Logical Division, and point out the faults that arise from their violation.

(36) Explain the relation between Definition and Division, and point out the uses and limits of the later?

(37) Test the following divisions :—

(*a*) Pens into Steel pens and Quill pens.
(*b*) Animals into vertibrate and invertibrate.
(*c*) Material bodies into solids, liquids, heavy and light.
(*d*) Colour into whiteness, blackness and greenness
(*e*) Indians into rich, poor, malarious, consumptive.
(*f*) Lights into artificial light, red light and moon light.

(छ) 'पद' के इतने विभाग—व्यक्तिवाचक, भाववाचक, और स्वभाववाचक।

(ज) 'मनुष्य' के इतने विभाग—सभ्य, लम्बे, ईमानदार और पादरी।

(झ) 'मनुष्य' के इतने विभाग—पुरुष, स्त्री और बच्चे।

(ञ) 'कुर्सी' के इतने विभाग—पैर, पीठ और आसन।

(ट) 'मनुष्यता' के इतने विभाग—शरीर, मन और आत्मा।

(ठ) 'व्याकरण' के इतन विभाग—वाक्य विचार और पद विचार।

(ड) 'किताब' के इतने विभाग—सदाचारी, दुराचारी और पटु।

(ढ) 'ट्रेन' के इतने विभाग—लोकल और बिजली से चलने वाली।

(ण) 'ग्रेट ब्रीटेन' के इतने विभाग—इङ्गलैण्ड, स्काटलैण्ड और वेल्स।

(त) 'साँप' के इतने विभाग—जहरीले और अहिंसक।

(थ) 'कालेज' के इतने विभाग—साइन्स, आर्ट और कानून के।

(द) 'किताब' के इतने विभाग—अच्छी, कीमती और बेकार।

(ध) 'मनुष्य' के इतने विभाग—दुष्ट और मूर्ख।

९—वाक्य

(३८) 'अध्यवसाय', 'शास्त्रीय वाक्य' और 'लौकिक वाक्य' में क्या अन्तर है, समझाइए। इनमे तर्कशास्त्र किसका अध्ययन करता है ?

(३९) तर्कशास्त्र में वाक्य का क्या अभिप्राय है ? वाक्य के अङ्ग कौन है, और इनमे परस्पर क्या सम्बन्ध है ?

(४०) वाक्य मे विधेय कितने प्रकार के पदार्थ हो सकते हैं; तथा विधेय-पद का उद्देश-पद के साथ कितने प्रकार के सम्बन्ध हो सकते हैं ?

(g) Terms into Singular, Abstract and connotative.
(h) Men into civilised, tall, honest and clergyman.
(i) Human beings into men, women and children.
(j) Chair into legs, back and seat.
(k) Human nature into body, mind and spirit.
(l) Grammar into Syntax and Prosody.
(m) Books into moral, immoral and clever.
(n) Trains into local and electric.
(o) Great Britain into England, Scotland and Wales.
(p) Snakes into poisonous and harmless.
(q) Colleges into Science, Arts and Law Colleges.
(r) Books into good, expensive and worthless.
(s) Men into knaves and fools.

9. PROPOSITION

(38) Distinguish carefully between a Judgment, a Proposition and a Sentence; and explain what does Logic deal with.

(39) What is meant by a Proposition in Logic? What are its parts, and how are the parts related to each other?

(40) What do you mean Categories and Predicables; how can they be studied in relation to Proposition?

(41) Fully explain what do you mean by the Import of Proposition.

(42) What are the theories of Predication? Which theory do you think to be right?

(43) What distinguishes Aristotle's list of Predicables from his list of Categories? Explain, with illustrations, the scientifically important implications of the former.

(44) Have the Predicables anything to do with the distinction between Real and Verbal Proposition?

(45) How many kinds of Propositions are there? What is the mutual relation amongst them?

(46) What is the Quantity of the Singular Propositions? Bring out clearly the ambiguities attaching to the words "Some", "Any", "All", "Few", "Many" and "Most".

(47) What is the modality of a hypothetical proposition?

(48) Is it correct to say that all propositions must be affirmative and categorical?

(49) Discuss briefly the theory of the Quantification of the Predicate.

(50) What is meant by Distribution of Terms in a Proposition? Show that the distribution of the predicate depends upon the quality of the proposition.

(51) Draw the Square of Opposition and explain it.

१०—अनुमान

(५२) अनुमान क्या है ? अनन्तरानुमान और परपरानुमान मे क्या भिन्नता है ? सोदाहरण व्याख्या कीजिए।

(५३) (क) 'विरुद्ध वाक्यो' के सहारे सिद्ध कीजिए कि दोनो के दोनो 'उपभेदक वाक्य' एक साथ असत्य नही हो सकते।

(ख) 'उपभेदक वाक्यो' के सहारे सिद्ध कीजिए कि दोनो के दोनो 'भेदक वाक्य' मिथ्या हो सकते है।

(५४) क्या एक ही वाक्य के आधार पर निष्कर्ष निकालना सम्भव है ? यदि हाँ, तो कितने प्रकार से ? उन विधियो के नाम और सक्षिप्त परिचय लिखिए।

(५५) अनन्तरानुमान के स्वरूप का निरूपण कीजिए। क्या यह सचमुच अनुमान की कोटि मे आता है ?

(५६) 'सम व्यत्यय' और 'विषम व्यत्यय' मे क्या अन्तर है ? 'निषेध-मुख से व्यत्यय' क्या है ?

(५७) 'परिवर्तित-व्यत्यय' और 'विपर्यय' मे क्या अन्तर है ? ये परपरानुमान के रूप है, या अनन्तरानुमान के ? क्या सभी वाक्यो के परिवर्तित-व्यत्यय और विपर्यय होगे ? उदारहण दे कर समझाइए।

(५८) 'विपर्यय' क्या है ? इसके कितने रूप है ? वास्तविक उदाहरण दे कर समझाइए।

(५९) 'ओ' वाक्य का व्यत्यय करना, और 'इ' वाक्य का परिवर्तित-व्यत्यय करना क्यो सम्भव नही है ? वास्तविक उदाहरण दे कर समझाइए।

(६०) "सभी 'मनुष्य' 'मरणशील' है", इस वाक्य से जितने अनन्तरानुमान के निष्कर्ष निकल सकते है निकालिए।

10. INFERENCE

(52) What is meant by Inference? Explain, illustrate and examine the distinction between Immediate and Mediate Inference.

(53) (*a*) Prove by means of the contradictory propositions that the sub-contrary propositions both cannot be false.

(*b*) Show by means of the sub-contrary propositions that the contrary propositions may both be false

(54) Is it ever possible to derive a conclusion from a single premise? If it is, name and define the different ways of doing it.

(55) Indicate the character of Immediate Inference. Can it properly be regarded as an inference?

(56) Distinguish between Simple Conversion and Conversion by limitation. What is conversion by Negation?

(57) Distinguish between Contraposition and Inversion. Are they forms of mediate or immediate inference? Can every proposition be contraposed or inverted? Illustrate your answer by examples.

(58) What is Inversion, and what are its different forms? Illustrate with an example.

(59) Explain why the proposition 'O' cannot be converted, and the proposition 'I' cannot be contraposed.

(60) Draw all the conclusions you can by immediate inference from 'All men are mortal'.

(६१) न्यायवाक्य क्या है स्पष्ट समझाइए। न्यायवाक्य की रचना क्या है ? इसके कितने प्रभेद हैं ?

(६२) अरस्तू के मत से न्यायवाक्य की तर्कप्रणाली का मूलभूत सिद्धान्त क्या है ? समझाइए।

(६३) न्यायवाक्य के कितने अवयव होते हैं ? उनके क्या नाम हैं, और क्यो ?

(६४) न्यायवाक्य मे कितने पदो का प्रयोग होता है ? यदि उनकी संख्या मे न्यूनाधिक हो तो क्या हानि ? न्यायवाक्य के अवयवो मे उनके स्थान की क्या व्यवस्था है ?

(६५) न्यायवाक्य मे हेतुपद क्या काम करता है ? यह समझाइए कि हेतुपद को कम से कम एक बार सर्वांगी होना क्यो आवश्यक है।

(६६) "न्यायवाक्य हेतुफलाश्रित-स्वरूप का होता है"—इसका क्या माने साफ-साफ लिखिए। सिद्ध कीजिए कि असत्य वाक्यो के आधार पर भी सत्य निष्कर्ष निकल सकता है। सत्य वाक्यो के आधार पर क्या असत्य निष्कर्ष निकल सकता है ?

(६७) न्यायवाक्य के 'क्रम' का क्या अर्थ है ? 'क्रमो' की संख्या क्या है। उनकी अपनी-अपनी विशेषतायें और प्रयोग क्या है ?

(६८) न्यायवाक्य का 'संयोग' क्या है ? संभव 'संयोग' कितने हैं ? 'संभव' और 'सिद्ध' संयोगो मे क्या अन्तर है ?

(६९) किन-किन विधि से 'सिद्ध संयोग' निश्चय किए जा सकते हैं ? समझाइए।

(७०) क्या दो विशेष वाक्यो के आधार पर निष्कर्ष निकल सकता है ? यदि हाँ, तो कैसे ? सोदाहरण लिखिए।

(७१) न्यायवाक्य मे पदो के विस्तार के सम्बन्ध मे जो साधारण नियम है उनका उल्लेख करके उन्हे सिद्ध कीजिए।

(61) Fully explain what is Syllogism, and how it is constructed. How many kinds of Syllogism are there?

(62) What, according to Aristotle, is the basic principle of Syllogistic reasoning? Fully explain.

(63) How many propositions are there in a Syllogism? What are their names, and why?

(64) How many terms are there in a Syllogism? What is the harm if they are more or less? Is there any definite arrangement of their locations in the Syllogism?

(65) What is the function of the "middle term" in a Syllogism? Explain why the middle term should be distributed at least once.

(66) Clearly explain what do you mean by the 'hypothetical character of syllogism' Show that false premises of a syllogism may lead to a true conclusion. Can a false conclusion be derived from true premises?

(67) What do you mean by a Figure? How many Figures are there? Indicate the peculiarities and uses of the different Figures.

(68) What is a Mood? How many possible Moods are there? Distinguish between 'possible' and 'valid' moods.

(69) In what different ways can the valid Moods be determined? Explain.

(70) Can a conclusion be drawn from two particular propositions? If so, how? Give concrete example to prove your answer.

(71) State and prove the General Rules that relate to the distribution of terms in a Syllogism.

(७२) कुछ तर्कशास्त्रियों ने विचार किया है कि प्रत्येक न्यायवाक्य-'क्रम' अपने-अपने खास लक्ष्य की सिद्धि करते हैं—यह कहाँ तक ठीक है।

निम्न बातों के लिए कौन 'क्रम' अधिक उपयोगी है—(क) प्रतिवादी के निष्कर्ष का खण्डन करने के लिए, (ख) किसी निषेधात्मक निष्कर्ष की स्थापना के लिए, (ग) सामान्य निष्कर्ष सिद्ध करने के लिए ?

(७३) पहले 'क्रम' में 'ओ'-'ओ'-'आ', तीसरे 'क्रम' में 'आ'-'ए'-'ई', और चौथे 'क्रम' में 'आ'-'ई'-'ई' संयोग क्यों असिद्ध होते हैं ?

(७४) निम्न अवस्थाओं में किसी न्यायवाक्य के विषय में क्या निश्चय किया जा सकता है—(क) यदि एक ही पद एक ही बार सर्वांगी हो, (ख) यदि एक ही पद दो बार सर्वांगी हो, (ग) यदि केवल दो पद, एक-एक बार, सर्वांगी हों ?

(७५) 'शुद्ध-हेतुफलाश्रित न्यायवाक्य' से क्या समझते हैं ? उसकी शुद्धि-अशुद्धि की परीक्षा कैसे की जाती है ? वास्तविक उदाहरण दे कर समझाइए, और उसे 'निरपेक्ष' रूप में ले आवें।

(७६) न्यायवाक्य की परीक्षा करने की कौन-कौन सी विधियाँ हैं ? 'रूपान्तर-करण' की विधि क्या है ? उदाहरण दे कर समझाइए।

(७७) 'ए'-'आ'-'ओ', 'ए'-'आ-'ए', 'ओ'-'आ'-'ओ', और 'आ' 'ए'-'ए'—इन न्यायवाक्यों के वास्तविक उदाहरण उन क्रमों में दीजिए जिनमें ये सिद्ध होते हैं, और उन्हें पहले क्रम में ले आइए।

(७८) न्यायवाक्य के साधारण नियमों से इनकी सिद्धि कीजिए—

(i) यदि 'उद्देशवाक्य' निषेधात्मक हो, तो हेतुपद केवल एक बार सर्वांगी होता है।

(ii) चौथे 'क्रम' में कोई आधारवाक्य विशेष-निषेधात्मक नहीं हो सकता है, और न निष्कर्ष सामान्य विधानात्मक हो सकता है।

(72) Explain—'Logicians have thought that each figure was best suited for certain special purposes.' Which figure is most convenient (*a*) for overthrowing an adversary's conclusion; (*b*) for establishing a negative conclusion, (*c*) for proving a universal conclusion?

(73) Wherefore is OAO invalid in Fig. I, AEI in Fig. III and AII in Fig. IV?

(74) What can be determined respecting a Syllogism under each of the conditions—

(*a*) When only one term is distributed, and that only once;

(*b*) When only one term is distributed, and that twice;

(*c*) When two terms only are distributed, each only once?

(75) What is a Pure Hypothetical Syllogism? How do you test it? Give concrete examples, and reduce it to the Categorical form.

(76) What are the different methods of testing Syllogisms? Explain and illustrate the method of testing Syllogism by Reduction.

(77) Give concrete examples of EAO, EAE, OAO and AEE in the Figures in which they are valid, and reduce them to the First Figure.

(78) Prove the following by the general syllogistic rules—

(*i*) If the minor premise be negative, the middle term is but once distributed.

(*ii*) In the Fourth Figure neither of the premises can be particular negative, nor the conclusion universal affirmative.

(iii) यदि आधारवाक्य में 'वि' विधेय हो, तो उद्देशवाक्य विधानात्मक ही होगा। और यदि आधारवाक्य में 'उ' विधेय हो तो निष्कर्ष सामान्य विधानात्मक नहीं हो सकता।

(iv) सिद्ध न्यायवाक्य-संयोग में यदि 'हे' दो बार सर्वांगी हो, तो उसके दोनों आधारवाक्य सामान्य होंगे, और निष्कर्ष विशेष होगा।

(v) निषेधात्मक 'संयोग' में, विधेयवाक्य विशेष-विधि नहीं हो सकता।

(vi) जिस न्यायवाक्य का उद्देशवाक्य सामान्य-निषेधात्मक है उसका निष्कर्ष भी (यदि 'संयोग' 'मंद' न हो) वैसा ही होगा।

(vii) यदि उद्देशवाक्य में 'उ' विधेय हो, और विधेयवाक्य में 'वि' उद्देश हो, तो निष्कर्ष सामान्य-विधि नहीं हो सकता।

(viii) पहले 'क्रम' में, निष्कर्ष का 'गुण' विधेयवाक्य के अनुकूल होगा, और 'अंश' उद्देशवाक्य के।

(ix) यदि एक भी आधारवाक्य विशेष हो, तो 'हे' दो बार सर्वांगी नहीं हो सकता।

(x) केवल तीसरे क्रम में ही, 'ओ' विधेयवाक्य हो सकता है, और, केवल दूसरे 'क्रम' में ही वह उद्देशवाक्य हो सकता है।

(xi) निष्कर्ष से कम से कम एक 'पद' अधिक आधारवाक्यों में अवश्य सर्वांगी होना है।

(xii) निष्कर्ष में जितने पद सर्वांगी हों उससे दो से अधिक पद आधारवाक्यों में सर्वांगी नहीं हो सकते।

(xiii) आधारवाक्यों में 'सर्वांगी' पदों की संख्या निष्कर्ष में वैसे पदों की संख्या से एक से अधिक नहीं हो सकती।

(*iii*) When the major term is predicate in its premise, the minor premise must be affirmative; also when the minor term is predicate in its premise, the conclusion cannot be universal affirmative.

(*iv*) If the middle term be twice distributed in useful Moods, the syllogism has universal premises and particular conclusion.

(*v*) In a negative Mood, the major premise cannot be particular affirmative.

(*vi*) In a syllogism with the minor premise universal negative, the conclusion (unless weakened) must also be the same.

(*vii*) The conclusion cannot be universal affirmative, when the minor term is predicate in the minor premise and the major term subject in the major.

(*viii*) In the First Figure the conclusion must have the quality of the major and the quantity of the minor premise.

(*ix*) The middle term cannot be distributed twice when a premise is particular.

(*x*) An O proposition can be the major premise only in the Third Figure, and the minor premise only in the Second.

(*xi*) There must be at least one more term distributed in the premises than in the conclusion.

(*xii*) The number of distributed terms in the premises cannot exceed those in the conclusion by more than two.

(*xiii*) The number of undistributed terms in the premises cannot exceed those in the conclusion by more than one.

(xiv) यदि उद्देगवाक्य निषेधात्मक हो, तो विधेयवाक्य अवश्यमेव सामान्य होगा, और यदि विधेयवाक्य विशेष हो तो उद्देगवाक्य अवश्य-मेव निषेधात्मक होगा।

(७९) हेतुफलाश्रित-निरपेक्ष न्यायवाक्य के मूल नियम क्या है? उन्हें प्रमाणित कीजिए। उनके उल्लघन से क्या दोष उत्पन्न होते है? वे दोष निरपेक्ष-न्यायवाक्य के किन दोषो के समकक्ष हैं? उदाहरण दे कर समझाइए।

(८०) 'विधायक' और 'विघातक' हेतुफलाश्रित-निरपेक्ष न्याय-वाक्य क्या हैं? वास्तविक उदाहरण दे कर समझाइए।

(८१) वैकल्पिक-निरपेक्ष न्यायवाक्य के स्वरूप की व्याख्या कीजिए। उसके भिन्न रूपो को दिखाइए, तथा उनके नियमो को सकारण समझाइए।

(८२) 'मेण्डक-प्रयोग' क्या है? इसके कितने रूप होते है? उदाहरण दे कर स्पष्ट समझाइए।

(८३) 'मेण्डक-प्रयोग' की शुद्धि के लिए रूप-विषयक और विषय-विषयक किन-किन बातो की पूर्ति होनी चाहिए, उल्लेख कर के समझाइए।

(८४) गलत 'मेण्डक-प्रयोग' को किन विधियो से परास्त कर सकते है? इसी सिलसिले मे बताइए कि 'प्रत्याख्यानविधि' क्या है। एक वास्तविक उदाहरण ले कर उसका प्रात्याख्यान कीजिए।

(८५) क्या मिश्र-न्यायवाक्य अनन्तरानुमान के रूप कहे जा सकते हैं? पूर्ण विवेचन कीजिए।

(८६) 'सक्षिप्त-न्यायवाक्य' क्या है? 'सक्षिप्त-न्यायवाक्य के रूप' मे आप क्या समझते हैं? उन रूपो को स्पष्ट दिखाइए।

(८७) 'युक्ति-माला' क्या है? 'उपकारक' और 'उपकृत' न्याय-वाक्य मे क्या अन्तर है? 'उपकारक-गामी' और 'उपकृत-गामी' युक्ति-मालाओ के अन्तर को समझाइए?

(*xiv*) A negative minor premise necessitates a universal major, and a particular major premise precludes a negative minor.

(79) Prove the rules of inference applicable to Hypothetical Categorical Syllogisms. What fallacies arise from this violation? To what Categorical fallacies do they correspond? Illustrate your answers

(80) Explain and illustrate the Modus Ponens and Modus Tollens of Hypothetical Categorical Syllogism.

(81) Explain the nature of Disjuctive Categorical Syllogisms. Exhibit their different forms, giving their rules, and the reason for them.

(82) Explain and illustrate the nature of Dilemmatic argument, what are its various forms?

(83) State and explain the formal and material conditions of a valid Dilemma.

(84) What are the different ways of refuting a faulty Dilemma? Fully explain in this connection what do you mean by 'Rebutting a Dilemma'. Take a concrete example of the Dilemma and rebut it.

(85) Are mixed syllogism forms of Immediate Inference? Discuss.

(86) What is an Enthymeme? What do you mean by the Order of an Enthymeme? What are the different orders?

(87) What is meant by a Train of Syllogistic Reasoning? Distinguish between a Prosyllogism and an Episyllogism, and between a Prosyllogistic Train and an Episyllogistic Train.

(88) What is a Sorites? Exhibit the different kinds of Sorites, and give a concrete example of each.

(89) What is an Epicheirema? Explain the different forms of Epicheirema, illustrating your answer by examples.

(90) In what does Logical Inference consist? Is the syllogism a form of Logical Inference?

(91) "The charge against the Syllogism that it involves the 'petitio principii' is founded on a misunderstanding" Discuss

(92) 'All inference is from particulars to particulars.' Test this statement.

अनुक्रमणी

(काले अक्षरों में छपे शब्द व्यक्तिवाचक संज्ञायें हैं)

वैकल्पिक । ९३, ९७, १००